

मुद्रा (कार) नाटकम्

१६१



015,2D86,1 9282
15263
विशारवदत्त

व
५

7284

[illegible]

समक्ष भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी ।



१०८

१०८

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१९६३
भवन वेद वेदांग विद्यालय
ग्रन्थावली
भाग्य कर्मांक
महाकवि श्री विशाखदत्तकृतं १७५
मुद्राराक्षस-नाटकम्

‘शशिकला’ संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

डॉ. सत्यव्रत सिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

संस्कृतविभागाध्यक्ष : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,

भू० पू० उपकुलपति : संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : चतुर्थ, वि० संवत् २०३०

मूल्य :



OL5, 2.D86, 1
152.L3

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन

पो०ब्रा० न, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

❀ सुमुख भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
वाराणसी ।
आगत क्रमांक... 1245
दिनांक... 14/6

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

THE
HARIDAS SANSKRIT SERIES
246

THE
MUDRĀRĀKSASA

OF
ŚRĪ VIŚĀKHA DATTA

Edited With—

The ŚĀSIKALĀ

Sanskrit & Hindi Commentaries,

BY

Dr. SATYAVRATA SINGH, M. A., PH. D. D. Litt.

Professor and Head of Department of Sanskrit, Lucknow University

Ex. V. C. Sanskrit University, Varanasi.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1 (India)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

1973

नम्र निवेदन

पाठक महानुभाव !

यदि आप लेखक की कतिपय धारणाओं से सहमत हैं तो लेखक आपका आभार मानता है और यदि किसी प्रकार असहमत हैं तो इन धारणाओं की परीक्षा की ओर लेखक आपका ध्यान आकृष्ट करने का साग्रह अनुनय करता है। लेखक की धारणाएँ निम्नलिखित हैं :—

- (१) मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं अपितु कूटनीतिज्ञ 'चाणक्य' है।
- (२) मुद्राराक्षस की वस्तु-रचना में 'पताका' और 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक वृत्तों का कोई स्थान नहीं है।
- (३) मुद्राराक्षस में नाटकीय चरित्विश्लेषण नायक चाणक्य के चरित-विकास की दृष्टि से ही किया गया है।
- (४) मुद्राराक्षस का रस-भाव नायक चाणक्य की राजनीतिक महत्वाकांक्षा के महाभाव से अनुरंजित है।
- (५) मुद्राराक्षस के वाक्यों का यथासंभव 'वाचिकाभिनय' की दृष्टि से ही किसी भी भाषा में अनुवाद अपेक्षित है।



समर्पणम्

शीतातपयोरद्वय !

जय जय जय सुमानुष ! प्रथित !

स्वीकुरु किमपि तवेदं,

किञ्चिद्वा भवतु भवतु वाऽभ्यधिकम् ।

सत्यव्रतस्य



प्राक्थन

(चतुर्थ संस्करण)

संस्कृत के महाकवि विशाखदत्त की कृति 'मुद्राराक्षस' का यह संस्करण चतुर्थ संस्करण के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस संस्करण में पिछले संस्करणों के समस्त उपादेय अंश समन्वित हैं और साथ ही साथ समय-समय पर संस्कृत के विद्वानों और विद्यार्थियों से मिले सुझावों के अनुसार परिवर्तन और परिवर्धन भी सम्मिलित हैं। आरम्भ से अन्त तक नाटक के हिन्दी-अनुवाद में जो आमूल परिवर्तन हुए हैं वे सुबोधता की दृष्टि से आवश्यक समझ कर किये गये हैं। आशा है संस्कृतप्रेमी संस्कृत के विद्यार्थी 'मुद्राराक्षस' के इस चतुर्थ संस्करण को पहले संस्करणों की अपेक्षा अधिक रुचिकर और लाभकारी पावेंगे। संस्कृत के विद्वानों को भी इस संस्करण से विशेष संतोष होगा क्योंकि उन्हीं के सुझावों की दृष्टि से यह परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

रामनवमी, सं० २०३०

सत्यव्रत सिंह



समालोचनात्मक परिचय

१. मुद्राराक्षस-नाटक

संस्कृत के नाटक साहित्य में 'मुद्राराक्षस' का नाम नहीं भूला जा सकता। इस नाटक की अपनी प्राण-शक्ति इतनी प्रबल है कि संस्कृत नाटकों में सबसे अलग रहते हुये भी यह अब तक बचता चला आ रहा है और अब तो इसकी उपेक्षा कभी हो ही नहीं सकती। संस्कृत के नाटकों में 'मुद्राराक्षस' की स्वतन्त्र सत्ता आज सभी मान रहे हैं। संस्कृत में बड़े-बड़े नाटककार हो चुके हैं—भास, शूद्रक और कालिदास। किन्तु इनके नाटकों ने 'मुद्राराक्षस' को प्रभावित नहीं किया। मुद्राराक्षस की जो विशेषतायें हैं वे उसकी अपनी हैं और ऐसी हैं जिनका अनुकरण अथवा अनुसरण संस्कृत के परवर्ती नाटककारों के सामर्थ्य के परे रहा है।

'मुद्राराक्षस' की सबसे पहली विशेषता यह है कि इसका नाटककार नाट्य-शास्त्र का प्रगाढ ज्ञाता होते हुये भी नाट्य-रचना की प्राचीन परम्परा का अचरशः अनुकरण नहीं करता अपितु उस पर अपनी वैयक्तिक नाट्यप्रतिभा की छाप छोड़ जाता है। भास, शूद्रक और कालिदास के नाटक नाटक-रचना के नियमों के दृष्टान्त-रूप में नहीं लिखे गये। 'मुद्राराक्षस' की रचना भी सन्धि-सन्ध्यङ्ग घटना के कौतुक की शान्ति के लिये नहीं हुई। पुरानी रूढ़ि के अनुसार नाटक का नायक ख्यातवंशोद्भव राजा हुआ करता था। इस नाटक का नायक ऐसा व्यक्ति है जो राजा अथवा राजवंश का न होकर भी, भारतीय इतिहास के सर्वप्रथम सर्व-प्रसिद्ध सम्राट् का निर्माता और उसके वंश के साम्राज्य का संस्थापक है। प्राचीन प्रथा के अनुसार वीर-रस का उद्रेक युद्धवीर अथवा दानवीर अथवा धर्मवीर महापुरुषों के चरित-चित्रण के द्वारा ही संभव माना गया है किन्तु इस नाटक का वीर-रस संग्राम की भूमि में नहीं अपितु बड़े-बड़े संग्रामों को जन्म देनेवाली राजनीतिज्ञों की राजनीति-प्रतिभा में जन्म लेता है। पुरानी प्रणाली रामायण, महाभारत अथवा पुराणों के महनीय चरितों को नाटकों के इतिवृत्त-निर्माण के लिये उपयुक्त मानती रही है किन्तु इस नाटक का इतिवृत्त, जैसा कि इतिहास-विदों ने आज सिद्ध कर दिया है, भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की घटना अर्थात् मौर्य साम्राज्य की स्थापना और प्राणप्रतिष्ठा पर अवलम्बित है।

इस नाटककी दूसरी विशेषता इसके इतिवृत्त अथवा प्लॉट की रचना है। जिस प्रकार कोई परमकुशल वास्तु-कलाकार एक ऐसा भव्य भवन बना दे जिसमें उसके प्रत्येक साधन एक सुन्दर किंवा सुसुचिपूर्ण अनुपात में हुये देखे जा सकें, उसी प्रकार इस नाटक का रचयिता एक ऐसा कुशल नाट्यकलाकार है जिसने नाना प्रकार की घटनाओं से सम्बद्ध एक ऐसी इतिवृत्त-रचना कर दिखाई है जिसमें प्रत्येक घटनायें मुख्य वृत्त से निकलती और उसी में अन्त होती हुई दिखाई देती हैं। 'मुद्राराक्षस' नाटक के इतिवृत्त-संस्थान की बराबरी संभवतः संस्कृत के किसी भी नाटक का इतिवृत्त-संस्थान नहीं कर सकता। और नाटकों में 'इतिवृत्त' का अस्तित्व चरित से स्वतन्त्र भी रहता है। उदाहरण के लिये 'उत्तररामचरित' का इतिवृत्त भवभूति के द्वारा चित्रित राम के चरित से पृथक् भी अवस्थित है किन्तु 'मुद्राराक्षस' का 'इतिवृत्त' उसके प्रमुख चरित की प्रेरणा से जन्म लेता तथा जीवित-जागृत खड़ा दिखाई देता है। कुछ विद्वानों ने 'मृच्छकटिक' को इतिवृत्त-रचना की दृष्टि से आदर्श माना है और 'मुद्राराक्षस' को इस आदर्श का सर्वप्रथम पालन करने वाला बताया है। वस्तुतः बात ऐसी ही है क्योंकि 'मुद्राराक्षस' का रचयिता 'मृच्छकटिक' के रचयिता की इतिवृत्त-कला से पूर्णतया प्रभावित है। संस्कृत के रूपकसाहित्य में 'मृच्छकटिक' के बाद 'मुद्राराक्षस' की ही इतिवृत्त-योजना ऐसी है जिसमें वृत्त-बाहुल्य होते हुये भी संश्लिष्ट इतिवृत्त का सुन्दर विन्यास है।

चरित-चित्रण की विशदता, असंकीर्णता, प्रभावोत्पादकता तथा महाप्राणता इत्यादि इस नाटक की तीसरी विशेषता है। अन्य नाटकों में विविध चरित, नायक के चरित के मुखापेक्षी रूप से चित्रित किये गये हैं किन्तु इस नाटक में प्रत्येक चरित एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और यदि वह नायक से प्रभावित होता है तो साथ ही साथ नायक भी इसके द्वारा प्रभावित प्रतीत होता है। 'मुद्राराक्षस' के चरित-चित्रण में आदर्श और यथार्थ की सीमायें परस्पर मिली हुई हैं। मानव-जीवन का लोक में जो स्वरूप है वही मुद्राराक्षस के नाट्य-जगत में अंकित और उन्मीलित है। नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुये भी नाटककार विशाखदत्त ने ऐसे चरित की उद्भावना की है जो साधारण होते हुये भी विशिष्ट है, देशकाल से परिच्छिन्न होते हुये भी व्यापक है, नाटकीय होते हुये भी वास्तविक है और यथार्थ होते हुये भी आदर्श है।

रस-भाव की अभिव्यक्ति की नयी धारा इस नाटक की चौथी विशेषता है। नाटककार का व्यक्तित्व अद्यपि कहीं भी सामने नहीं दीख पड़ता किन्तु चित्रित व्यक्तियों की झलक में इसकी झँकी दिखाई दे जाती है। कुछ लोगों का यह

कहना है कि—स्त्री-जाति के प्रति इस नाटककार की दुर्भावना प्रतीत होती है क्योंकि इस नाटक में न तो कोई 'नायिका' है और न स्त्री जाति के प्रति किसी प्रकार की सद्भावना प्रकाशित है किन्तु यह बात ठीक नहीं लगती क्योंकि यह नाटक जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का नाटक है जिनमें प्रेम की भावनायें कर्त्तव्य की भावना के आगे आत्म-समर्पण किया करती हैं और वैयक्तिक मायाममता समष्टि-हित के लिये आत्मबलिदान कर चुकी होती है। चाणक्य के समान नायक और राक्षस के समान प्रतिनायक कामिनी और काञ्चन के लिए आपस में नहीं झगड़ा करते उनका झगड़ा महान आदर्शों के लिए होता है जिनकी रक्षा में जीत-हार का उतना महत्त्व नहीं जितना कर्त्तव्य-निर्वाह का है। चाणक्य और राक्षस के चरित का परस्पर तुलनात्मक चित्रण करते हुए नाटककार ने जिस राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का सुन्दर अभिव्यञ्जन किया है उसमें हमारे देश और जाती के प्राचीन जीवन की झलक मिलती है।

'मुद्राराक्षस' की पौँचवीं विशेषता उसकी नाटकीयता है जिसे हम विशुद्ध नाटकीयता कह सकते हैं। विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' के कथनोपकथन में नाटकीय औचित्य के लिए अपनी काव्यकल्पना का बलिदान कर दिया है। बड़े-बड़े नाटककार विशाखदत्त के पूर्ववर्ती हो चुके हैं जैसे कि भास, शूद्रक, कालिदास आदि किन्तु इन बड़े-बड़े नाटककारों ने भी कहीं-कहीं अपने नाटकों में काव्य-कल्पना के लोभ का संवरण नहीं किया है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस ही एक ऐसा नाटक है जो सर्वात्मना नाटक प्रतीत होता है।

इस नाटक की छठी विशेषता इसके मुख्य विषय की है जो अन्य किसी भी नाटक में नहीं दिखायी देती। राजनीति शास्त्र के प्रगाढ़ पाण्डित्य से ही कोई नाटककार राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को अपने नाटक का विषय नहीं बना सकता। मुद्राराक्षस में राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा नाटककार विशाखदत्त के वैयक्तिक जीवन की वस्तु है जिसके कारण इतनी सफलता से इसका नाटकीय अभिव्यञ्जन हो सका है। नाटककार के पूर्ववर्ती महाकवि भास के नाटक 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में भी कुछ राजनीति के छोटे-मोटे दावपेंच हैं किन्तु इनका केन्द्र अन्तःपुर का विलासमय जीवन है। मुद्राराक्षस में अन्तःपुर के जीवन का चित्रण नहीं अपि तु एक सुव्यवस्थित साम्राज्य के निर्माण का चित्रण है।

इस नाटक की सूक्तियों का इसके कथनोपकथन (Dialogue) के प्रवाह में प्रवाहित होना भी इस नाटक की एक अपनी विशेषता है जो अन्यत्र सम्भवतः नहीं दिखाई देती। भास, शूद्रक और कालिदास के नाटकों की कतिपय सूक्तियाँ आप का ध्यान भले ही अपनी ओर आकृष्ट कर लें और आप उन्हें अपने स्मृति-

पटल पर अंकित कर लें किन्तु इस नाटक की सूक्तियाँ नाटकके साथ इस प्रकार संबद्ध हैं इस प्रकार अपृथक्सिद्ध रूपसे संश्लिष्ट हैं कि आप इन्हें इससे पृथक् करके नहीं देख सकते ।

इस नाटक में 'नाट्यधर्मी' की रञ्जकता की अपेक्षा 'लोकधर्मी' की वास्तविकता का विशेष महत्त्व है जो इसकी एक और ही विशेषता है । कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अभिनय बहुत पहुँचे हुए सहृदय सामाजिकों का मनोरञ्जन कर सकता है किन्तु 'मुद्राराक्षस' साधारण जन-समाज को भी अपने अभिनय से आनन्दित करने में समर्थ है । कालिदास के नाटकों का रंगमंच एक विशेष रंगमंच होगा किन्तु 'मुद्राराक्षस' अपना रंगमञ्च सर्वत्र पा सकता है ।

मुद्राराक्षस की वाक्य-रचना शैली, चाहे वह गद्य की हो अथवा पद्य की, न तो हमारे कानों में संगीत सी लगती है और न हमारी आँखों में चित्र सी झलकती है, प्रत्युत ऐसी प्रतीत होती है मानो वह हमारी ही शैली हो और भिन्न-भिन्न भावावेशों में हमारे ही व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना हो ।

इस नाटक का नाटककार अपने नाट्य-जगत् के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े व्यक्ति को समान स्नेहभाव से देखता है और निष्पक्ष हृदय से मानता है । इस नाटक का नायक जितना महान् है प्रतिनायक उससे कम नहीं, नायक की अन्तिम विजय में यदि नाटककार फूला नहीं समाता तो प्रतिनायक की हार भी उसे कम दुःखित नहीं करती ।

इस नाटक ने भारतीय इतिहास के साम्राज्ययुग और उसके आदर्शों का जो सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत किया है उसी के आधार पर ऐतिहासिकों की ऐसी धारणायें बनी हैं जैसी श्री विन्सेंटस्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'Asoka' (पृष्ठ १०४) में प्रकट की है—

'The conception of an Indian Empire extending from sea to sea and embracing almost to whole of India and Afghanistan was formed and carried into effect by Chandragupta and his minister in the brief space of twenty-four years. History can show few greater political achievements. Not only was the empire formed, but it was so thoroughly organized that the sovereign's commands emanating from Pataliputra were obeyed without demur on the banks of the Indus and the shores of the Arabian sea. The immense heritage thus created by the genius of the first emperor of India was transmitted intact to his son and grandson'.

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में 'आ समुद्रक्षितिशानामानाकरथ-वर्धनाम्' के रूप में भारतीय साम्राज्यवाद का सुनहला चित्र खींचा है किन्तु ऐतिहासिकता की कसौटी पर सुद्राराक्षस की यह एक भारतराष्ट्र-भावना ही खरी निकलती है—

‘आ शैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीताद्,

आ तीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य ।

आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां

चूडारःनांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥’

(सुद्राराक्षस-३।१९)

२. विशाखदत्त-नाटककार

‘सुद्राराक्षस’ के नाटककार विशाखदत्त हैं—इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिकों का मतभेद नहीं है। किन्तु यह किस युग की कृति है? इस प्रश्न का अभी तक समाधान नहीं हुआ है। सुद्राराक्षस के नाटककार ने अपना जो संक्षिप्त परिचय नाटक की प्रस्तावना में दिया है उससे केवल इतना ही पता चलता है कि इनके पिता कौन थे और पितामह कौन। नाटक की प्रस्तावना के अनुसार पिता का नाम ‘महाराज पृथु’ अथवा नाटक के कुछ संस्करणों के अनुसार ‘महाराज भास्करदत्त’ हैं और पितामह का नाम ‘सामन्त वटेश्वरदत्त’ है किन्तु विशाखदत्त केवल नाटककार थे या कवि थे या किसी राजतन्त्र के संचालक थे इसका संकेत स्पष्टरूप से नहीं किया गया है। वस्तुतः भास और कालिदास जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व के परिचय के सम्बन्ध में उदासीन दिखाई देते हैं उसी प्रकार विशाखदत्त भी। नाटक बड़ा होता है नाटककार नहीं—संभवतः यही प्राचीन धारणा रह चुकी है और इसी धारणा से विशाखदत्त भी पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होते हैं। विशाखदत्त का यह नाटक ही इनका व्यक्तित्व है और यही इनके व्यक्तित्व की अमरता की निशानी भी है।

(क) काल-निर्णय—

संस्कृत के नाटक-साहित्य का ऐतिहासिक काल-क्रम-निर्धारण करनेवाले विद्वानों ने विशाखदत्त के कार्य-काल के सम्बन्ध में जो कतिपय कल्पनाएँ की हैं उनका संक्षिप्त संकेत यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सबसे पहली बात यह है कि प्राचीन भारत की उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में महाराज पृथु (अथवा भास्करदत्त) अथवा सामन्त वटेश्वरदत्त के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने ‘विशाखदत्त’ के नाम के आगे ‘दत्त’

शब्द और साथ ही साथ 'सामन्त वटेश्वरदत्त' के नाम के आगे भी 'दत्त' शब्द देखकर यह विचार प्रकट किया है कि इनका वंश 'दत्त-वंश' था किन्तु इसका भी कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता ।

इस नाटककार के काल-निर्णय से सम्बद्ध सभी कल्पनायें नाटक के इस 'भरत-वाक्य' पर केन्द्रित हैं :—

‘वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग् दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुनामाश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमदनुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥

(मुद्राराक्षस ७. १९)

अर्थात्—यहाँ जिस महाराज चन्द्रगुप्त का निर्देश है उन्हीं का समकालीन यह नाटक भी हो सकता है । किन्तु मुद्राराक्षस के सभी संस्करणों में 'पार्थिव-श्चन्द्रगुप्तः' ही पाठ नहीं मिलता अपि तु (१) 'अवन्तिवर्मा', (२) 'दन्तिवर्मा', (३) 'रन्तिवर्मा' और (४) 'रन्तवर्मा' पाठ भी मिला करता है । इन विभिन्न राजाओं के काल-भेद के कारण नाटककार का भी काल निश्चित नहीं किन्तु अनिश्चित ही बना हुआ है । इस सम्बन्ध में श्रीतेलंग ने यह निर्णय किया था कि इस नाम का कोई राजा भारतीय इतिहास के प्राचीन अथवा मध्यकालीन युग में नहीं मिलता इसलिये यह 'रन्तिवर्मा' पाठ अशुद्ध समझना चाहिये । श्री अ० रमास्वामी ने 'दन्तिवर्मा' वाले पाठ को शुद्ध मानकर यह निश्चित किया है कि नाटककार का समय ईसा की ७वीं-८वीं शताब्दी है क्योंकि पल्लव-वंश के 'दन्तिवर्मा' का राज-काल ईसा की ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का काल निकलता है । किन्तु प्रोफेसर ध्रुव ने इस पर यह संदेह प्रकट किया कि भले ही 'दन्तिवर्मा-पल्लवराज' का राज-काल ७ वीं शताब्दी हो किन्तु पल्लववंशी राजगण के शैवमतावलम्बी होने के कारण भरतवाक्य के विष्णु-अवतार-भूत राजा के साथ यहाँ संगति नहीं बैठ पाती और साथ ही साथ इतिहास इस विषय पर भी चुप है कि दन्तिवर्मा ने कोई ऐसा महान् म्लेच्छ-विनाश का कार्य किया हो जिसका नाटककार इस रूप में स्मरण करे । अन्ततोगत्वा प्रोफेसर ध्रुव का यह मत है कि श्री तेलंग के अनुसार 'अवन्तिवर्मा' पाठ ही समुचित मानना चाहिये क्योंकि 'भरतवाक्य' में 'चन्द्रगुप्त' पाठ इसलिये ठीक नहीं जँचता क्योंकि 'चन्द्रगुप्त' नाटक का एक पात्र है और भरतवाक्य का सम्बन्ध नाटककार के समकालीन किसी राजा के साथ हुआ करता है जैसा कि संस्कृत नाटकों की प्रणति रही है । श्री तेलंग ने इस भरतवाक्य के 'अवन्तिवर्मा' को कन्नौज का अवन्तिवर्मा

माना है और 'म्लेच्छ' उन हूणों को माना है जो कि गुप्तवंश की पिछली पीढ़ी के राजाओं से लड़-भिड़ रहे थे और इस दृष्टि से विशाखदत्त का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी सिद्ध किया है। किन्तु प्रोफेसर ध्रुव का मत इस सम्बन्ध में यह है :—

'मिहिरकुल' तथा 'तोरमाण' द्वारा स्थापित हूण-साम्राज्य दशपुर (आजकल का मंडसर) के संग्राम में महाराज यशोधर्मा के हाथ सन् ५२८ में नष्ट-भ्रष्ट हुआ और छोटे २ राज्यों में विभक्त हो गया जिनमें पंजाब में 'शाकल' (आजकल का स्यालकोट) राज्य और पश्चिमी राजपूताना तथा पूर्वी गुजरात में गुर्जर-राज्य प्रमुख रहे। हूणों के ये छोटे-मोटे राज्य स्थाण्वीश्वर (थानेसर) और कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राज्यों से शत्रुता रखते रहे। कन्नौज के मौखर अथवा मौखरि वंश के राजा ईशान वर्मा तथा शर्ववर्मा की इन हूणों से कई लड़ाइयाँ हुई जिनमें थानेसर के राजाओं की सैनिक सहायता से मौखरिवंशीय राजाओं ने हूणों को हराया। शाकल के हूण-वंशीय राजा लोग थानेसर के राज्य के शत्रु बन गये किन्तु महाराज प्रभाकरवर्द्धन और उनके सम्बन्धी कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ने मिलकर इन हूणों का नाश किया। महाकवि बाण-रचित हूण-विजेता प्रभाकरवर्द्धन की विजयप्रशस्ति प्रसिद्ध है और जिस 'अवन्तिवर्मा' की विजय-प्रशस्ति विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस के 'भरतवाक्य' में रची है वे महाराज प्रभाकरवर्द्धन के सम्बन्धी और उनके परम सहायक कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा हैं। हूण-विजय का समय सन् ५८२ माना है और इस प्रकार मुद्राराक्षस के नाटककार का कार्यकाल ईसा की छठी शताब्दी (५८५ ई० सन्) निकलता है।

कुछ अन्य ऐतिहासिकों ने जैसे कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में 'चन्द्रगुप्त' पाठ ही ठीक माना है और इस 'चन्द्रगुप्त' को मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त से नहीं अपितु गुप्त-वंशीय सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' से अभिन्न स्वीकार किया है जिनका राज-काल (३७५-४१३ ई० सन्) निश्चित है। अब यदि मुद्राराक्षस के 'भरतवाक्य' का चन्द्रगुप्त गुप्त-सम्राट् महापराक्रमी 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' है तो नाटककार का कार्य-काल ईसा की ४ थी शताब्दी मानना आवश्यक है। इस प्रसंग में भी सभी ऐतिहासिक एकमत नहीं हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि हूणों के आक्रमण का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज-काल से नहीं अपितु बाद की शताब्दियों से है।

इन भिन्न २ मतों का सामंजस्य तो केवल एक दृष्टि से ही कुछ थोड़ा सा है और वह यह है कि विशाखदत्त एक प्राचीन नाटककार हैं। इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि नाटक के 'भरतवाक्य' में भिन्न २ पाठों का पाया जाना

इसलिये संभव है क्योंकि कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा (६ठी शताब्दी) तथा पल्लव-राज दन्तिवर्मा (७वीं, ८वीं शताब्दी) के राज-काल में यह प्राचीन नाटक अभिनीत हो चुका होगा और अभिनय करनेवालों ने नाटककार विशाखदत्त के प्राचीन पाठ—‘पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः’ को ही ‘पार्थिवोऽवन्तिवर्मा’ अथवा ‘पार्थिवो दन्तिवर्मा’ अथवा यदि कोई छोटा-मोटा राजा रन्तिवर्मा भी रहा हो तो—‘पार्थिवो रन्तिवर्मा’ के पाठ में परिवर्तित कर सम-सामयिक राज-प्रशस्ति के रूप में प्रस्तुत किया होगा। ‘अवन्तिवर्मा’ अथवा ‘दन्तिवर्मा’ पाठ से विशाखदत्त को ६ठी शताब्दी अथवा ७वीं-८वीं शताब्दी का नाटककार मानने में कुछ आपत्तियाँ हैं जो ये हैं—

(१) मुद्राराक्षस नाटक की शैली ६ठी ८वीं शताब्दी की शैली से मेल नहीं खाती।

(२) विशाखदत्त ने यदि कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा की प्रशस्ति अपने नाटक के ‘भरत-वाक्य’ के द्वारा की और स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकर-वर्द्धन की यशोगाथा का गान महाकवि वाण ने किया तो यह बड़े आश्चर्य की बात है कि समसामयिक होते हुये भी दोनों में से किसी को किसी दूसरे का कुछ भी पता नहीं।

(३) विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक के ३ य अंक के १९ वें श्लोक—‘आ शैलेन्द्रात्’ इत्यादि में जिस भारत-साम्राज्य की भावना की अभिव्यक्ति की है उसकी वास्तविकता ६ठी-८वीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थिति में नहीं अपि तु ४थी-५वीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थिति में संभव प्रतीत होती है।

(४) मुद्राराक्षस के ७ म अंक के ६ ठे श्लोक—‘दुष्कालेऽपि’ आदि में विशाखदत्त ने चन्दनदास के शील-सौजन्य को बोधिसत्त्वों के शील-सौजन्य से बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है जो कि ६ठी ७वीं शताब्दी के भारत की धार्मिक भावनाओं से उतना संगत नहीं लगता। इसकी संगति वस्तुतः ४थी शताब्दी के गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युग की धार्मिक भावनाओं के साथ बैठती है।

निष्कर्ष यह निकल सकता है कि विशाखदत्त को ४थी-५वीं शताब्दी का नाटककार मानना अनुचित नहीं है। संस्कृत नाटक-साहित्य के इतिहास में भास, शूद्रक, कालिदास और विशाखदत्त ये चार अनुपम विभूतियाँ हैं जिनकी श्रेणी में कालांतर में भावभूति आ विरहदेवें (६ठी ७वीं शताब्दी) के युग का नाटक-साहित्य ही उन नाटककारों की कला-कृति है जिनकी कारचित्री

प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं। यह अवश्य है कि बाद में महाकवि भवभूति की कल्पना उत्तररामचरित की सृष्टि कर जाती है।

(ख) शास्त्र-वैदुष्य और वैयक्तिक प्रतिभा—

संस्कृत के कवियों और नाटककारों में शास्त्र-वैदुष्य का होना तो नियम है अपवाद नहीं। भारत की ऐसी भी कभी कोई मान्यता नहीं कि यदि कोई कवि अथवा नाटककार विद्वान् हुआ तो उसकी विद्वत्ता के अनुपात से उसकी कवि-प्रतिभा अथवा नाट्यनिर्माण-शक्ति में कोई कमी हो जाय। 'मुद्राराक्षस' का अध्ययन-मनन करने वाले विद्वानों ने विशाखदत्त के न्याय-शास्त्र-पाण्डित्य तथा नाट्य-शास्त्र-वैदुष्य का उल्लेख किया ही है। 'मुद्राराक्षस' के चतुर्थ अङ्क के ३ य श्लोक 'कार्योपक्षेपमादौ' इत्यादि आधार पर नाटककार के नाट्यशास्त्र-अभ्यास और पञ्चम अङ्क के १० म श्लोक—साध्ये निश्चितम्' इत्यादि के आधार पर न्यायशास्त्र-परिचय का वर्णन सब ने कर दिया है। विशाखदत्त का कौटिलीय अर्थशास्त्र का पाण्डित्य प्रमाण है, इसमें भी किसी को संदेह नहीं। किन्तु यह सब होने पर भी इतना अवश्य है कि शास्त्र-वैदुष्य से विशाखदत्त की वैयक्तिक प्रतिभा कुण्ठित नहीं अपितु और भी स्फूर्तिशील प्रतीत होती है। जिस प्रकार महाकवि मास और कालिदास की कला उनके शास्त्र-वैदुष्य को छिपाने में चरितार्थ हुई है उसी प्रकार विशाखदत्त की भी कला उनके शास्त्र-ज्ञान को दबाकर ही उदभूत और विकसित हुई है। विशाखदत्त ने नाट्य-शास्त्र के सम्प्रदाय के अनुसरण और अपनी वैयक्तिक नाट्यकला-प्रतिभा की स्फूर्ति के संघर्ष की जो अभिव्यञ्जना इस पंक्ति में की है—

'कर्ता वा नाटकानामिदमनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा' (मुद्राराक्षस ४।३)

उसे हम भूल नहीं सकते। विशाखदत्त को इस भावना और महाकवि भवभूति की इस भावना में जो परस्पर अन्तर है उसे हम संस्कृत-नाटक साहित्य के प्रातिभनिर्माण-युग और पाण्डित्यनिर्माण-युग का अन्तर मानें तो कोई अनुचित नहीं।

(ग) व्यक्तित्व—

नाटक के हृदय की अभिव्यक्ति यदि नाटककार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है तो यह निश्चित है कि मुद्राराक्षस में विशाखदत्त का जो व्यक्तित्व अभिव्यक्त

हुआ है उसके तीन पहलू हैं—१ला राष्ट्र-जीवन के दार्शनिक का, २सरा राजनीतिक आदर्शवादी का और ३रा मनुष्य की मनुष्यता के महाविश्वासी का। राष्ट्र-जीवन के दार्शनिक के रूप में विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' का जो सुन्दर स्वप्न देखा है उसका आधार यदि भारत के अतीत राजनीतिक जीवन का क्षणिक भी वास्तविकता रह चुकी है तो वह हमारे इतिहास का महान् गौरवमय युग रहा होगा और यदि नहीं तो भविष्य के युगों का—गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का ही सही—आदर्श तो है ही। कोई भी राष्ट्र चाहे वह राजतन्त्रात्मक हो अथवा प्रजातन्त्रात्मक हो, तभी उन्नतिशील हो सकता है जब उसके नागरिक अपने स्वार्थ के आगे अपने समाज और देश का स्वार्थ रखा करें। मुद्राराक्षस का 'चाणक्य' एक राष्ट्र की राजनीति का कर्णधार है जिसकी आत्म-त्याग की भावना राष्ट्र-हित की परीक्षा नहीं अपि तु सफलता है। मुद्राराक्षस का 'चन्द्रगुप्त' एक राष्ट्र के शासन का नियामक है जिसे जनरंजन की परतन्त्रता में ही शासक की स्वतन्त्रता के आत्मगौरव का अनुभव हुआ करता है। मुद्राराक्षस का 'राक्षस' एक ऐसा महान् राष्ट्र-पुरुष है जो राष्ट्र के लिये अपनी आत्मा का बलिदान कर देने को तैयार रहा करता है। मुद्राराक्षस के दूत, प्रणिधि, गुप्तचर और अन्यान्य व्यक्ति जिस कर्तव्य-भावना से प्रेरित दिखाई देते हैं उसे किसी भी राष्ट्र के योग-क्षेम का नियामक माना जा सकता है।

राजनीतिक आदर्शवादिता तो विशाखदत्त के व्यक्तित्व की केन्द्र-शक्ति है। कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति सामयिक हो सकती है किन्तु मुद्राराक्षस की राजनीति एक राजनीतिक स्वप्न है। आज हम विश्व की राजनीति के महान् कर्णधारों को जिसलिये चिन्तित देख रहे हैं वह है राष्ट्र के नायकों और उन्नायकों का 'हृदय-परिवर्तन'। राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिये उसके छोटे और बड़े, शासित और शासक सब का हृदय-परिवर्तन आवश्यक है—यह स्वप्न जिसे आज विश्व-राष्ट्र की भावना से भरे लोग देखना चाहते हैं उसे विशाखदत्त ने शताब्दियों पूर्व देखा है और हृदय की प्रबल आशा के साथ चित्रित किया है। चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, मित्र-मित्र, राजनीतिक आदर्शों के मोनने वाले हैं किन्तु अन्त में सबका हृदय-परिवर्तन होता है और इसलिये

होता है जिसमें राष्ट्र-जीवन का विनाश न हो और राष्ट्र अमर रहे ।

संस्कृत के नाटककारों में और सम्भवतः संसार के नाट्यकारों में भी विशाखदत्त को हम इसलिये भी स्मरण करते रहेंगे क्योंकि इसने मनुष्य की मनुष्यता में महाविश्वास किया है । राक्षस की जीवन-वारा का अन्त में सर्वथा परिवर्तित रूप में प्रवाहित होने की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना नाटककार की मनुष्य की मनुष्यता में महाविश्वास की भावना है ।

(घ) अन्य कृतियाँ —

विशाखदत्त की अन्तिम अमरकृति 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त एक और भी प्राथमिक 'कृति' है जिसका अस्तित्व केवल नाट्यदर्पण और शृङ्गारप्रकाश के उद्धरणों में ही सुरक्षित है । यह कृति है—'देवीचन्द्रगुप्तम्' इसके नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह भी एक नाटक है जिसका इतिवृत्त राजनीतिक है और चरितचित्रण भी राजनीति के दावपेंच वालों का है और रस ? उसे तो राजनीति उत्साह के महाभाव का निष्पन्न होना ही चाहिये । नाट्यदर्पण में 'नैष्कामिकी ध्रुवा' के उदाहरण के रूप में 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के पाँचवें अङ्क का जो प्राकृत श्लोक—

'एसो सिअकरसत्यप्पणासि आसेसवेरितिभिरोहो ।

णिअविहवण सन्धो गअणं गहलङ्घिओ विसइ ॥'

उद्धृत है, उसे देखते यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कृति विशाखदत्त की नाट्य-रचना के कौमार्य की अभिव्यक्ति है क्योंकि इसमें नाट्याचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ध्रुवागान' का भी आयोजन है जो मुद्राराक्षस की वृत्त-चरित-रसभावामिव्यक्ति की तीव्रगति में सम्भव नहीं । यह नाटक भी ७ अङ्कों का ही रहा होगा । इसमें विदूषक, नायिका इत्यादि पात्र रहे होंगे जिनका मुद्राराक्षस में कोई स्थान नहीं क्योंकि कोई प्रयोजन नहीं ।

इसके अतिरिक्त प्रोफेसर ध्रुव ने सदुक्तिकर्णामृत में विशाखदत्त के नाम से उद्धृत —

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैर्यतः प्रसिद्धिं परा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मस्मद्वाग्यविययाद् यदि परं देवो न जानाति तम् ।

चन्वीचंष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहत-
 ओशीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णः स्वरैः ससभिः॥'

इस श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि विशाखदत्त का रामचरित-सम्बन्धी कोई अन्य भी नाटक होगा किन्तु यह केवल अनुमान है और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी रचना विशाखदत्त की मनोवृत्ति से संगत होने की अपेक्षा असंगत ही अधिक है।

३. नाटक का नाम-सार्थक्य

नाटककार ने अपने इस नाटक का नाम 'मुद्राराक्षसम्' (मुद्राराक्षस) रखा है। इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'मुद्रयाया गृहीतं राक्षस-समधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, मुद्राराक्षसम्' अर्थात् मुद्रा-अङ्गुलीयक मुद्रा से राक्षस के निग्रह के सम्बन्ध में एक-रूपक ग्रन्थ। यहाँ पाणिनि के सूत्र 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' के द्वारा अणु प्रत्यय और अणुप्रत्ययान्त पद होने के कारण 'यद्यद्वयमण्युज्छाश्च' इस नपुंसकलिङ्गानुशासन के अनुसार नपुंसकान्त होने से 'मुद्राराक्षसम्' यह पद निष्पन्न हुआ। यह सब तो ठीक है किन्तु नाटककार ने ऐसा नाम क्यों चुना? सबसे पहले तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' और महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक के नाम ने विशाखदत्त की कल्पना को अपने नाटक के नामकरण के लिये प्रेरित किया है। 'मृच्छकटिक' नाटक का नायक चारुदत्त है किन्तु इसके चरित्र-चित्रण में, 'मृच्छकट'—मिट्टी की गाड़ी की जो घटना है उसका एक विशेष महत्व है क्योंकि इसी घटना के वर्णन के द्वारा नाटककार ने चारुदत्त का पूर्वापर चरित परस्पर संश्लिष्टरूप से चित्रित किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी 'अभिज्ञान'—लंगूटी की पहचान से शाकुन्तला की पहचान की घटना अपना महत्त्व रखती है और यही वह घटना है जो इसके नायक दुष्यन्त के पूर्वापर चरित का समन्वय करती है। मुद्राराक्षस में भी मुद्रा के द्वारा 'राक्षस के निग्रह' की घटना एक ऐसी घटना है जिस पर इस नाटक के नायक चाणक्य की समस्त कूटनीति केन्द्रित होती हुई प्रतीत होती है। संस्कृत नाटकों के नामकरण में नाटककारों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ कायं

करती दिखायी देती हैं। कभी तो नायक और नायिका के सम्मिलित नाम पर नाटक का नाम रखना, कभी नायक और उसके चरित की किसी विशेषता की दृष्टि से नाटक का नाम-निरूपण, कभी किसी नाटकान्तर्गत छोटी किन्तु महत्वपूर्ण घटना के कारण नाटक का नाम-करण-इत्यादि कई ऐसी दृष्टियाँ हैं जिन्हें नाटककारों ने अपने नाटकों के नाम-करण में अपने सामने रखा है। इन सबका एकमात्र प्रयोजन वैचित्र्य और सौन्दर्य की भावनाओं का ही सामाजिकों के हृदय में आधान करना रहा है। हम उस समय की यदि कल्पना करें जब कि सर्वप्रथम 'मुद्राराक्षस' इसके नाटककार के ही युग में रङ्गमञ्च पर लाया गया होगा तब इसमें सन्देह नहीं कि इसके अभिनय-दर्शन के बाद सामाजिकों ने इसके नाम सार्थक्य की मन ही मन बहुत ही प्रशंसा की होगी।

अन्य समस्त वस्तुओं के नाम के जो पद हैं वे तो 'यदृच्छा-पद' ही हुआ करते हैं क्योंकि इनका उन-उन वस्तुओं के व्यक्तित्व अथवा वैशिष्ट्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता। भिन्न-भिन्न नाम तो इसीलिये भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रखे जाते हैं और रखने पड़ते हैं जिससे उनका परस्पर भेद प्रतीत हुआ करे और भाषा के शब्दों का विषय-विभाग भी ठीक-ठीक रहा करे। किन्तु ग्रन्थकारों को अपने ग्रन्थों के नाम इस दृष्टि से रखने पड़ते हैं जिससे उनकी प्रमुख अथवा धानुषङ्गिक विशेषता के साथ उनके नाम भी समझ-सङ्गत हो सके। इस दृष्टि से इस नाटक का 'मुद्राराक्षस' यह नाम सर्वथा सार्थक और सुस्निग्धपूर्ण है।

४. नाटक का मुख्य-विषय

आद्योपान्त इस नाटक में जिस विषय की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना की गयी है वह यह है—

कोई भी साम्राज्य, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, स्थिर नहीं रह सकता यदि उसके सञ्चालन में प्रभु-शक्ति का ही हाथ हो। शक्ति के एक हाथ में केन्द्रित हो जाने पर उसमें सञ्चालन-समस्या का हो जाना स्वाभाविक है और ऐसा हो जाने पर प्रजा-विक्षोभ अथवा प्रजा-विद्रोह रोकना

नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद तो तभी फूला-फला रह सकता है जब प्रभुशक्ति पर मन्त्रशक्ति की सत्कं दृष्टि बनी रहे और मन्त्रशक्ति पर प्रभुशक्ति की आस्था। नन्द-साम्राज्य प्रभुशक्ति की उद्दण्डता से नष्ट हुआ और मौर्य साम्राज्य मन्त्रशक्ति के साथ पैर मिला कर चलने वाली प्रभुशक्ति के हाथों प्रतिष्ठित किया गया।

साम्राज्यवाद का भविष्य अनियन्त्रित प्रभुशक्ति पर नहीं अपितु मन्त्रशक्ति के द्वारा प्रभुशक्ति के नियन्त्रण और दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही सुरक्षित रह सकता है। प्राचीन भारत के साम्राज्य-वाद के महान् दार्शनिक चाणक्य जी की यह भावना—

‘ब्राह्मणेनैवितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम् ॥’

मुद्राराक्षस के नाटककार की इस भावना—

‘अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।

सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोद्वयोरेकतरं जहाति ॥

में अवतार लेती प्रतीत होती है।

५. नाटक का मूल वृत्त

मुद्राराक्षस की इतिवृत्ता-रचना विशाखदत्त ने जिस प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर की है उसे नन्द-साम्राज्य के अस्त और मौर्य-साम्राज्य के उदय-युग-सन्धि-वेला का वृत्त कहते हैं। हमारे कथा-साहित्य और पुराण-साहित्य में इस वृत्त का वर्णन मिलता है; किन्तु इससे सम्बद्ध कथायें और किंवदन्तियाँ इतनी इसमें घुल मिल गयी हैं कि सत्यता और कल्पना का विश्लेषण असम्भव ही प्रतीत होता है। कौटिल्य (चाणक्य) के द्वारा नन्द-वंश के सर्वनाश और चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-प्रतिष्ठा का वर्णन विष्णुपुराण और भागवत इत्यादि में किया हुआ है। ‘महावंश’ टीका चाणक्य को तक्ष-शिला का ब्राह्मण बताती है। चन्द्रगुप्त मौर्य को भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक अनुसन्धान भारत का प्रथम सम्राट् स्वीकार करता है।

नन्द-वंश का अन्त-काल भारत के इतिहास-विदों के अनुसार ईस्वी सन् के ३२६ वर्ष पूर्व निर्धारित है। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्यारोहण-काल ईस्वी सन् के ३२५ वर्ष पूर्व माना जाता है। तब से लेकर नाटककार के समय तक अर्थात् लगभग एक सहस्र वर्ष के भीतर चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में किंवदन्तियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। मुद्राराक्षस का नाटक-कार इन किंवदन्तियों से परिचित अवश्य होगा किन्तु नाटक की इतिवृत्त-योजना में किसी किंवदन्ती का कोई सङ्केत नहीं मिलता। केवल नन्द-विनाश के लिये चाणक्य के अभिचार-कर्म का सङ्केत एक स्थान (४र्थ अङ्क १२ वां श्लोक) पर किया गया है किन्तु इसका मुद्राराक्षस के इतिवृत्त से कोई सम्बन्ध नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने मुद्राराक्षस में मौर्य-साम्राज्य की स्थापना और प्रतिष्ठा का सारा श्रेय विष्णुगुप्त चाणक्य को दिया है और कोटिलीय अर्थशास्त्र की साम्राज्यवादी राजनीति के अध्ययन-मनन के आधार पर चाणक्य के व्यक्तित्व की भावना की है और इसी से सर्वथा समञ्जस घटना-चक्र की भी कल्पना कर ली है। कोटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति का महाप्रयोक्ता तो सर्वप्रथम राक्षस को नाटककार ने दिखाया है किन्तु इसके भी प्रतिवाद-कर्ता के रूप में चाणक्य के चरित का जो चित्रण है और तत्सम्बन्धी घटनाओं का जो वर्णन है वह नाटककार की अपनी कल्पना की सृष्टि है।

संस्कृत नाटकों में मूलवृत्त का प्रख्यात होना आवश्यक माना गया है। इस नाटक का भी मूलवृत्त एक प्रख्यात वृत्त है। गुणाढ्य की बृहत्कथा के जितने भी रूपान्तर हो आये हैं उन सब में चाणक्य और चाणक्य की विलक्षण बुद्धि से संबद्ध कथायें शताब्दियों से लोग सुनते आ रहे हैं। राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कथाओं का एक अपना महत्त्व है किन्तु यह भी सत्य है कि भारत की जनता अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के युगों में चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कथायें और गाथायें सुनती-सुनाती आयी है। मुद्राराक्षस के मूलवृत्त का भारतीय जीवन के एक व्यापक अङ्ग से सम्बन्ध रह चुका है और सम्भवतः यही कारण है कि विशाखदत्त ने इस वृत्त पर अपने नाटक की रचना की।

६. नाटक की इतिवृत्त-रचना

इस 'मुद्राराक्षस' का शरीर महाकवि विशाखदत्त की कल्पना से बना है। प्राचीन ऐतिहासिक—पौराणिक वृत्त को कवि की कल्पना ने जिस प्रकार सँवारा है उसके अनुसार यह इतिवृत्त इस नाटक में झलक रहा है :—'महानीतिज्ञ चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त का अधिकार मगध के सिंहासन पर हो चुका है। अपनी विजय के उपलक्ष्य में पाटलिपुत्र के नागरिकों को 'कौमुदी-महोत्सव' के मनाने की आज्ञा चन्द्रगुप्त के द्वारा निकाली जा चुकी है। चन्द्रगुप्त निःशङ्क—निश्चिन्त होकर 'कौमुदी महोत्सव' के आमोद-प्रमोद का स्वप्न देख रहा है किन्तु चाणक्य का हृदय चिन्ताकुल है। चाणक्य सोच रहा है कि संभवतः ऐसे अवसर पर जब कि चन्द्रगुप्त और उसके सैनिक विजयोन्माद में अपनी सुध-बुध भूल रहे होंगे, कहीं ऐसा न हो, महामात्य राक्षस और मलयकेतु की सेनायें रंग में भंग डालने पर उतारू न हो जायें। यह चिन्ता इतनी विकटरूप से चाणक्य के हृदय पर आक्रमण करती है कि वह अपने शत्रुओं को अपने सामने खड़े हुये देखने लगता है और क्रोधावेश में चिल्ला उठता है कि उसके जीते रहते जो भी चन्द्रगुप्त पर अंगुली उठाना चाहेगा उसे ईश्वर भी नहीं बचा सकता। यह क्रोधावेश शान्त हो जाता है किन्तु चाणक्य की सतर्कता और कर्तव्य-परायणता को जगा जाता है। किस प्रकार चन्द्रगुप्त के महान् शत्रु, महाराज नन्द के महाभक्त राक्षस को वश में किया जाय और किस प्रकार लाठी भी न टूटे और साँप भी मारा जाय—बस, इसी उधेड़-बुन में चाणक्य पड़ जाता है। चाणक्य को राक्षस की सांशमिक-शक्ति का पता है और साथ ही साथ यह भी पता है कि राक्षस के विद्रोही बने रहते चन्द्रगुप्त का सिंहासन स्थिर नहीं रह सकता। राक्षस के हृदय पर विजय पाना और उसकी नन्द भक्ति की छत्र-छाया में चन्द्रगुप्त को सुरक्षित कर देना—यही एक मात्र निर्माण चाणक्य कर पाता है। अब उसकी राजनीति अपनी शतरंज की गूढ़ चालें चलने लगती है। उसके गुप्तचर राक्षस के परमस्नेहभाजन बना दिये जाते हैं और मलयकेतु के दाहिने-बायें हाथ के रूप में काम करते हुए चाणक्य की मन्त्रणाओं की कायस्थिति करते चल रहे हैं। इधर राक्षस अन्य उपायों को

निष्फल होते देख चाणक्य और चन्द्रगुप्त में फूट उत्पन्न कराने की चाल चलता है किन्तु चाणक्य पहले ही से सावधान है और स्वयं चन्द्रगुप्त से भगड़ जाने का स्वांग रख लेता है। सरल-हृदय राक्षस इस चाल को नहीं समझ पाता और चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच कौमुदीमहोत्सव को लेकर खड़े हो जाने वाले इस कृतक-कलह को अपनी दूरदर्शिता मान बैठता है। राक्षस को इस चाल को चाणक्य उसी को फँसाने के एक अमोघ-अस्त्र के रूप में बदल देता है। और एक कूटलेख का प्रयोग, जिसकी सफलता में उसे कोई संदेह नहीं क्योंकि उस पर राक्षस की मुद्रा को छाप है और राक्षस के लेखाध्यक्ष का लिखा है, कर डालता है। यह लेख चाणक्य के उन गुप्तचरों द्वारा जो कि मलयकेतु के दाहिने-बायें हाथ हैं, पकड़ लिया जाता है और मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति घोर अविश्वास और अश्रद्धा उत्पन्न कर देता है। पाटलिपुत्र पर आक्रमण तो दूर रहे, इस लेख की कूट चाल एक ओर तो राक्षस की महत्वा-कांक्षाओं का सत्यानाश कर डालती है और दूसरी ओर उसकी समस्त सैन्यशक्ति को छिन्न-भिन्न कर देती है। राक्षस विवश हो जाता है। चाणक्य ने उसके आत्म-समर्पण की चाल पहले ही सोच ली है और वह है राक्षस के परम मित्र पाटलिपुत्र के धनकुवेर चन्दनदास को राजविद्रोह के अपराध में झूली पर चढ़ाना। राक्षस, चन्दनदास को बचाने के लिये आत्म-समर्पण करता है किन्तु इतने से ही चाणक्य उसे छुटकारा नहीं देता। राक्षस की दृष्टि, विक्रम और राज-भक्ति पर चाणक्य रीझा हुआ है और राक्षस को तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक वह चन्द्रगुप्त को अपना नहीं समझता। विवश होकर राक्षस को मौर्य-भक्ति के लिये अपना वचन देना पड़ता है। चाणक्य जीतता है किन्तु हार कर भी राक्षस महान् बना रहता है।'

इस इतिवृत्त और इसके अस्थिपञ्जरभूत पूर्वनिर्दिष्ट वृत्त में कितना अन्तर है। संभवतः संस्कृत नाटक साहित्य में मुद्राराक्षस को छोड़कर कोई भी दूसरा ऐसा नाटक नहीं जिसका इतिवृत्त कवि की कल्पना द्वारा इस प्रकार सुसंश्लिष्ट रूप से संस्कृत हुआ हो। इस इतिवृत्त की रचना पर नाटककार स्वयं मुग्ध है और उसकी यह उक्ति—

७. नाटक की इतिवृत्त-कल्पना का मूलाधार

इस नाटक की कल्पना और रचना का जो बीज है वह है नाटककार का समसामयिक राजतन्त्र के दांव-पेंच में सक्रिय भाग लेना। राजतन्त्र के व्यावहारिक ज्ञान और अनुशीलन के बिना यह नाटककार, चाहे इसे हम कितना भी कल्पना-पटु क्यों न मान लें, इस नाटक जैसे राजनीति-रूपक का निर्माण कभी न कर पाता। संस्कृत काव्य-साहित्य के अनेक ऐसे निर्माता हो चुके हैं जिन्होंने यथास्थान और यथासंभव राजनीति को भी कविता का विषय बनाना चाहा है। उदाहरण के लिए हम 'शिशुपालवध' के महाकवि माघ को ही ले सकते हैं, जिन्होंने अपने महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में राजनीति-सम्बन्धी अनेकानेक विषयों की अवतारणा की है और इन्हें काव्य-रस में घुलने-मिलाने का भी प्रयास किया है। वैसे तो इस कवि की आत्म-धारणा यही है कि उसे राजनीति का व्यावहारिक अनुभव है, केवल ग्रन्थ-ज्ञान-मात्र नहीं, क्योंकि उसने एक प्रकार से अपने संबन्ध में ही यह कहा है—

‘षड्गुणाः शक्त्यस्तिलः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानघोष्य व्याफुत्तुमिति दुर्मेघसोऽप्यलम् ॥
अनिलोडितकार्यस्य वाग्जालं वारिमनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव बलितम् ॥’

(शिशुपालवध २-२७, २८)

किन्तु बात ऐसी है कि इस कवि के राजनीति-सर्ग में उसकी राजनीति-शास्त्र-विषयक व्युत्पत्ति अथवा निपुणता ही छिपी है और इसके प्रकाशन का हेतु ? वह तो कवि का नीतिशास्त्राभ्यास है जैसा कि उसने एक भिन्न प्रसंग में कहा है—

‘हेतुः परिचयस्यार्थं वक्तुं गर्गनिकैव सा’ (शिशुपालवध १. ७५)

मुद्राराक्षस की बात कुछ और ही है। इसकी कल्पना उस कवि ने की है जिसे अपने समय के राज्य-तन्त्र में एक विशिष्ट अधिकारी के रूप में कार्य करने का सौभाग्य मिल चुका होगा। इस कवि की राजनीति, नीतिशास्त्र के अवेक्षण से उत्पन्न राजनीति सम्बन्धी निपुणता नहीं अपितु उसके व्यक्तित्व

का एक विशिष्ट अंश है। और इसीलिये मुद्राराक्षस नाटक में नाटककार का जो दर्शन हमें होता है उसमें किसी राजनीतिवेत्ता का नीतिपाण्डित्य नहीं अपितु एक राजनीतिक व्यक्तित्व की कवि-प्रतिभा ही झलकती प्रतीत होती है। राजनीति तो इस नाटककार के जीवन का अंश है और इस दृष्टि से, आरम्भ से अन्त तक राजनीति-सम्बन्धी विविध घटनाओं का जो ताँता इस नाटक में बंधा है उसमें विशाखदत्त की नीतिविषयक शास्त्रव्युत्पत्ति का ही नहीं, अपितु राजनीति-सम्बन्धी प्रतिभा का हाथ दिखाई देता है।

यहाँ यदि नीतिशास्त्र के पाण्डित्य की भी रूप-रेखा प्रतीत होती है तो वह ऐसी है जिसकी लावण्य-योजना राजनीति के दाँव-पेंच में पड़े कवि की नाट्य-प्रतिभा द्वारा हुई है। उदाहरण के लिये नाटककार ने चाणक्य की इस उक्ति—

‘कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पोरेषु यथा किल नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृघातार्जितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत इति’ (मुद्राराक्षस प्रथम अङ्क)

में यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में विवेचित ‘परिपणित संधि’ से अपनी अभिज्ञता प्रकट की है किन्तु इसमें शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार-पटुता की मात्रा कहीं अधिक है। क्योंकि राक्षस और मलयकेतु में परस्पर ‘परिपणित संधि’ के वृत्त की जो उद्भावना यहाँ है उसमें अर्थशास्त्र की ससंविध परिपणित सन्धियों, ‘एवं देशकालयोः कालकार्ययोर्विश-कार्ययोर्वेशकालकार्याणां चावस्थापनाशसंविधः परिपणितः (कौटिलीय अर्थशास्त्र, अ० ७ अ० ६ प्र० १११. सू० १५)— की पारिभाषिकता की कोई भी छाया नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत जो बात स्पष्ट होती है वह है इस नाटककार का अपने समय के राजतन्त्र में सन्धि-विग्रहादि के प्रयोग और उपभोग का अनुभव। अनेकानेक प्रसङ्ग वस्तुतः इसी बात का समर्थन करते हैं कि नाटककार अर्थशास्त्र के विषयों को मिला-जुला कर मुद्राराक्षस के इतिवृत्त की रचना नहीं करता अपितु उस-समय के राजतन्त्र के सञ्चालन-सम्बन्धी बातों के अनुभव के ऊपर अपनी कवि-कल्पना की उड़ान

भरना चाहता है और एक ऐसे रूपक की वृत्त-रचना करता है जो उतनी ही पेचीदा है जितनी कि राजनीति ।

दो एक ऐसे प्रसङ्गों का, जिनमें कौटिलीय अर्थशास्त्र की अभिज्ञता पर नाटककार की वैयक्तिक प्रतिभा का प्रकाश छाया हुआ है, निर्देश करना अनुपयुक्त नहीं होगा । इस नाटक के प्रथम अङ्क में जिस कपट-लेख की घटना का उल्लेख है जो कि इसके पञ्चम अङ्क की घटनाओं की प्रसव-भूमि है, उसकी कल्पना नाटककार ने अपने समय के राजनीति-सम्बन्धी कूट-लेखों के आधार पर की है । कौटिलीय अर्थशास्त्र का मनन-चिन्तन और यथास्थान प्रयोग तो भारतीय राजतन्त्र के युग में होता ही रहा है । राजशासन अथवा राजकीय लेख का स्वरूप कौटिलीय अर्थशास्त्र में जिस रूप में निर्दिष्ट है, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रतीत होता है—

‘लेखपरिसंहरणार्थ इति शब्दो धाचिकमस्येति च ।

निन्दा प्रशंसा पृच्छा च तथाख्यानमथार्थना ।

प्रत्याख्यानमुपालम्भः प्रतिषेधोऽथ चोदना ॥

सान्त्वनभ्युपपत्तिश्च भर्त्सनानुनयौ तथा ।

एतेष्वर्थाः प्रवर्तन्ते त्रयोदशसु लेखजाः ॥

(की० अ० २. १०. २२. २४-२६)

उसी का अनुसरण ‘मुद्राराक्षस’ का ‘कपटलेख’ भी करता प्रतीत होता है । किन्तु ऐसे प्रसंग में इस प्रकार के लेख के प्रयोग का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में नहीं मिलता । इससे तो निःसन्देह यही प्रतीत होता है कि नाटककार एक व्यवहारकुशल राजनीतिज्ञ है न कि अर्थशास्त्र का केवल पण्डित । इसी प्रकार इस नाटक के द्वितीय अङ्क में विषकन्या तथा शिल्पियों द्वारा उपांशुवध की जो वृत्तयोजना है वह कौटिलीय अर्थशास्त्र के ‘संवृत्त’ नामक एकादश अधिकरण के विषयों का अनुसरण भले ही करती हो किन्तु अनुकरण नहीं करती । कौटिलीय अर्थशास्त्र में ‘संघभेद’ और ‘उपांशुदण्ड’ का विवेचन विशद रूप से किया गया है । संघभेद के लिये गणिकाओं का प्रयोग इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

‘बन्धकीपोषकाः प्लवकनटनर्तकसौभिका वा प्रणिहिताः स्त्रीभिः परमवपयोव-
नाभिः संधमुख्यानुन्मादयेयुः । प्रसह्यापहृता बोपवनान्ते क्रीडागृहे वाऽपहृतरं राज्ञौ
तीक्ष्णेन घातयेत् । स्वयं वा रसेन । ततः प्रकाशयेत् । अमुना में प्रियो हत इति ।’

(कौ. अ. ११. १. १६०. ४० तथा ४७-५०)

किन्तु मुद्राराक्षस की ‘विषकन्या’ विशाखदत्त की एक ऐसी विचित्र कल्पना
है जो शास्त्रपाण्डित्य पर नहीं अपितु किसी समसामयिक राजनीतिक घटना
पर आधारित प्रतीत होती है । इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में ‘दुर्गलम्भा-
पाय’ नामक त्रयोदश अधिकरण में जो निर्देश है—

‘कारुशिल्पिपाषण्डकुशीलवर्षदेहकव्यञ्जनानायुधीयान् वा परदुर्गे प्रणिदध्यात् ।
प्रकारद्वाराट्टालकवानमनोकेभेदं घातं वा कुर्युः ।’

और ‘आश्लीयस’ नामक द्वादश अधिकरण में जैसा संकेत है—

‘देवतागृहप्रविष्टस्योपरि यन्त्रमोक्षणेन गूढभित्तिं शिलां वा पातयेत् । शिला-
शस्त्रवर्षमुत्तमागारात् । कवाटमवपातितं वा, भित्तिप्रणिहितमेकदेशबन्धं वा परिधं
मोक्षयेत् ।’

वह सब जिस रूप में मुद्राराक्षस के वृत्त-निर्माण में उपयुक्त हुआ है उसके
देखने से तो जो अनुमान किया जा सकता है वह यह है कि विशाखदत्त ने या
तो स्वयं इस प्रकार के कूट-प्रयोग की कभी कोई रूपरेखा बनायी हो या
इसकी बनी-बनायी रूपरेखा पर अपने नाटक के इतिवृत्त में इस प्रकार के वृत्त
की रचना की हो । वस्तुतः बात यह है कि नाटक का यह इतिवृत्त कौटिलीय
अर्थशास्त्र से प्रभावित समसामयिक राजतन्त्र के जीवन से सम्बन्ध रखता है
न कि इसके द्वारा कौटिलीय अर्थशास्त्र को नाटकीय अभिनय और रूपक रचना
का विषय बनाया गया है ।

८. नाटक के चरित-चित्रण के मूल-सूत्र

मुद्राराक्षस में नाटक के नायक चाणक्य का जो चरित-चित्रण है वह तो
नाटककार की संस्कृत नाटकसाहित्य को ही नहीं अपितु संसार के नाट्य-साहित्य
को एक बहुत बड़ी देन है । बृहत्कथा पर आश्रित कथा-साहित्य का चाणक्य

एक ऐसा व्यक्ति है जो प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावनाओं का अवतार है ।
'कामन्दकीय' की निम्न पंक्तियाँ—

‘वंशे विशालवंशानामृषीणामिव भूयसाम् ।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥
जातवेदा इवाचिष्मान् वेदान् देवविदांवर ।
योऽधीतवान् सुचतुरश्रतुरोऽप्येकवेदवत् ॥
यस्याभिचारवज्जरेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपात मूलतः श्रोमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्तः शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानथंशास्त्रमहोदधे ।
य उद्ध्ये नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥

जिस चाणक्य के व्यक्तित्व का परिचय देती हैं और कौटिलीय अर्थशास्त्र की रचना अपने जिस निर्माता के व्यक्तित्व का संकेत करती है उससे अधिक प्रभावोत्पादक और अधिक रमणीय व्यक्तित्व का चित्रण मुद्राराक्षस की कृति ने किया है । चाणक्य के व्यक्तित्व का चित्रण श्री द्विजेन्द्रलाल राय के ‘चन्द्रगुप्त’ तथा श्री जयशंकरप्रसाद के ‘चन्द्रगुप्त’ में भी हुआ है किन्तु इन दोनों का चाणक्य आधुनिक युग की आँखों से देखा गया एक महानीतिज्ञ मानव है जिसका स्वरूप संभवतः भारतीय जनता की कल्पना में भारत के स्वातन्त्र्य युग में नहीं रहा होगा । किन्तु विशाखदत्त के चाणक्य का व्यक्तित्व एक ऐसे व्यक्तित्व है जो किसी भी देश और काल के राजनीतिक जीवन का महान् व्यक्तित्व है और आदर्श व्यक्तित्व है ।

राक्षस का चरित चाणक्य के चरित का पूर्वपक्ष है और यह भी विशाखदत्त की अपनी प्रातिम सृष्टि है ।

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के चरित-चित्रण में तो भास, शूद्रक और कालिदास के नाटकों में चित्रित राजचरितों से बहुत कुछ सामंजस्य दिखाई देता है । चन्दनदास के चरित-चित्रण में शूद्रक के ‘भूच्छकटिक’ के चरित के चरित

की कुछ घुंघली छाया देखी जा सकती है। चन्दनदास के पुत्र की चरित-अभिव्यक्ति विशाखदत्त की प्रतिभा की कृति है। विराधगुप्त, सिद्धार्थक, भागुरायण इत्यादि के चरित-चित्रण में कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति के मनन-चिन्तन का हाथ दिखाई देता है।

विशाखदत्त की चरित-चित्रण कला की प्रशंसा मुद्राराक्षस के पाश्चात्य तथा भारतीय अध्येता विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है और यह सर्वथा उचित और युक्तिसंगत है।

६. नाटककार की रसभाव-योजना की मौलिकता

विशाखदत्त के पूर्ववर्ती नाटककार भास ने 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' में नीतिवीर अमात्य योगन्धरायण के चरित-चित्रण द्वारा राजनीति विषयक उत्साह-भाव की अभिव्यञ्जना की है और वीररस का एक विचित्र आस्वाद सहृदय सामाजिकों को दिया है किन्तु मुद्राराक्षस में जिस वीररस की अभिव्यक्ति है वह संस्कृत के काव्य और नाट्य-साहित्य में अदभुत और अनुपम है। मुद्राराक्षस के वीर-रस को यदि हम विशाखदत्त के व्यक्तित्व का निष्पन्द करें तो अनुचित न होगा। युद्ध की वीरता में मनुष्यता के अतिरिक्त पशुता का भी हाथ रहा करता है किन्तु राष्ट्र हित-चिन्तन-सम्बन्धी अदम्य आत्मोत्साह की भावना जिस वीररस में अभिव्यक्त हो सकती है उसमें एक मात्र मानव के आत्मिक व्यक्तित्व की महत्ता की ही झलक दिखाई दे सकती है और यही वह वीर रस है जिसकी संघटना अथवा संयोजना, यदि किसी नाटककार ने की है, तो विशाखदत्त ने ही।

जिस प्रकार कालिदास की रस-भाव-योजना अपने क्षेत्र में अनुपम है उसी प्रकार विशाखदत्त की रस भाव योजना का भी कहीं अन्य कोई उदाहरण अप्राप्य ही है।

संस्कृत-नाटकों के आलोचनात्मक अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि 'मुद्राराक्षस' की वीररस-भाव-योजना की अपेक्षा 'महावीर-चरित' की वीररसभाव-योजना अधिक प्रभावोत्पादक है यह ठीक नहीं जैचती।

महाकवि भवभूति के 'महावीर चरित' अथवा भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' में वीररस की जो अभिव्यक्ति है उसका वातावरण कुछ दूसरा है किन्तु जिस वातावरण में मुद्राराक्षस में वीररस की अभिव्यञ्जना हुई है वह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती ।

मुद्राराक्षस की वीररसाभिव्यक्ति में समसामयिक राजनीतिक जीवन की उन्नतिशीलता के लिये उत्सुक एक कर्मठ राजनीतिक नेतृत्व की अदम्य आत्मोत्सर्ग की भावना और आत्मोत्साह की प्रबल प्रेरणा का हाथ दिखाई देता है जिसका अन्यत्र दर्शन दुर्लभ है और यही वह रहस्य है जिसके न रहने से अन्य संस्कृत के नाटककार किसी दूसरे मुद्राराक्षस की रचना न कर सके ।

१०. मुद्राराक्षस में चरित-चित्रण

संस्कृत के नाटक, नाट्य-प्रक्रिया के द्वारा रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से रचे जाते रहे हैं और नाटक के द्वारा रसाभिव्यक्ति में चरित-चित्रण का ही सर्वाधिक महत्त्व हुआ करता है । मुद्राराक्षस की रचना विशाखदत्त ने एक विशेष प्रकार के वीर रस की अभिव्यक्ति और इस प्रकार के वीर भाव से सामाजिकों के जीवन को प्रभावित करने की दृष्टि से की है । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यहाँ जो नाटकीय चरित-चित्रण है वह अधिकाधिक उपयुक्त और युक्तियुक्त है । यहाँ नाटक के नायक और उसके सहायकों तथा प्रतिनायक और उसके सहायकों के बीच जो राजनीतिक महत्त्वकांक्षा की भयङ्कर प्रतिस्पर्धा चलती दिखाई देती है और इसमें जैसा अन्तर्द्वन्द्व स्वभावतः उठ खड़ा हुआ करता है उसी के नाटकीय निरूपण के द्वारा यहाँ रस-भाव की अभिव्यञ्जना, जैसी कि होनी चाहिये, की गई है । छोटे से छोटे और बड़े से बड़े चरित यहाँ चित्रित हैं और इस प्रकार से चित्रित हैं मानो सबका एक अपना व्यक्तित्व है और ऐसा व्यक्तित्व है जिसे हम भूल नहीं सकते । एक चरित का दूसरे चरित के साथ परस्पर वैधर्म्य इस प्रकार स्वाभाविक रूप से प्रदर्शित हुआ है जिससे इस नाटक को गति प्रारम्भ से अन्ततक तीव्र से तीव्रतम होती दिखाई देती है और ऐसा प्रतीत होता है मानो हम नाट्य-जगत में नहीं अपितु वास्तविक जीवन के क्षेत्र में इन व्यक्तियों की अपनी-अपनी आकांक्षाओं और उनके पारस्परिक घात-प्रतिघात का साक्षा-

त्कार कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य के युग और उसकी समस्त विशेषताएँ हमारी आँखों के सामने एक साथ ही झलक उठी हों। चाणक्य और चन्द्रगुप्त तो ऐतिहासिक महापुरुष हैं, राक्षस और मलयकेतु की ऐतिहासिकता सम्भवतः हमारे ऐतिहासिक यदि अभी नहीं सिद्ध कर पाये तो भविष्य में कर ही दिखायेंगे। इस विशिष्ट व्यक्तित्वों के साथ इनके युग के इनके सहायकों के व्यक्तित्व की कल्पना भी, जिसे नाटककार की प्रतिभा यहाँ कर चुकी है, इतनी सजीव और संप्राण है कि इसके अस्तित्व में हमारा विश्वास दृढ़मूल हो जाता है।

इस नाटक में छोटे-बड़े कम से कम २९ चरितों का अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ चित्रण किया गया है। चरित-चित्रण के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन चरितों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) चाणक्य—नन्द-साम्राज्य के संहारक और मौर्य-साम्राज्य के प्रतिष्ठापक के रूप में और उसके सहायक।

(२) राक्षस—मौर्य-साम्राज्य के शत्रु और नन्द-साम्राज्य के पुनरुद्धारक के रूप में और उसके सहायक।

(३) चन्द्रगुप्त—मौर्य-सम्राट, जो अपनी प्रभुशक्ति को अपने प्रधानमन्त्री की मन्त्र-शक्ति की संरक्षता में छोड़ कर 'धर्मार्थविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गो मन्योन्यानुबन्धम्'—(अर्थशास्त्र-१. ७. ६-८) के नियम का पालक एक राजर्षि है।

(४) मलयकेतु—एक पर्वतीय राजकुमार, जो एक पराक्रमी-विजिगीषु तो अवश्य है किन्तु जिसे राजनय और राजतन्त्र का ज्ञान नहीं।

इस वर्ग-चतुष्टय के अनुसार इन चरितों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

चाणक्य—

संस्कृत के नाटक-साहित्य में जितने भी नायक-चरित चित्रित हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं जो मुद्राराक्षस के 'चाणक्य' के समान प्रभावोत्पादक और शक्ति-
३ मु० भू०

शाली हो। संस्कृत के नाटककारों के द्वारा उद्भावित नायक-चरित का जो प्राचीन नाट्य-परम्परागत वर्ग-विभाग है उसमें यह चरित अपनी वैयक्तिक विशेषता और अलौकिकता के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, समा नहीं सकता। यह चरित एक महान् नाटककार की महती कल्पना है। इस चरित के नाम से नाटक के नाम का सम्बन्ध होना भी इसकी एक विशेषता का ही परिचायक है। चाणक्य ही इस नाटक के घटना-चक्र का एक मात्र नियन्ता है किन्तु वह जो कुछ करता है अपने लिये नहीं, अपने स्वार्थभाव से नहीं अपितु चन्द्रगुप्त के लिये और मौर्य-साम्राज्य की दृढमूलता और समृद्धता के लिये। अर्थशास्त्र और सम्भवतः प्राचीन ऐतिह्य और प्राचीन कथा-परम्परा का चाणक्य भले ही एक महत्वाकांक्षी, महाक्रोधी, महानीतिज्ञ ब्राह्मण रहा हो किन्तु मुद्राराक्षस के चाणक्य में एक और विशेषता है और वह है उसकी 'निरीहता, निःस्वार्थमयता और लोकसंग्रह' की महाभावना। इसका यह गुण इसकी आत्मश्लाघाओं में नहीं अपितु इसके नम्पक में आने वाले जन साधारण की भावनाओं में प्रकट होती है। चन्द्रगुप्त का कञ्च की कहता है—'निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः' (३।१६)। चाणक्य एक निरीह, वीतराग, लोकोत्तर राजनीतिज्ञ है। मौर्य-साम्राज्य का महामन्त्री राजाधिराज मन्त्री होते हुये भी अपने वैयक्तिक सुख भोग से यह सर्वथा विरत है। चाणक्य के इस अनासक्ति योग से इसके मित्र, शत्रु और उदासीन सभी लोग परिचित हैं जो इसकी 'गृहभूति' (!) से परिचित हैं—
उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां बहुभिरुपहतानां वहिषां स्तोम एष।

शरणमपि समिद्धिभः शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलानां दृश्यते जीर्णकुडचम् ॥

(३।१५)

इस अनासक्तियोगी चाणक्य को अपने नाम की क्या चिन्ता ! और इस विचित्र चरित्र की उद्भावना करने वाले नाटककार ने भी इसके नाम से नाटक के नाम का सम्बन्ध इसीलिये नहीं किया क्योंकि चरितनायक चाणक्य, चाहे वह और जो कुछ भी हो, सबसे पहले एक अनासक्ति है, आदर्श कर्मयोगी है। चाणक्य का ऐसा चरित्र किसी भी काल में, किसी भी राष्ट्र के राजतन्त्र-सूत्रधार अथवा राजतन्त्र-सूत्रधार के लिये एक महान् आदर्श है।

नाटक के प्रारम्भ होते ही चाणक्य रङ्गमञ्च पर आ उपस्थित होता है । इस समय की इसकी भाव-मुद्रा देखते ही बनती है । किसी अन्य पात्र के द्वारा चाणक्य का परिचय देना चाणक्य के चरित की एक महान् विशेषता का अपहरण करना होगा—इस दृष्टि से चाणक्य स्वयं अपनी मानसिक और शारीरिक अवस्था का, अपने शत्रुओं को भत्सना करते हुये, परिचय देते दिखा-लाया गया है । चाणक्य की सफलता का रहस्य उसका अपने पौरुष में, अपने पुरुषार्थ में अटूट और अदम्य विश्वास है । अथशास्त्र का चाणक्य तो दैव और पौरुष के तारतम्य का चिन्तन करने वाला राजनीति-दार्शनिक है क्योंकि वह इस सम्बन्ध में विचार विमर्श करते हुये दिखाई देता है—

‘मानुषं नयापनयो, दैवमयानयो दैवमानुषं हि कर्म लोकं यापयति । अदृष्ट-कारितं दैवं तस्मिन्निष्टेन फलेन योगोऽयः । अनिष्टेनानयः । दृष्टकारितं मानुषं तस्मिन् योगक्षेमनिष्पत्तिर्नयः, विपत्तिरपनयः । तच्चिन्त्यम् । अभिन्त्यं दैवम् । राजात्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्तो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः ।’ (अथशास्त्र ६. २. ६-१६)

किन्तु मुद्राराक्षस का चाणक्य अपने पौरुष पर इतना आत्मविश्वास रखने वाला कर्मठ व्यक्ति है कि ‘दैव’ का नाम सुनते ही आग-बबूला हो जाता है । उसने जो कुछ किया अपने पौरुष से किया न कि भाग्य की सहायता से । चन्द्रगुप्त भी यदि चाणक्य से कहे कि नन्दवंश का विनाश दैव ने किया—‘नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन’ (तृतीय अङ्क) तो चाणक्य इस आक्षेप से बोखला उठता है और चन्द्रगुप्त को खरी-खोटी सुनाकर ही शान्त होता है—‘दैवम-विद्वांसः प्रमाणयन्ति’ (तृतीय अङ्क) । चाणक्य के व्यक्तित्व की इस विशेषता से नाटक का साधारण पात्र भी परिचित है और इसीलिये तो चन्द्रगुप्त का कञ्चुकी चाणक्य को ‘सूर्य’ के रूप में देखता जो अपना प्रकाश अपनी अलौकिक शक्तियों से करता है न कि किसी दूसरे ज्योतिर्मय पदार्थ की सहायता से—

यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोकमस्तोदयो प्रतिदिशन्निविभिन्नकालम् ।

पर्यायपातितहिमोष्णिगमसर्वंगामि धाम्नाऽतिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥

(३१७)

रङ्गमञ्च पर जब सूर्य स्वयं आ गिराये तो वही अलौकिक शक्ति है !

चाणक्य के व्यक्तित्व में, जिसकी अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापारों के वर्णन द्वारा की है, आत्मविश्वास की मात्रा सर्वाधिक है। यह चाणक्य का आत्मविश्वास ही है जो उसकी इस उक्ति—

‘एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका

नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ।’—

में स्वभावतः प्रकाशित हो रहा है। संस्कृत के ही नहीं अपितु अन्य भाषाओं के भी नाटकीय चरितों में चाणक्य का ही ऐसा चरित है जिसे मूर्तिमान् आत्म-विश्वास कहा जा सकता है। यह आत्मविश्वास कभी-कभी ऐसा उग्र हो उठता है कि चाणक्य अपने आप अपना बखान करने को बाध्य कर दिया जाता है। चन्द्रगुप्त जब चाणक्य पर व्यङ्ग्य करता है—‘विद्वांसोऽप्यविकल्पनाः भवन्ति’ (तृतीय अङ्क) तब चाणक्य का क्रोध इसीलिये आपे से बाहर हो उठता है क्योंकि उसे यह व्यङ्ग्य उसके आत्मविश्वास पर चोट पहुँचाता प्रतीत होता है।

चाणक्य की आत्मा की महती शक्ति, जो वस्तुतः उसकी उत्साहशीलता की अदम्य शक्ति है, अपने आगे किसी शक्ति की प्रतिस्पर्धा स्वीकार नहीं करती। अमात्य राक्षस की प्रज्ञा, पराक्रम-शक्ति और राजभक्ति की महत्ता को मानते हुये भी चाणक्य उसे अपना प्रतिस्पर्धी इसलिये नहीं मानता क्योंकि उसका आत्मोत्साह अपने स्वार्थी का साधन नहीं अपितु मौर्य-साम्राज्य के तत्त्व-हित और पुरुषार्थ का साधक बनने का निश्चय कर चुका है। चाणक्य की यह उक्ति—

चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ।

(मुद्राराक्षस तृतीय अङ्क १२वाँ श्लोक)

इसी आत्मोत्साह की अभिव्यञ्जना है।

मुद्राराक्षस का चाणक्य कथाओं और पुराणों का चाणक्य नहीं है। इस नाटक का चाणक्य नन्दसम्राट् के प्रतिहिंसक होने के कारण चाणक्य नहीं और न कौटिलीय अर्थशास्त्र की कूटराजनीति के कारण ही चाणक्य है अपितु इसी-लिये चाणक्य है कि यह अपने आदर्शों के मद्भाग्य के व्यक्तित्व की महत्ता को

समझता है और अपनी दूरदर्शी प्रखर बुद्धि के बल पर अपने शत्रु को अपना मित्र और अपने आदर्शों का पालक बनाकर शान्त होता है ।

चाणक्य का मानव-मनोविज्ञान का अनुभव महान् है । सम्भवतः राक्षस अपने आप को जितना नहीं जानता उससे अधिक चाणक्य उसे जानता है और अपने अनुभव के विश्वास पर ही चाणक्य अपनी कूटराजनीति का प्रयोग राक्षस के विनाश के लिये नहीं किन्तु उसकी मान्यताओं की त्रुटियों के संहार के लिये करता है । मुद्राराक्षस के अतिरिक्त कोई और नाटक नहीं जिसमें चाणक्य, ऐसा लौकिक होने पर भी लोकोत्तर नायक हो और राक्षस जैसा पराजित होने पर भी महान् प्रतिनायक हो ।

चाणक्य का चरित विशाखदत्त ने ऐसा चित्रित किया है कि इसे हम प्राचीन नाट्य-परम्परा की नायक-चतुष्टय-मर्यादा में स्थान देते हुए भी ऐसा अनुभव करते हैं कि इसका एक अलग श्रेणी-विभाग होना चाहिये अथवा इसे एक स्वतन्त्र नायक-चरित ही मानना चाहिये ।

कर्तव्य की वेदी पर समस्त मधुर मनोभावों की आहुति चढ़ाने वाला चाणक्य मनुष्य नहीं अपितु धैर्य का मूर्तिमान् रूप है । यदि ऐसा भी कहा जाय कि मुद्राराक्षस का नायक धैर्य है और प्रतिनायक धैर्य का वैकल्य, तो कुछ अनुचित नहीं होगा ।

चाणक्य के चित्रण में नाटककार ने एक ऐसे महान् व्यक्ति का चित्रण किया है जो निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता है और लोक-हित के लिये आत्म-शुद्धि की भावना से भरा रहता है । चाणक्य की अपने शिष्य के प्रति यह उक्ति—

‘वत्स ! कार्याभिनयोग एवाऽस्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता ।’

(मुद्राराक्षस प्रथम अङ्क)

उसके आत्म-परीक्षण की सूचना देती प्रतीत होती है ।

प्राचीन कथा-साहित्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र में चाणक्य के व्यक्तित्व की यह भी एक विशेषता है कि उसे राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की सिद्धि में साधनों की नैतिकता की कोई चिन्ता नहीं सताती किन्तु ‘मुद्राराक्षस’ में चाणक्य एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित है जो संग्राम से शत्रु पर विजय

पाने की अपेक्षा अपने निःस्वार्थ व्यक्तित्व की शक्ति से शत्रु के हृदय-परिवर्तन के लिये सतत उद्यत है और अपने उद्योग में सफल है।

चाणक्य आज भी भारतीय जनता के हृदय पर अपनी स्मृति छोड़ रहा है। उसका श्रेय जितना मुद्राराक्षस में उसके चरित-चित्रण को दिया जा सकता है उतना न तो कथासाहित्य और पुराण-साहित्य को और न आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान-वार्ताओं को ही।

चाणक्य के सम्बन्ध में चन्दनदास की यह स्वगत-उक्ति—

‘फलेन संवादितमस्य विकल्थितम्।’ (मुद्राराक्षस प्रथम अङ्क)

वस्तुतः चाणक्य को आत्मश्लाघा की भावना का समाधान करती हुई उसके व्यक्तित्व की महत्ता को और भी अभिव्यक्त करती प्रतीत होती है।

मुद्राराक्षस में चाणक्य के जितने सहायक हैं जो कि उसकी नीति को कार्यकर करते हुये चित्रित किये गये हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो चाणक्य की महत्वाकांक्षा ही उनकी महत्वाकांक्षा हो और चाणक्य की कार्यसिद्धि ही उनके जीवन का उद्देश्य हो। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कई प्रकार के जो गुप्तचर और गूढ प्रणिधि बताये गये हैं उनमें शिष्य-व्यञ्जन के रूप में शार्ङ्गरव का, तापस-व्यञ्जन के रूप में जीवसिद्धि का और कर्मकर-व्यञ्जन के रूप में सिद्धार्थक का, नाटककार ने चाणक्य की कूटनीति का प्रयोग करने वालों के रूप में चित्रण किया है। चाणक्य और राक्षस में जो अन्तर है वही अन्तर चाणक्य के सहायकों और राक्षस के सहायकों में है। कौटिलीय अर्थशास्त्र यदि गुप्तचरों के प्रयोग और उपयोग का सैद्धान्तिक विवेचन करता है तो ‘मुद्राराक्षस’ साम्राज्यवाद के इन देवदूतों की व्यावहारिक रूप-रेखा रच देता है। शासन-सञ्चालन के व्यावहारिक अनुभव के कारण विशाखदत्त ने जिन नाना-व्यञ्जन गुप्तचरों को ‘मुद्राराक्षस’ की राजनीति को सफल बनाने के लिये नियुक्त किया है उनमें सबका अपना-अपना व्यक्तित्व है, जीवसिद्धि का कार्य न तो सिद्धार्थक कर सकता है और न सिद्धार्थक का जीवसिद्धि, दोनों अपने-अपने क्षेत्र के महारथी हैं।

मामुरखण भी चाणक्य का एक गुप्तचर है। किन्तु राजवंश का होने के कारण उसे अपने स्वाभिमान का भी ध्यान रखा करता है किन्तु चाणक्य की

महत्वाकांक्षा को अपना सर्वस्व मानते हुये वह अपने भावनाओं का हनन करके भी चाणक्य की कार्य-सिद्धि करना चाहता है और कर भी डालता है ।
राक्षस—

राक्षस चाणक्य का प्रतिपक्षी है । मुद्राराक्षस का नाटककार, राक्षस के जिस व्यक्तित्व का चित्रण करता है उसको अपनी विशेषतायें हैं । यदि राक्षस के ऐसा प्रतिनायक मुद्राराक्षस में न चित्रित होता तो इस नाटक में कोई आनन्द न मिलता । राक्षस के व्यक्तित्व में ही मानव-व्यक्तित्व की विविध-भावभङ्गियों का चित्रण है । मानव-हृदय की आशाओं और निराशाओं के घात-प्रतिघात में राक्षस का व्यक्तित्व अपनी स्वाभाविक महत्ता के कारण अजेय दिखायी देता है । मुद्राराक्षस के निर्बहण में राक्षस को जो मुद्रा उसके निग्रह का कारण बनती है वही उपक्रम में उसकी प्रबल शक्ति की सूचना देती है । चाणक्य के लिये राक्षस एक महान् शक्ति है, राक्षस की मुद्रा नन्दसाम्राज्य की संचालिका है इस बात का अनुभव चाणक्य को हो चुका है और इसीलिये राक्षस की मुद्रा के हाथ में आते ही चाणक्य निश्चय कर लेता है कि राक्षस मुट्ठी में आ गया । वैसे तो चाणक्य के षड्यन्त्रों की महान् सफलता राक्षस के आत्म-समर्पण तथा मौर्यसाम्राज्य के स्वयं ग्रहण की घटना में घटती दिखाई देती है किन्तु नाटककार ने चाणक्य के हाथों में राक्षस की मुद्रा के पड़ जाने की चाणक्य की मुट्ठी में राक्षस के आ जाने से जो तुलना की है उससे यही प्रतीत होता है कि राक्षस की हार उसके जीवन की एक आकस्मिक घटना है, एक अनहोनी है और राक्षस की महत्ता को घटाने के बदले बढ़ाने वाली ही है ।

राक्षस की स्वगत-उत्क्रियों अधिकाधिक इस बात का निर्देश करती है कि बाह्य-परिस्थितियों की अपेक्षा में पड़ा वह अपने अतीत में रहना चाहता है क्योंकि वर्तमान उसके लिये बड़ा कटु है । चाणक्य को अपने अतीत गौरव का इसलिये ध्यान आता रहता है क्योंकि इसके द्वारा वह अपने वर्तमान को और भी अधिक गौरवपूर्ण बनाना चाहता है । अतीत का प्रेमी व्यक्तित्व कवि का व्यक्तित्व है और वर्तमान का प्रेमी तो कर्मठ व्यक्तित्व है ही । राक्षस की विषम-परिस्थिति में उसका कवि-हृदय उसकी एकमात्र सान्त्वना है और

सहानुभूति है। यही कारण है कि यह अनुभव करते हुये भी कि—

‘पौरैरंगुलिभिर्नवेन्दुवदहं निदिश्यमानः शनै-
र्थो राजिव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रवृत्तः।
भूयः संप्रति सोहमेव नगरे तत्रैव वन्द्यश्चमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव आसाद्विशामि द्रुतम्॥’

(मुद्राराक्षस ६.१०)

राक्षस अपने आपको स्वस्थ कर पाता है और भविष्य की अज्ञात-दशाओं का सामना करने को भी सम्यग् हो जाता है।

राक्षस की वास्तविक महत्ता का जितना पता चाणक्य को है उतना संभवतः उसको भी नहीं। राक्षस तो इतना जानता है कि उसे अपने दिवंगत महाराज नन्द के स्नेह का ऋण चुकाना है और इसी भावना से उसे सर्वदा आत्मिक बल मिला करता है। वस्तुतः राक्षस की राजनीतिक महत्वाकांक्षा उसी प्रकार निःस्वार्थ है जिस प्रकार चाणक्य की राजनीतिक महत्वाकांक्षा। चाणक्य को तो अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा सर्वदा स्मरण रहती है किन्तु राक्षस अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को अपनी नन्द-भक्ति का ही रूपान्तर मानता चलता है। चाणक्य को पता है कि राक्षस का व्यक्तित्व साम्राज्य की किसी शक्ति है और इस शक्ति को अपने पक्ष में कर लेने से क्या हो सकता है। चाणक्य की यह चिन्ता—

‘अत एवास्माकं त्वत्संग्रहे यतनः कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति। कुतः—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यादभक्तियुक्तेन कः

प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम्।

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये

ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च।’

(मुद्राराक्षस १.१५)

राक्षस के व्यक्तित्व की महत्ता की छाप है।

चाणक्य यदि राक्षस से बुद्धि में बड़ा दिखाई देता है तो राक्षस चाणक्य से पराक्रम में बड़ा होता है। यह चाणक्य की राजनीतिक दृष्टि। राक्षस में कुछ कम

अंश में है तो राक्षस की दण्डनायन-शक्ति चाणक्य में बिलकुल नहीं। राक्षस की सैन्य संग्रह-शक्ति और स्वयं सैन्य संचालन-शक्ति के ही डर से चाणक्य संग्राम में राक्षस को जीतने की बात न सोचकर दाव-पेंच में उसे फंसाकर वशीभूत करना चाहता है।

राक्षस के हृदय में मनुष्य के हृदय का अटूट विश्वास भरा है किन्तु चाणक्य यह मानना भी नहीं चाहता कि मनुष्य का हृदय बया होता है और कैसा होता है। राक्षस जीवसिद्धि को परम स्नेहभाजन समझता है, सिद्धार्थक को भी प्रियमुहूर्द मानता है और शकटदास पर क्षुब्ध होने पर भी मनुष्य के हृदय की कोमलता का ध्यान आते ही उसे क्षमा भी कर देता है। चाणक्य को किसी पर विश्वास नहीं, उसे केवल अपने पर विश्वास है, अपनी बुद्धि का और कर्तव्य-परायणता का विश्वास है। जो बात राक्षस को हार का कारण है वह उसके हृदय की भावुकता है और इसी का अभाव है चाणक्य की जीत का कारण।

ऐसा प्रतीत होता है कि राक्षस भाग्यवादी है और चाणक्य कट्टर पौरुषवादी। किन्तु राक्षस का भाग्य को कोसना केवल उसकी भाग्यवादिता का परिणाम नहीं अपितु एक पुरुषार्थी व्यक्ति की, विषम परिस्थितियों की मुठ-भेड़ में, आत्मरक्षा और आत्मोद्देश्य रक्षा की निराशा का परिणाम है। राक्षस निराशा के चक्रव्यूह में पड़ा हुआ हाथ-पैर पटक रहा है किन्तु आत्म-समर्पण करना नहीं जानता।

राक्षस का आत्म-समर्पण भी उसके व्यक्तित्व की महत्ता की ही सूचना देता है। राक्षस अपने लिये नहीं अपितु चन्दनदास की मित्रता को अमर बनाने के लिये आत्म-समर्पण को भी अपना कर्तव्य मान लेता है। राक्षस एक ऐसा व्यक्ति है जो बाह्यद्वन्द्व और साथ ही साथ अन्तर्द्वन्द्व में निरन्तर पड़ा हुआ भी महान् बना रहता है।

राक्षस के सहायक उसकी सहायता अवश्य करने वाले हैं किन्तु उनमें वह कर्तव्य-निष्ठा और महत्वाकांक्षा नहीं जो कि चाणक्य के सहायकों में है। विराधगुप्त राक्षस का विश्वासपात्र गुप्तचर है किन्तु उसके मन में चाणक्य की जीत का सदैव सदा घर किये रहता है—

‘कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धसूति मन्ये स्थिरां मौयंतृपस्य लक्ष्मीम्।

उपायहस्तैरपि राक्षसेन निकृष्यमाणामिव लक्ष्यामि ॥’ (मुद्राराक्षस २.२)

शकटदास राक्षस का परम विश्वास-भाजन लेखाध्यक्ष है किन्तु लोगों पर राक्षस का जैसा सहज विश्वास है वैसे ही विश्वास के कारण शकटदास भी एक ऐसी गलती कर बैठता है अर्थात् सिद्धार्थक पर विश्वास कर चाणक्य का कूट-लेख लिख देता है जो राक्षस के महान् प्रयत्न को अकिंचित्कर बना डालती है। राक्षस के अन्य सहायक वैतालिक, करभक इत्यादि अपना-अपना कार्य तो अवश्य करते हैं किन्तु उनके हृदय में राक्षस के उद्देश्यों की सिद्धि की वह उत्सुकता और महत्वाकांक्षा नहीं जो कि चाणक्य के छोटे सहायकों में भी कूट-कूट कर भरी है।

राक्षस का अभिन्न मित्र चन्दनदास मित्रता निभाने के लिये अपने ऊपर प्राणसंकट भी सहर्ष भेले लेता है। चन्दन दास का व्यक्तित्व अपने आप में महान् है किन्तु राक्षस की हार का एक कारण चन्दनदास के स्नेह-बन्धन का निर्वाह भी है। राक्षस का व्यक्तित्व विविध भावनाओं के कुक्षेत्र में गिरते-सम्वहलते अन्त में अपनी स्वाभाविक महत्ता की स्मृति छोड़ जाता है।

चन्द्रगुप्त—

चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक नहीं, इसलिये इसका व्यक्तित्व नाटककार ने इस दृष्टि से चित्रित किया है कि नायक चाणक्य की महत्ता पर कोई आँच न आ सके। मुद्राराक्षस का चन्द्रगुप्त चाणक्य की राजनीति का सच्चा होता हुआ स्वप्न है। कौटिलीय अर्थशास्त्र जिस आदर्श विजिगीषु राजराजेश्वर की कल्पना करता है मुद्राराक्षस का नाटककार चन्द्रगुप्त के रूप में उसका साकार जीवित रूप खड़ा कर देता है चन्द्रगुप्त की यह स्वगत उक्ति—

‘इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते

त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरंकुशः।

धिनयस्त्वयत्स्मात्सन्तः सदैव निरंकुशः

परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥’ (मुद्राराक्षस ३.६)

उसकी जिस आत्म-विजय की सूचना देती है उसी के सहारे चाणक्य उसके बाह्यशत्रुओं का दमन और प्रशमन करने में समर्थ होता है। साम्राज्य

की प्रतिष्ठा के लिये चन्द्रगुप्त अपनी भावनाओं का दमन करते हुये चित्रित किया गया है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त में जो देखना चाहा है उसी का प्रदर्शन नाटककार अपने नाटक के चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में करना चाहता है। मुद्रा-राक्षस में चन्द्रगुप्त के लिये 'वृषल' पद का प्रयोग है। यहाँ 'वृषल' शब्द शूद्र अर्थ का वाचक नहीं अपितु 'महान्' अर्थ का वाचक है और स्नेहसूचक है। 'वृषल' वह है जो कि 'राज्ञां विषः' हो राजराजेश्वर हो और राजाओं में महान् हो। चाणक्य की यह उक्ति—

‘नन्दैवियुक्तमनपेक्षितराजराजैरध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।

सिंहासनं सदृशपार्थिवसंगतञ्च प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममेते ॥’

(मुद्राराक्षस ३. १८)

चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' अथवा 'महान्' सिद्ध करती है। चाणक्य स्नेहभाव से भी कभी-कभी चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहता है चन्द्रगुप्त यदि वृषल—महान् न होता तो अशोक प्रियदर्शी भी कैसे हो पाता

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि चन्द्रगुप्त को विशाखदत्त ने उसके वास्तविक मौर्यसम्राट के रूप में नहीं चित्रित किया और ऐसा चित्रित किया जो उसके महान् ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। किन्तु नाटककार की आँखों से यदि हम देखें तो चन्द्रगुप्त के इस चित्रण में उसके व्यक्तित्व की कुछ ऐसी विशेषतायें झलक उठती हैं जिन्हें इतिहास नहीं देखना जानता अथवा नहीं देखना चाहता। विशाखदत्त का चन्द्रगुप्त विजयो मौर्य-सम्राट के रूप में भले ही न दिखाई दे किन्तु मौर्य-साम्राज्य के कुशल शासक के रूप में दिखाई ही देता है। मुद्राराक्षस का नाटककार मन्त्राधिकार की महत्ता के बाद ही बलाधिकार का महत्व मानता है।

मलयकेतु—

मलयकेतु के व्यक्तित्व का नाटककार ने ऐसा चित्रण किया है जिससे चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व की विशेषता की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्टरूप से हो सके। जहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य और शास्त्र प्रकृति का है, वहाँ मलयकेतु उद्धत और क्षशान्त प्रकृति का। मलयकेतु एक विजिगीषु राजकुमार है किन्तु अविवेकी है

और भावावेश में बिना परिणाम सोचे-समझे काम करनेवाला व्यक्ति है। राक्षस की यह उक्ति—

द्रव्यं जिगोषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा ।

अद्रव्यमेत्य तु विशुद्धनयोऽपि मन्त्री शीर्णाभयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥

(मुद्राराक्षस ७. १४)

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के विभिन्न व्यक्तित्व को स्पष्ट कर देती है। मलयकेतु में साहस और पराक्रम की कमी नहीं। मलयकेतु का धीरोद्धत स्वभाव उसकी इस अमरपूरण उक्ति में झलकता है :—

‘विष्णुगुप्तं च मौर्यं च सममप्यागतौ त्वया । उन्मूलयितुमीशेऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः॥

(मुद्राराक्षस ६. २२)

किन्तु उसकी विवेकशून्यता इतनी भयङ्कर है (राक्षसः—अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य) कि उसका पतन अवश्यभावी है और होकर रहता है।

११. नाटककार की रचना—शैली

मुद्राराक्षस के वस्तु-चरित-रस-भावादि की दृष्टि से विशाखदत्त की रचना-शैली की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। विशाखदत्त की शैली में जो औचित्य है उसी का वास्तविक मूल्याङ्कन न कर सकने के कारण इस प्रकार की धारणायें हैं—

‘The author of the Mudraraks’asa was not a poet of the sphere of Bhavabhuti or Kalidasa His imagination rised not to their level and there is scarcely a brilliant or beautiful thought in the play, As some equivalent for the want of imagination, he has a vigorous perception of character and a manly stain of sentiment that are inferior only to elevated conception and delicate feeling’—(Prof. Wilson.)

अर्थात् ‘मुद्राराक्षस का रचयिता उस क्षेत्र का कवि नहीं जो कि कालिदास अथवा भवभूति की कविता का क्षेत्र है। मुद्राराक्षस के नाटककार की कल्पना

भला कालिदास और भवभूति की कल्पना की उड़ान क्या जाने ! मुद्राराक्षस में न तो कोई चमत्कारपूर्ण उक्ति है और न कोई काव्यमय भावाभिव्यञ्जन । केवल चरित-निरीक्षण और चरित-चित्रण की ही एक मात्र ऐसी शक्ति विशाखदत्त के पास है जो किसी प्रकार मुद्राराक्षस को हमारी उपेक्षाओं से बचा लेती है ।' ऐसा मत विशाखदत्त के सम्बन्ध में लोग रखते आ रहे हैं । किन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो यह निश्चय है कि हम विशाखदत्त की वैयक्तिक विशेषताओं से प्रभावित उनकी रचना-शैली को कालिदास और भवभूति की तुलना में लाना ठीक नहीं समझेंगे । कालिदास और भवभूति के काव्य संसार की कल्पना भला विशाखदत्त में कहाँ ! किन्तु विशाखदत्त की भी जो नाट्य-कल्पना है उसका भी दर्शन कालिदास और भवभूति में नहीं । तीनों का अपना-अपना जीवित-जागृत व्यक्तित्व है और उसके अभिव्यञ्जन की उनकी अपनी-अपनी शक्तियाँ हैं और अपने-अपने साधन हैं ।

विशाखदत्त ने नाटक की रचना की है और नाटकीय औचित्य की दृष्टि से या तो काव्य-कल्पनाओं को दूर ही रखा है या नाटक के रंग में रंग दिया है । उदाहरण के लिये मलयकेतु के कञ्चुकी की यह उक्ति —

‘धामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि ।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवञ्चनाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥’

(मुद्राराक्षस २.९)

ऐसी है जिसमें नाटककार की कवि-कल्पना की कोई रूप-रेखा भले ही न दिखाई दे किन्तु नाटकीय वृत्त-और चरित की अभिव्यञ्जना बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है । इसी प्रकार शकटदास की यह भावाभिव्यक्ति—

‘दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपवं शूलं धरिष्यास्तले
तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथिनीमुन्मुच्य व्यलजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरोद्रविषमानाध्माततूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥’

नाटककार की काव्य-कल्पना की उड़ान का उदाहरण भले ही न हो किन्तु उसके नाटकीय औचित्य की सतर्कता का दृष्टान्त अवश्य है।

जीर्णोद्यान में राक्षस की जो स्वगत-उक्ति है उसमें एक निराश महान् व्यक्तित्व की प्रकृति के साथ एकमयता और एकलयता का जैसा चित्रण है उसकी विशेषता कविकल्पनाओं और काव्य-भावनाओं की विशेषता भले ही न हो किन्तु समुचित भावा-भिव्यक्ति में देजोड़ ही है।

नाटककार की रुचि 'भङ्गी-भणिति' में उतनी नहीं है जितनी अपने विचारों, भावों और अपने नाटक की विविध परिस्थितियों के समीचीन प्रकाशन में। नाटककार के कतिपय शब्द-प्रयोग जो विचित्र से लगते हैं इसीलिये ऐसे लगते हैं क्योंकि वह कवि-समय की शब्दावली की अपेक्षा अपनी उचित शब्दा-वाली के उपयोग को ही अपने उद्देश्य का साधक मानता है। अलङ्कारों की विविधता और चमत्कारिता के स्थान पर मुद्राराक्षस में उनकी रस-भावा-भिव्यञ्जना की उपादेयता का ध्यान अधिक दिया गया है। चाहे गद्य हो अथवा पद्य हो दोनों में नाटककार की दृष्टि आडम्बर से विमुक्त और औचित्य की ओर उन्मुख दिखाई देती है। विराधगुप्त के संभाषण में जो समस्त पदावली का प्रयोग है उसकी भी एक अपनी विशेषता और उपादेयता है। विराधगुप्त कुसुमपुर के अतीत वृत्तान्त के वर्णन में राक्षस के हृदय पर प्राचीन अनुभवों का पृथक् २ पूरा चित्र उतारना चाहता है और इसमें असमस्त पद-प्रयोग के द्वारा यदि शैथिल्य प्रतीत होता तो समस्त पद-योजना से जैसी कि यहाँ है पुष्टता प्रतीत होती है। नाटककार की भाषा नाटक के व्यक्तित्वों के भावावेश में कभी स्वभावोक्ति से भरी है तो कभी वक्रोक्ति की ओर भी उन्मुख है। भाषा यहाँ भावों पर आधिपत्य नहीं जमाती अपितु भाव ही भाषा पर अपना अधिकार रखते प्रतीत होते हैं।

नाटककार ने नाट्य-रचना के अङ्गों और उपाङ्गों का नाटक-प्रबन्ध के चतुरस्र निर्माण की दृष्टि से ही उपयोग किया है न कि नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी पाणिडित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से।

कभी-कभी तो एक शब्द के प्रयोग-मात्र से ही नाटककार अधिकाधिक अभिप्राय प्रकाशित करने में समर्थ दिखाई देता है। उदाहरण के लिये राक्षस

की यह उक्ति—

‘सत्यं नगरान्निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं’ गृहीता ।’
में ‘ब्राह्मण्या’ शब्द ग्राम्य प्रतीत होने पर भी राक्षस के हृदय की समस्त
करुणा और वेदना का घनीभूत निष्पन्द सा ही लगता है ।

नाटककार की भाषा उसकी नहीं अपितु उसकी प्रतिभा से उत्पादित
जितने भी चरित हैं उनके अपने २ व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाली उनकी
अपनी २ भाषा है । चन्दनदास के बालक पुत्र की यह उक्ति—

‘तात ! इदमपि भणितव्यं किं कुलधर्मः खल्वेषोऽस्माकम्—’ (मुद्राराक्षस अंक ७)

जितनी संक्षिप्त और अनलङ्कृत है उतनी ही भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी भी ।

मुद्राराक्षस का नाटककार ‘पताकास्थानक’ की रचना करने में बड़ा पटु
है । पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में जिसे Dramatic Irony (नाटकीय
व्यङ्ग्य) कहते हैं उसी के लिये भारतीय नाट्य-साहित्य में ‘पताकास्थानक’
की योजना हुआ करती है । मुद्राराक्षस की संस्कृत व्याख्या में इसका यथास्थान
विचार किया जायगा ।

नाटककार की छन्दो-योजना के सम्बन्ध में इतना जानना आवश्यक है
कि कोई भी छन्द किसी भी विषय के प्रकाशन के माध्यम के रूप में यों ही
प्रयुक्त नहीं हुआ है—अपितु किसी औचित्य की दृष्टि से और किसी औचित्य
की सिद्धि के लिये । ‘स्रग्धरा’ (‘अभिनयानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा
कीर्तितेयम्’) छन्द का प्रयोग १७ स्थानों पर नाटककार ने किया है उनके
विषय की दृष्टि से उसका औचित्य सर्वथा श्लाघनीय है । जैसे कि प्रथम और
द्वितीय नान्दी-श्लोक में ‘शिव के शाठ्य’ और ‘ताण्डव नट के नृत्ताभिनय’ का
गंभीर और असाधारण विषय जिसे गंभीर संगीत की ध्वनि में अभिव्यक्त
होना है यदि किसी छन्द की अपेक्षा करता है तो स्रग्धरा-छन्द की ही क्योंकि
स्रग्धरा की गंभीर लय-लहरी ही ऐसे वातावरण की सृष्टि कर सकती है ।
‘शार्दूलविक्रीडित’ (सूर्यारवैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्) २८ बार
व्यवहृत है । ‘श्यामोक्त्याननेन्दुन्’ इत्यादि का भाव ‘शार्दूलविक्रीडित’ छन्द
के बदले यदि अन्य किसी छन्द के द्वारा प्रकट किया गया होता तो संभवतः

चाणक्य का गंभीर अमर्ष उतनी प्रबलता और गंभीरता से नहीं निकल पाता जितनी प्रबलता और गंभीरता से इसमें निकलता दिखाई देता है ।

मलयकेतु के उद्धत स्वभाव की जो अभिव्यक्ति 'उत्ताङ्गास्तुङ्गकूलम्'... इत्यादि में हुई है उसका छन्द स्रग्धरा का ही एक प्रस्तार विशेष है जिसे 'सुवदना' कहा जाता है और इसके प्रयोग पर कोई भी मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकता । उद्धत व्यक्ति-उचितानुचित विवेक से शून्य व्यक्ति अपनी बातचीत में भी तो अनौचित्य ही प्रकट करता है । नाटककार स्रग्धरा के प्रस्तार में से एक अक्षर को कम कर कितनी सुन्दरता से मलयकेतु के उद्धतव्यक्तित्व के अनुरूप 'सुवदना'-छन्द का प्रयोग कर डालता है ।

छन्दो-योजना का औचित्य अन्य छन्दों में भी जैसे कि—आर्या, शिखरिणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका—इत्यादि में यथा-प्रसङ्ग स्वयं देखा जा सकता है ।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि विशाखदत्त की नाटक-प्रबन्ध-रचना की सफलता एकमात्र उसकी औचित्य-दृष्टि और उसकी प्रबलशक्ति पर निर्भर है ।

‘औचित्यं नाट्यजीवितम्’

॥ श्रीः ॥

मुद्राराक्षस-नाटकम्

सानुवादः 'शशिकला'-व्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला किन्नु नामैतदस्या

वन्दे वात्सल्यमहितं श्रीसुब्रह्मण्यदेशिकम् ।

नाट्यभावनयोऽज्ञोऽयं यत्कृपातः प्रतन्यते ॥

अथ तत्रभवान् विशाखदत्तनामा महाकविः प्राच्यभारतीयैतिह्यप्रसिद्धं मौर्य-
साम्राज्यप्रतिष्ठापनवृत्तं स्वोपज्ञेन मुद्राराक्षसनामधेयेन नाटकेन निनाटयिपुरादौ
तावन्नाटकीयस्य वस्तुसार्थस्य प्रसङ्गाय पूर्वैरङ्गाङ्गभूतां नान्दीं निबध्नन्नाह—
धन्या केयमित्यादि । तदिदमाद्यं नान्दीपद्यं महाकवेरस्य 'पार्वतीपरमेश्वरयोर्निविद्धं
कञ्चन भक्तिवन्धं कयाचन नवयैव विधयाऽऽविःकुर्वत्सहृदयैर्हृदयङ्गमीकर्तुमलम् ।
तथाहि विभोर्विशेषेण भवितुं शीलस्य शक्तिमतश्शिवस्य शाठ्यं, स्वशक्तिभूतायां
प्राणेभ्योऽपि प्रियायामाचरितः प्रणयकलहो वस्सामाजिकानव्याद् भगवतो दौर्ल-
भ्यादिशङ्कातङ्कात् परिरक्षतादिति भावः । यथा मनुजस्य तथैव कूटस्थस्यापि देवाधि-
देवस्य हृदयभूमौ प्रेमा प्ररोहति पुष्प्यति फलति च तैस्तैरानुपङ्गिकैर्भावैरिति भवत
सहृदयाः ! शिवैकतानाश्शिवरूपाश्चेति रहस्यम् । कीदृशमिदं प्रेमशाठ्यं सहजं
कल्पितं वेति चेत्सहजमिति, यत्स्वरूपं हि भगवतोऽर्द्धनारीश्वरस्य गङ्गामुत्तमाङ्ग-
मधितस्थुषीमनुसोदमानस्य स्वप्रियतमायाश्शिवया वामाङ्गभूताया हृदीर्ष्याविप्र-
लम्भबीजारोपणं नान्यत् किञ्चन जगत्कुटुम्बविघटनादिरूपमिति । तथाहि—शिरो-
विभूषयन्तीं गङ्गामुद्दिश्येर्ष्याकवलिताऽन्तरा पार्वती पृच्छति—अयि विभो !

(देवो पार्वती-) अरे ! यह कौन सी सौभाग्यवती है जो आपके सिर पर विराजमान
बैठी है ? (भगवान् शिव-) यह चन्द्रकला है (पार्वती-) क्या 'चन्द्रकला' इसका नाम

नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ।

नारीं पृच्छामि नेन्दुं, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-

दैव्या निहोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥ १ ॥

ते तव मदङ्घ्रिनारीश्वरस्य शिरसि केयं धन्या सुभगम्मन्या प्रलोभिका वा नारी स्थिता दृश्यत इति, निश्शङ्कं गङ्गां निहोतुकामो वक्ति शिवः—अयि प्रिये ! नेयं काचन धन्याऽधन्या वा । इयं तु शशिकलामच्छिरोमौलिभूता चन्द्रमस एव चन्द्र-केति । वाक्छलेनाऽनेन सामर्पा पुनः प्रश्नयति देवी—किमस्याः कस्याश्चन सुभगायाः भवन्मनोरञ्जनं नामाभिधानमेवैतत् सर्वैरविदितं च भवतैवेति दृढं तत् समादधानो वक्ति देवः—अयि ! मानिनि ! तदेतच्छशिकलेति रूपमस्याः नामैव यादृच्छिकं किमप्यभिधानं नाऽन्यत् किञ्चन मत्प्रेमाह्वानरूपं गूढं वचः । ते तवेदं सर्वं परिचितमपि विदितपूर्वमपि । कस्य हेतोः कस्मात् कारणादिदं विस्मृतमित्येव महदाश्चर्यम् । निरुत्तरा पार्वती नितरामधिष्ठिता कयाप्युग्रतया वदति—अयि देव ! नारीमिमां भवतः पुंभूतस्य नायिकां पृच्छामि नेन्दुं न शशिकलां परिचितामिमां पृच्छामि त्वामिति । प्रियां प्रसादयन् निगूहितगङ्गाभावो भृशं मनसि ग्रह्ण्यन् प्रतिवदति देवः—अयि रोपणे ! अकारणकोपने ! यदी-

है ? (शिव-) इसका यही नाम है और तुम इससे परिचित भी हो, किन्तु न जाने आज क्यों भूल गयी । (पार्वती-) मैं आपके मस्तक पर बैठी नारी के विषय में पूछ रही हूँ चन्द्रकला के विषय में नहीं ! (शिव-) यदि तुम्हें मेरी इस बात पर कि यह चन्द्रकला है विश्वास नहीं, तो विजया से ही पूछ लो !—इस प्रकार देवी पार्वती (के ईर्ष्या-कोप) से (अपने मस्तक पर विराजने वाली) भगवती गङ्गा को बचाने के इच्छुक भगवान् शिव का यह प्रेम-शाठ्य आप (सामाजिकों) की सदा रक्षा किया करे ।

अभिप्राय—यहाँ नाटककार की कल्पना निर्द्वन्द्व शिव में प्रेम-द्वन्द्व की उद्भावना कर रही है जिससे इस नाटक के वृत्त, चरित और रसभाव की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना हो जाती है । यहाँ वीतराग महादेव एक 'शठनायक' के रूप में—इसलिये चित्रित हैं जिससे इन्हें देखने वाले उसे देख सकें जो इस नाटक का चरितनायक है और जिसके वीतराग व्यक्तित्व में धर्मनीति और कूटनीति का प्रेम-द्वन्द्व छिड़ा हुआ है । यही द्वन्द्व इस नाटक के घटना-चक्र को चलाने वाला है और इससे सम्बद्ध मनोभाव ही इस नाटक के रस-भाव के प्राण हैं । इस नान्दी-पद का उद्देश्य केवल सामाजिकों का मनोरञ्जन नहीं है अपि तु इस नाटक के अन्तर्हृदय का प्रकाशन है ॥ १ ॥

न्दुरयं यस्य शशिकलेति मद्बचो न प्रमाणं न विश्वासावहं भवत्यास्तर्हि भवत्सखी विजयैव पृच्छयताम् सैव कथयतु समादधातु भवत्याः गङ्गाविपयिणीं मत्प्रणयशङ्कामिति । इत्थं यशिशवः शठनायकायमान एकतो गङ्गां कामयतेऽपरतश्च खण्डितां पार्वतीमपि प्रसादयितुं जानाति स एव सर्वविधानां जनानामातानां दृष्टानाञ्च सर्वसंतापनिर्वापणाय समर्थो जयति, स एव वन्द्यस्स एव स्तुत्यस्स एव परमसुलभ इति ॥

टिप्पणी—(१) नान्दीपद्येऽत्र शिवस्य शाठ्यमुद्भावयतोऽस्य नाटककवेरस्ति कश्चन नाटकहृदयाविक्रणनसंरम्भस्स तु किंरूप इति विचारणीयः । नाटकस्यास्य प्राचीनसंस्कृतव्याख्यायां श्रीदुण्डिराजव्यासयज्वकृतायां नान्दीपद्ये ध्वनिरेवरूपः प्रदर्शितः—

“उमा सत्त्वप्रधानत्वाद्भुनीतितयेष्यते ।

गङ्गाकुटिलगामित्वात् कुटिला नीतिरिष्यते ॥

तां धर्मनीतेर्निहूय प्रपञ्चयितुमुत्सुकः ।

चाणक्योऽद्भुतधीरत्र विभुशब्देन सूचितः ।”

अस्त्येवंविधोऽत्र ध्वनिः । किन्तु ध्वनिरयं टीकाकृतो दुण्डिराजस्य वचनान्तरेण तिरस्कृत इव भाति । तथाहि—

‘सचिवायत्तसिद्धित्वात्, पौरुषं स्वमदर्शयन् ।

गभीरात्मा चन्द्रगुप्तो धीरोदात्तोऽत्र नायकः ॥’

इति यदुच्यते तद् ध्वनेरस्य तिरस्कारपात्रतामेव ध्वनति । वस्तुतस्तु नाटकस्यास्य विभुश्चाणक्यो न चन्द्रगुप्तस्तथा च तद्वृत्तचरितभावादिविषयकेणैव ध्वनिनाऽत्र भवितव्यं तेनैव नान्दीसाफलयात् सहृदयहृदयानुरञ्जनाच्च । अतो या हि ध्वनिदिगत्रानुधावनमर्हति सा त्वेवंस्वरूपा—चाणक्यः खलु नायको जयति यस्य प्राणेभ्योऽपि प्रिया कूटराजनीतिसहधर्मचारिणीव विराजते । सेयं राजनीतिश्चाणक्यं राजलक्ष्मीप्रणयिनमिव निध्यायन्तीर्ष्याकषायिता कुप्यति निरीहाय स्वप्रियाय चाणक्याय । चाणक्यस्तु धीरगभीरस्त्वकूटदुद्धावेव निभृतं रन्तुकामस्तत्प्रसादनाय विजयलक्ष्मीं तत्सहचरिं प्रमाणयन् चन्द्रगुप्तराजलक्ष्मीविषयकं तत्कोपं प्रशमयितुं महच्चातुर्यमाचरति । इत्थमनवद्यमिमं ध्वनिमनुध्यायतां सहृदयानां नाटकेऽत्र भवति कश्चन मनस्कारो येनैतेन नाटककविना सह समानहृदयतामादधाना रसयन्ति रसिकाः नाटकीयं सर्वमर्थजातमिति ।

(२) नान्दीपद्येऽत्र ध्वनौ पूर्वोक्ते प्रकाशमाने टीकाकृतां श्रीदुण्डिराजयज्वनां वक्रोक्तिदर्शनश्रद्धा न साधीयसी, अर्वाचीनानां व्याख्याकृतां च केपाञ्चन व्याजोक्तिदृष्टिरप्यत्र न संतोषावहा वाच्योपकारिका इमेऽलङ्कारा यदि नान्दीपद्येऽत्र

अपि च—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैदपातैः

सङ्कोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।

दृश्यन्ते नाम, प्रकामं दृष्टिविषयीक्रियन्ताम् किन्त्वलङ्कार्यै स्फुटं प्रतीतिपथमायाति तन्निरूपणमेव श्रद्धावहं कविहृदयसंमतञ्चेति विभावनीयं सहृदयैस्सुतरामित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

पूर्वस्मिन् नान्दीपद्येऽर्धनारीश्वरं परमेश्वरं स्तुवंस्तदेकतानो नाटककविस्तमेव ताण्डवनटरूपिणं पुनस्तुष्टूपक्षाह—पादस्याविर्भवन्तीमित्यादि । तदिदमपरं नान्दीपद्यं पूर्वपद्यध्वनिमेवाऽपरया वर्णनाविच्छिन्नया प्रस्तावयत् कासपि शोभां विभ्रद्भिभाव्यते सहृदयैस्तथाहि त्रिपुरविजयिनस्त्रिपुरान्तकस्य रौद्रं रसमभिनयतः महादेवस्य महानटस्य दुःखनृत्तं नियन्त्रिताङ्गहारादिस्वाच्छन्द्यं कृच्छ्रसाध्यं नटनं वस्सामाजिकान् सर्वान् पातु भगवतो दौर्मनस्यादिचिन्तासन्तापाद्रक्षत्विति भावः । ननु रौद्रं रसमभिनयतो भगवतः किं कृतं निरुद्धस्वातन्त्र्यं नृत्तमिदमिति चेत् ? इतीत्थं प्रकारेणाऽधारस्य नृत्तक्रियाश्रयस्य रङ्गतद्वर्तिततद्वस्तुजातस्याऽनुरोधात् संरक्षणसंरम्भादिति । तथाहि पादस्य स्वैरपातैस्स्वच्छन्दतया समास्फालनैराविर्भवन्तीमाविर्भविष्यमाणामवनेनृत्ताधारभूतायाः भुवोऽवनतिं न्यग्भावं खण्डनं वा रक्षतः परिहरतः परिजिहीर्षतो वेति भूलोकमनुरन्धानस्य, तथा च सर्वलोकातिगानां सर्वान् लोकानतिक्रम्य गच्छतां जिगमिपतां वा दोष्णां भुजानां

और भी—

नृत्य करते अपने चरणों के स्वच्छन्द प्रक्षेप से, रसातल में धँस जाने की संभावना से पृथिवी को बचाते रहने वाले, समस्त लोकों का अतिक्रमण करने वाली अपनी भुजाओं को (ग्रहमण्डल को बचाने के लिये) सिकोड़ कर नचाने वाले और अग्निस्फुल्लिङ्ग की वर्षा करने वाली अपनी भयङ्कर दृष्टि को, पदार्थ मात्र के विध्वंस के भय से, एक स्थान पर स्थिररूप से नहीं रखने वाले त्रिपुरान्तक शङ्कर का ताण्डव, जो अभिनय के आधार (रङ्गपीठ—पृथिवी लोक, रङ्गमण्डप—अन्तरिक्ष लोक तथा रङ्गस्थ सामाजिक समस्त स्थावर जंगम जीव) की रक्षा के कारण बड़ा कष्टसाध्य हुआ करता है, आप सामाजिकों का कल्याण करता रहे ।

अभिप्राय—इस दूसरे नान्दी-पद में नाटककार ने त्रिपुरान्तक शिव के दुःखसाध्य ताण्डव में चरितनायक चाणक्य के नीति-ताण्डव की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है । साथ ही साथ दोनों की लोककल्याण-भावना को भी रहस्य प्रकट किया है । इस प्रकार की भाव-

दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतां दाहभीते-

सङ्कोचेनैव निरुद्धप्रसरेणैव मुहुरभिनयतः करणमङ्गहारं वा प्रदर्शयत इति लोकान्तरमनुबन्धानस्य, किम्बहुना दाहभीतेः दृष्टिपथमायातानि तत्तत्स्थिरत्रासविभक्तिमन्ति भावजातानि मा भूवन् भस्मसादिति धियोग्रज्वलनकणमुचमुग्रान् प्रलयङ्करान् ज्वलनकणान् वह्निविस्फुलिङ्गान् मुञ्चतीति तथाभूतां दृष्टिं लक्ष्येषु दृगभिनयक्रियोपकरणभूतेषु तेषु तेषु वस्तुषु न बध्नतः न स्थिरं निक्षिपत इति सर्वं वस्तुजातमनुबन्धानस्येदं महानटस्य दुःखदात् नृत्तं लोकान्, पातु पृणातु प्रीणातु चेति निध्यायत सहृदया नटराजमेव लोकमृगं स्वहृदयरङ्गवर्तिनमिति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) पूर्वत्र नान्दीपद्ये नायकस्य चाणक्यस्य वीतरागस्यापि हृदयमन्तःपुरं परिकल्प्य राजनीतिराजलक्ष्योः प्रभुशक्तिमन्त्रशक्त्योर्वा तत्र सापत्न्यमुद्भाव्य कविरयं कमपि कल्पनाचमत्कारमातताना। अत्र तु नान्दीपद्ये चाणक्योऽयं नायकस्त्वसुखनिरभिलापः घृतलोककल्याणव्रतः कश्चन महापुरुष उद्धतोऽप्युदात्त इत्यादि वस्तुसम्पदं स्फुटं द्योतयति कविः। अथ च त्रिपुरान्तकेन ताण्डवं नटता किमपि साधर्म्यमप्यस्य सुष्ठु प्रत्याययति। वस्तुतस्तूत्तरत्र तृतीयाङ्के यद् भङ्ग्यन्तरेण वर्ण्यते यथाहि—

‘मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या।

सञ्ज्ञातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥’ इत्यत्र

तदेवात्र ध्वनिविषयतां नीयत इति ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः किमपि प्रातिस्विकं रामणीयकमुन्मीलितं कविनेति सर्वं समञ्जसम्।

(२) अत्र पृथिव्यादीनामवन्त्याद्ययोगेऽपि यत्तद्योगकल्पनं तत्तु ‘सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनमिति सम्बन्धातिशयोक्तेरेव योजनम्। किन्त्वलङ्कारोऽयं न स्वस्मिन् विरमति ध्वनावेव तद्रूपलयात्। ध्वनिस्वरूपन्तु त्रिपुरान्तकनन्दान्तकयोश्शिव-चाणक्ययोरुपमानोपमेयभावादि यथोक्तं प्राक्। अलङ्कारो यद्यलङ्कार्यमलङ्कर्वीत तदैव वस्तुतोऽलङ्कारो नान्यथा। ध्वनिकृताऽलङ्कारकृतो यो ध्वनेरुपयोगोऽभिकाञ्चितः—

‘समीचय विनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्’

इत्यादि त्रुवता तत्सर्वमपि निदर्शनीकृतं प्राचा नाटककविनाऽत्रेति संतोष्यं सहृदयैः।

रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते)

(३) अत्र टीकाकृद्भिर्दुर्गिण्डराजव्यासयज्वभिः 'त्रिपुरविजयिन' इति सामिप्रायविशेषणात् 'परिकरालङ्कार' इति परिकरदर्शने या चक्षुष्मत्ताऽविष्कृता सा तु गजनिमीलिकायामेव पर्यवस्यति । कुत इति चेत् ? नाऽत्र त्रिपुरविजयिन इति पदं सामिप्रायमपि विशेषणमपि तु विशेष्यमेव विशेष्यान्तरस्यात्राऽदृष्टेः । वस्तुतस्तु पदमिदं विशेषतो व्यञ्जकं पूर्वनिर्दिष्टस्य ध्वनेः । नाटककविनाऽनेन सहाऽसमानहृदयाः सा भूम इति प्रत्यभिज्ञेयं सहृदयैर्यत्नतस्तदिदं पदम् , पदमिदं तमर्थं व्यनक्ति यं विना ध्वनिराज्यमिदं संतमसाद्यतमिव, 'स्यान्नास्तीति' शङ्कातङ्कियमिव, न किमपीव वा भवेत् ।

नान्द्यन्त इति । नान्दी तु नाटकप्रयोगात् पूर्वमनुष्ठीयमानं रङ्गप्रसादनात्मकं संगीतकमेव, नन्दयति आनन्दयति रङ्गमिति व्युत्पत्तेः । द्विविधा खलु नान्दी भवति नटकलिप्ता, नाटककृद्रचिता च । नटकलिप्ता पूर्वरङ्गनान्दी, नाटककृद्रचिता च रङ्गनान्दीति । भासादिनाटकेषु—'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार' इति संकेतदर्शनात् पूर्वरङ्गनान्दी तत्र प्रयुक्तेति गम्यते । कालिदासादिनाटकेषु तथाऽत्र च नान्दीरचनानन्तरं 'ततः प्रविशति सूत्रधार' इत्युल्लेखाद्रङ्गनान्दी कविकृता विहितेति तर्क्यते । पूर्वस्यां रङ्गप्रसादनमेव प्रधानकृत्यं काव्यार्थसूचनं भवतु सा वा भूत्, किन्तुत्तरस्यां रङ्गानन्दनं मनाक् काव्यार्थसूचनमित्युभयमपि नितरामपेक्षितम् । अत्र हि पद्यद्वयेनाष्टपदां नान्दीं 'नाटककृदभिप्रैति तत एव नाटकीय-

इसके शब्दों और इसके अर्थों—पर जितना मनन किया जाय उतना आनन्द मिलता है । ऐसी ही रचना के सम्बन्ध में ध्वनिकार के ये वचन हैं—

'सोऽर्थस्तदव्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥' (ध्वन्या० १. ८)

अर्थात् 'शब्द और अर्थ यद्यपि सर्वत्र एक ही हैं किन्तु महाकवियों ने जिन शब्दों और जिन अर्थों में अपना हृदय अभिव्यक्त किया है, उनकी पहचान सहृदयता की सबसे बड़ी पहचान है ॥ २ ॥

सूत्रधारः—अलमतिप्रसङ्गेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथा—अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य

वस्त्वादिसूचनसौकर्यादभीष्टसिद्धेश्चेति । सेयं नान्दी 'पत्रावली'ति संज्ञिता यथोक्तं नाट्यदर्पणे—

‘यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः ।

श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावली तु सा ॥’

‘श्लेषेण वा समासोक्त्ये’ति नालङ्कारपरं वचनम् श्लेषेणेति व्यङ्ग्यार्थपरत्वेनेति समासोक्त्येति शब्दार्थादिसूचनसूचितकविहृदयत्वेनेति साङ्गत्यात् ।

सूत्रधार इति । सूत्र नाटकप्रयोगानुष्ठानं धारयतीति व्युत्पत्तेः नाटकप्रयोगस्य प्राणभूतः प्रधानो नटस्सूत्रधार इति । अयमेव नटः नान्दीसूत्रधारो भूत्वा पूर्वान्दीमारचयति नान्द्यन्ते च नाटकप्रयोगस्य स्थापनां कुर्वन् स्थापकापराभिधानो नाटक-सूत्रधाररूपेण नाटकञ्चाऽऽमुख्यमाभरतवाक्यञ्चाभिनेतुं तांस्तान्नटाञ्चियुनक्ति स्वयं वा यथारुचि यथावसरञ्च प्रवर्तते । सूत्रधार एव नाटकीयसमग्रप्रयोगभरसहिष्णुर्यथोक्तमभियुक्तैः—

नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ।

छन्दोविधानतत्त्वज्ञस्तत्त्वशास्त्रविचक्षणः ॥

तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ।

अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः ॥

एवंगुणगुणोपेतस्सूत्रधारोऽऽभिधीयते ।’ इति ।

कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरिति प्रस्तावनाऽत्र क्रियते कविना यदङ्गभूता पूर्वमारभ्यते प्ररोचना तत्त्वक्षणं यथोक्तं दशरूपककृता—‘उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचने’ति ।

नान्दीविनोदेन मुकुलितनयनास्संगीतरसास्वादे लीनमनसस्सभ्याः यदि नाटककृता नोन्मुखीक्रियेरन् कयाचन विधया कुतस्तरां नाटकप्रयोगः प्रारभ्येत । नाटककवेरियं विधा प्ररोचनेति निगद्यते । अस्यां हि कविः कथानायकस्य, स्वस्य सभ्यानां नटानां, देशकालादेर्वा तथा प्रशंसामारचयति यथाऽऽष्टास्सामाजिकाः नाटकप्रयोगदर्शनाय दत्तचित्तास्सम्पद्यन्ते । अत्र हि कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरिति

सूत्रधार—नान्दी—गान बंद करो । सामाजिकों की आज्ञा है कि आज सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा ‘महाराज’ पद से विभूषित पृथु के पुत्र कवि विशाखदत्त की कृति ‘सुद्रारक्षस’ नाटक की अभिनय किया जाय ।

कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्' इति । यत् सत्यं काव्य-
विशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि चेत्तसि सुमहान् परितोषः
प्रादुर्भवति । कुतः—

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।

न शालेः स्तम्बकरिता वपुर्गुणमपेक्षते ॥ ३ ॥

पूर्वं नाटककृत् स्वमात्मानमेव स्वकृतिं द्वारीकृत्य प्रकाशयति । मुद्राराक्षसं नाम
नाटकमिति तु दशरूपकेषु किंविधं रूपकं किं नामधेयञ्चेत्यादि कवेरभीष्टार्थप्रका-
शनं यत्तदपि प्ररोचनाविधानमेव । नाटकमिति तु रूपकेषु प्रधानतमं रूपकं 'नाट-
यति विचित्रं रञ्जनप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयती'ति व्युत्पत्तेर्यथा हि लक्षितं
नाट्यविद्भिः—

‘प्रख्यातवस्तुविषयं धीरोदात्तादिनायकम् ।

शृङ्गारवीरान्यतरप्रधानरससंश्रयम् ॥

सुखदुःखोत्पत्तिकृतं चरितं यच्च भूमुजाम् ।

इतिवृत्तं कथोद्भूतं किंचिदुत्पाद्यवस्तु च ॥

नाटकं नाम तज्ज्ञेयं रूपक'मित्यादि ।

काव्यवेदिन्यां परिषदीत्याद्यपि सभ्यप्रशंसापरा वाचोयुक्तिः प्ररोचनाप्रपञ्च
पुवेति ।

सूत्रधारस्सभ्यान् प्रशंसितुमप्रस्तुतस्य क्षेत्रादेः प्रशंसां करोति—चीयते बालिश-
स्येति । बालिशस्यापि कस्यचनाविदितबीजावापविधेरपि कृषीवलस्य सत्क्षेत्रपतिता
कृषिर्ह्यरायां क्षेत्रभुवि कृतो बीजनिक्षेपः चीयतेऽङ्कुरस्तम्बफलधान्यादिरूपेणाऽ-
भिवर्द्धत एव सुतराम् । यतो हि शालेरंकस्यापि ग्रीहिबीजस्याङ्कुररूपेणोद्भिद्यतस्त-
म्बकरिता स्तम्बं स्तोमं करोतीति ('स्तम्बशकृतोरिन् ग्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्'
इत्यनुशासनात्कर्मशब्दस्योपपदस्य करोतेरिति) स्तम्बकरिस्तस्य भावस्तत्तेति स्तो-
मीभवनयोग्यता निबिडीभवनशालिता वा वपुर्वीजनिक्षेपकर्तुर्गुणं कृषिपाण्डित्या-

वस्तुतः काव्य का मर्म जानने वाली इस परिषद् में नाटक-प्रदर्शन करते हुये मेरे
हृदय में भी बड़ा आनन्द हो रहा है । क्योंकि—

‘मूर्ख भी किसान की खेती, ऊपजाऊ खेत में बीज पड़ने पर, लह-लहा उठती है ।
धान के बीजों का गुच्छों के रूप में पनपना बाँज बोलने वाले की योग्यता की अपेक्षा नहीं
करता ॥ ३ ॥

तद्यावद् इदानीं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय गृहजनेन सह सङ्गीतक-
मनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) इमे नो गृहाः, तद्यावत् प्रवि-
शामि । (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अये तत् किमिदमस्मद्गृहेषु
महोत्सव इव दृश्यते । स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः ।

तथा हि—

वहति जलमयं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथत स्रजं विचित्राः ।
मुसलमर्दमयश्च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुङ्कतेन ॥ ४ ॥

दिकं नापेक्षते नाकाङ्क्षते प्रत्युत स्वयमेव क्षेत्रसम्पदा समृद्धिमती भवतीति भावः ।
एव खलु नटवर्गस्य कुतश्चित् खलालित्यस्यभिनयकर्मणि सहृदयसामाजिकैः कृता-
स्वादनं नाटकमिदं महते सौभगाय सम्पत्स्यत इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजन इति तु कयाचन भङ्ग्याऽभिनैतृणामत्र
नाटकप्रयोगेऽभिनिवेशस्सूचितः प्ररोचनामेव पुष्पाति ।

सूत्रधारः स्वपरिजनं तत्तत्कार्यव्यापृतं वर्णयन्नाह—वहति जलमयमिति । इयं
पुरो दृश्यमाना काचन नदी जलं वहति नद्यानां प्रसाधनात्पूर्वं करिष्यमागाय मुखा-
द्यङ्गप्रचालनायेति शेषः । इयमपरा काचन गन्धान् पिनष्टि नटनेपथ्योपयोगि
सुगन्धि द्रव्यं केसरादि सम्पादयतीति भावः । इयमन्या विचित्रास्त्रज उद्ग्रथते
नटादिभिरुपभोग्याय शोखरापीडादिकायेति शेषः । इयञ्च काचिदिदं मुसलं वर्णिका-
पेषणादिसाधनं पातकाले उल्लखले तस्य पतनोत्पतनावसरे कलेन हुङ्कृतेन श्रुति-
मधुरेण हुमिति ध्वनिना मुहुरनुयात्यसकृदनुसरन्ती दृश्यत इति भावः ॥ ४ ॥

गृहजन के साथ संगीत का आयोजन करता हूँ । (चारों ओर घूम कर घर की ओर
देखते हुए) अरे ! यही तो मेरा घर है । अच्छा भीतर चलूँ । (भीतर प्रवेश करने का
अभिनय करते, इधर-उधर देखकर) अब तो, हमारे घर में; अरे ! आज तो हमारे घर में
कोई बड़ा उत्सव सा हो रहा है, सभी अनुचर परिचर-अपने-अपने कामों में बड़े व्यस्त
दीख रहे हैं । क्योंकि—

‘एक दासी पानी ढो रही है, दूसरी सुगन्ध पीस रही है; तीसरी रंगविरंगी मालायें
गूँथ रही है और चौथी ओखल में मूसर के गिरने के साथ-साथ मधुर हुंकार भर
रही है’

भवतु कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि ।

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

गुणवत्युपायनिलये ! स्थितिहेतो ! साधिके ! त्रिवर्गस्य ।

मद्भवननीतिविद्ये ! कार्यादार्ये ! द्रुतमुपेहि ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अत्राहार्याभिनयसाकल्याय नितरामुद्युक्तानां नटादीनां स्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः शोभमानो विभाव्यते ।

नेपथ्याभिमुखमिति—नेपथ्यमिति तु जवनिकाऽत्र यथाऽवृते प्रसाधनकोष्ठे सन्नहन्ति नटास्तत्तद्वेषभूषामिरिति यथोक्तम्—‘नेपथ्यं स्याज्जवनिके’ति ।

नटीं नाटकप्रारम्भायाह्वयन् सूत्रधारः तस्या गुणस्तुत्या सभ्यौमुख्यरूपां प्ररोचनां संचिपन्नाह—गुणवतीत्यादि । अयि गुणवति ! शोभा-कान्ति-दीप्त्यादिस्वाभाविकगुणशालिनि ! उपायनिलये ! नाटकप्रयोगसाधनीभूततत्तद्व्यापारदत्ते ! स्थितिहेतो ! कुशीलवकुटुम्बसंरक्षणादिसमर्थे ! त्रिवर्गस्य साधिके ! धर्मार्थकामफलं नाटकमिह त्रिवर्गशब्देन लक्ष्यत इति नाटकामिनयस्य सम्पादनकारिणि ! मद्भवननीतिविद्ये ! अस्मद्भवनस्य रङ्गमन्दिरस्य या नीतिविद्या कार्यसम्पादि-

अच्छी बात है ! घरवाली को बुलाकर पूछता हूँ ।

(नेपथ्य की ओर देखते हुये)

‘अरी गुणों वाली ! सभी उपायों वाली ! मेरी गृहस्थी चलाने वाली ! त्रिवर्ग की सिद्धि करने वाली ! मेरे घर की नीतिविद्या ! आओ, शीघ्र आओ ॥ ५ ॥

अभिप्राय—यहाँ नाटककार सूत्रधार के द्वारा नटी के आह्वान में वस्तुतः चरितनायक चाणक्य द्वारा उसकी चिर सहचरी कूटराजनीति के आह्वान की बड़ी सुन्दर उद्भावना कर रहा है और इस आह्वान में बड़ा विचित्र और मार्मिक व्यङ्ग्य छिपा हुआ है । इस नाटक में चाणक्य की कोई नायिका नहीं क्योंकि राजनीति से उसका प्रेम इतना उत्कट है कि उसके हृदय में किसी नायिका का स्थान नहीं । वह निरन्तर अपनी चिरसंगिनी राजनीति से अपना नाता जोड़ना चाहता है । उसका गार्हस्थ्य स्वार्थसाधन के लिए नहीं, लोककल्याण के लिए है । उसकी प्रेयसी राजनीति ऐसी है जिसमें सन्धिविग्रह-अभियान-आसन-संश्रय और द्वैधीभाव के षड्गुण विराजमान हैं, साम-दाम-दण्ड और भेद के उपाय भरे हैं, धर्म-अर्थ और काम की सिद्धियाँ समर्थी हैं और जिसे राज-वैभव से मोह नहीं, अपि तु अपने प्रेमी की कुटिया (मुद्रा० ३, १५) से ही प्रेम है और उसी की प्रशंसा निभाते ही अभिलाषा है ॥ ५ ॥

नटी—(प्रविश्य) उज्जुत्त ! इअह्मि अण्णाणिओएण मं अणुगेह्मदु
अज्जो (आर्यपुत्र ! इयमस्मि, आज्ञानियोगेन मामनुगृह्णात्वार्यः)

सूत्रधारः—आर्ये ! तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः, कथय, किमद्य भवत्या

काऽभिनयादिकला तत्स्वरूपभूते ! आर्ये ! 'नटी—सूत्रधारौ मिथ आर्येति सम्बोधन-
मर्हत्' इति नाट्यानुशासनम् कार्यादविलम्बसम्पादनीय—नाटकप्रयोगहेतोर्द्रुतमुपेहि
रङ्गमञ्चं सत्वरमागच्छेति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अत्र 'ऋतुं कंचिदुपाश्रित्य भारतीं वृत्तिमाश्रये'दिति नाट्यानुशासना-
चरमनुसरद्भिटीकाकारैर्द्विद्विराजप्रभृतिभिः 'भो शरत् द्रुतमुपेहीति विजिगीषुणा
चन्द्रगुप्तेन शरदागमः प्राच्यते तन्मन्त्रिणा चाणक्येन राक्षसातिसंधानार्थं स्वकुल-
विद्यानीतिरभिमुखीक्रियत इति च ध्वनितमि'त्यादि यत्किमपि प्रकल्पितं तत्तु
नातीव मनोरमम् ।

वस्तुतस्वत्र नाटकप्रबन्धव्यापिन्याः कौटिल्यबुद्धेरेव कयाचन भङ्ग्या स्वरूप-
मुन्मील्यते । सूत्रधारो यथा नटीमत्र नाटकप्रयोगविद्यास्वरूपां निधायति तथा
खलु कौटिल्योऽप्यग्रे स्वकूटनयबुद्धिमेव समस्तयोगक्षेमसाधनीभूतां ध्यायं ध्यायं
वदति—

‘एकं केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका

नन्दोन्मूलन-दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥’ इत्यादौ,

तदिदमत्र ध्वनेः स्वरूपं यत्खलु सुतरां संगतं कविसंरम्भविषयञ्च । तथा चात्र
न श्लेषालङ्कारस्य टीकाकृद्भिः परिदृष्टस्य कोऽप्यवसरः । किन्तु 'मद्भवननीतिविद्ये'
इति पदवैशिष्ट्यमेव व्यञ्जकत्वेन नाटककविना प्रत्यभिज्ञातं समुपात्तञ्च व्यङ्ग्यार्थं
पूर्वनिर्दिष्टं स्पष्टमेव प्रत्यायतीति । किञ्चिदन्यदपि स्वारस्यमत्र । तथा हि सूत्रधृतो
भवनं नाट्यमन्दिरं महारम्भरचनं यत्र खलु रमते तन्नीतिविद्योपमा नटी । किन्तु
कौटिल्यस्य भवनं तु कुटी काचन कविनैव निर्दिष्टा—उपलशकलमित्यादि वर्णयता
यत्र रममाणा कौटिल्यसहधर्मचारिणी न काचन शरीरिणी नायिकाऽपि तु कूटनय-
बुद्धिरेवैकाऽशरीरिणीति ।

नटी—(प्रवेश कर) मैं आ गयी ! आज्ञा दो—क्या करें !

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सूत्रधार—अरी ! आज्ञा की बात छोड़ो । पहले यह बताओ कि आपने को निम्नलिखित

भगवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेनैतत् कुटुम्बकमनुगृहीतम्, अथवा अभिमता भवनमतिथयः प्राप्ताः, यत एष पाकविशेषारम्भः ?

नटी—अज्ज ! अज्ज आमन्दिदा मए भअवन्तो व्वह्मणा (आर्य ! अद्यामन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः)

सूत्रधारः—कथय कस्मिन् निमित्ते ?

नटी—उबरज्जदि किल भअवं चन्दो त्ति (उपरज्यति किल भगवान् चन्द्र इति)

सूत्रधारः—क एवमाह ?

नटी—एवं क्खु णअरवासी जणो मन्तेदि (एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयति)

सूत्रधारः—आर्ये ! कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे, तत् प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः, चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धाऽसि । पश्य,—

कूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसः पूर्णमण्डलमिदानीम् ।

अभिभ वतुमिच्छति बलाद्……(इत्यर्द्धोक्ते)

पूर्वरङ्गाङ्गभूतां सभ्यौमुख्यकारिणीं प्ररोचनां परिसमाप्य कथोद्धातप्रवर्तिकां प्रस्तावनामारभते सूत्रधारः—कूरग्रह इत्यादि । अयि ! आर्ये ! चन्द्रोपरागं प्रति

कर, आज, पूरे परिवार को क्यों कृतार्थ कर रही हो । अथवा क्या अतिथिगण घर पर पधारे हैं जिससे विशेष भोजन का आयोजन हो रहा है ।

नटी—आर्य ! आज मैंने ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया है ।

सूत्रधार—क्यों ! किसलिये ?

नटी—चन्द्रग्रहण होने वाला है ।

सूत्रधार—किसने कहा ?

नटी—नगर के सभी लोग कह रहे हैं ।

सूत्रधार—आर्ये ! मैंने चौसठ अङ्क वाले ज्योतिष-शास्त्र में परिश्रम किया है । ब्राह्मणों के लिये भोजन का आयोजन भले ही करो किन्तु चन्द्रग्रहण के विषय में किसी ने तुम्हें ठग दिया है । देखो—

‘आज वह कूरग्रह केतु (राहु) सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र को बलात् ग्रसना चाहता है (इस प्रकार आधा ही कहने पर)

प्रतारिताऽसि केनापि । यतो हि ज्योतिःशास्त्रे यदुक्तं तदनुसारेण यदि दृश्यते तदा तु क्रूरग्रहः सोऽसौ केतुरङ्गाङ्गिभावाङ्गचणया राहुरित्यर्थः, इदानीमद्य पौर्णमास्यां तिथौ पूर्णमण्डलं चन्द्रमसं बलादभिभवितुं प्रसितुमिच्छतीति तु सामान्यतस्सम्भाव्यमेव किन्तु बुधयोगस्य बुधग्रहस्य सम्बन्ध एनं चन्द्रमसं सम्भाव्यमानोपरागं रक्षति प्रासान्मोचयतीति भावः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र क्रूरग्रह इत्यारभ्याभिभवितुमिच्छति बलादित्यन्तं यद्वाक्यं तत्तु तथा रचितं यथाऽर्थान्तराक्षेपेण पात्रप्रवेशो भवेन्नाटकं च प्रयोगोन्मुखं प्रसरेत् । पात्रप्रवेशस्य विधिर्यथा—

‘वाक्यार्थसमयाह्वानैर्भावोक्तः पात्रसंक्रमः’ इति ।

अत्र नाटके नटी—सूत्रधाराभ्यां छन्दसा प्रथितस्य वाक्यस्यार्थेन हेतुभूतेन प्रधाननायकस्य चाणक्यस्य भूमिकाधारिणः पात्रस्य ‘आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलादि’ति सरोधं ससरम्भं च प्रगल्भमानस्य प्रवेशो यो नाटककृत्समीहितस्स सिध्यति । अस्यैव पात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतमस्योपादानेन प्रस्तावनायाः प्रकारभेदः कथोद्धातरूपो निर्णितः नाट्याचार्यैर्बहुभिर्लक्षितश्च यथा—

‘स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।

गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्धातो द्विधैव सः ॥’ इति ।

अत्र क्रूरग्रह इत्यादौ शब्दस्याऽभङ्गत्वाच्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमित्यादौ च तद्भङ्गत्वाच्छ्लेपालङ्कारः प्रयुक्तश्चोऽर्थान्तरस्य वाच्यायमानतया विवक्षितत्वात् । तदिदमर्थान्तरं यथा क्रूरग्रहश्चन्द्रगुप्तमभिभवितुं दुराग्रहं मानसं यस्य स राक्षसः केतुना मलयकेतुना सह संधायेदानीमस्मिन्नवसरेऽसम्पूर्णमण्डलं चन्द्रमनायकीकृताशेपराजवर्गं चन्द्रगुप्तं साम्राज्यैपिणमभिभवितुं पराभवितुमिच्छति । किन्तु बुधयोगो नयपण्डितस्य कौटिल्यस्य राजराज्ययोः कण्टकशोधनाद्युपायवर्गः एनं चन्द्रगुप्तं रक्षति पराभवाक्षिस्तारयतीति ।

किमप्यत्र विचारणीयमापतति । नटी—सूत्रधारयोर्वाक्यस्यार्थेन हेतुना चाणक्यो यदि रङ्गं प्रविशति किमप्यैतिह्यविसंवादकत्वं प्रसक्तम् । चाणक्यस्तु पुराकालवर्ती महापुरुषः । नटीसूत्रधारौ च नाटककारसमयवर्तिनौ स्यातां तत्तदेतन्नाटकाभिनयसमयकल्पितौ वा । कुतस्तरां चाणक्यस्य नटीसूत्रधृतोर्वाक्यश्रवणादि समञ्जसं संजायेत ? अत्रसमाधानदिगियम्—नाटककृताऽत्र चाणक्यस्य ‘आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलादि’ति वदत एव प्रवेशो विवक्षितः, अनयैव वाचो युक्त्या चन्द्रगुप्तव्यसनोपनिपातरूपस्य तच्चिह्नरूपस्य च बीजस्यैतन्नाटकेतिवृत्तार्थोपायस्योपपत्तेरपणात्, अस्यामेव विशिष्टायां वाचि चाणक्यस्य चरितवर्तिनः

(नेपथ्ये) आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलात् ?

सूत्रधारः—‘.....रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥ ६ ॥

नटी—अज्ज ! को उण एसो धरणिगोअरो भविअ चन्दं गहाभिजो

‘क्षेपादेरसहिष्णुत्वं तेजः प्राणात्ययेऽपि चे’ति लक्षितस्य तेजसोऽथ च ‘विघ्नेऽप्य-
चलनं स्थैर्यं प्रारम्भादपी’ति लक्षितस्य स्थैर्यस्य गुणस्य यथायथमभिव्यञ्जन-
सामर्थ्यस्य गर्भीकृतत्वात्, अत्रैव खलु चाणक्यचरितवर्णनयाऽऽग्रबन्धमभिव्यञ्जन-
विषयीकरिष्यमाणस्य वीररसस्योपयोगिनी ‘अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टते’-
त्यादिलक्षितस्यामर्षरूपस्य व्यभिचारिभावस्य स्वरूपोन्मीलनाच्च । अस्य खलु समु-
सनाटकबीजस्य वाक्यस्य प्रस्तावनाया सम्बन्धं कयाचन भङ्ग्या विदधाति कविः ।
नतु प्रस्तावनामेव तथा निर्माति तद्वतं वाक्यं शृङ्खलतश्चाणक्यस्यामर्षावेगो
विजृम्भते । वस्तुतस्तु ‘क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बला’दिति
चाणक्यवाक्ये चन्द्रगुप्तस्येति श्रुतेस्सनाम्नश्चन्द्रस्य ग्रहणादि विकल्पयन् नाटक-
कविरत्र चन्द्रोपरागादिविषयं नटीसूत्रधारवाक्याभ्यामवतारयन् कथोद्धातकारिणीं
प्रस्तावनां केनापि कौशलेनारचयतीति ।

आः क एष मयि स्थित इत्यादि—अन्तस्तिरस्करिणीसंस्थस्य चाणक्यस्य प्रस्ताव-
नायामेवोक्तं वाक्यमिदं रङ्गाभिनेयार्थं सूचयच्चूलिकारूपम् । चूलिका तु ‘वस्तुनः
सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितै’रिति । यद्यप्यन्यैर्नाटककारैः प्रस्तावनायां चूलिका
न निबद्धा किन्तु कविरयं वर्त्तिष्यमाणस्य वस्तुनस्सूचनाय प्रस्तावनायामेव चूलिकां
निबध्नन् रङ्गाभिनेयवस्त्ववतारे कमपि त्वरातिशयं प्रकाशयन् दृश्यते सामाजिकेः ।
यदि नेयं चूलिका निबध्येत विष्कम्भकादिप्रसङ्गोऽपेक्ष्येत तद्द्वारा च वृत्तस्य
नन्दविनाशरूपस्य राक्षसवशीकाररूपस्य च वस्तुनो निदर्शनं संपाद्येत । तथा
कृते नाटकं शिथिलेतिवृत्तचरितरसं पङ्गूयन् प्रचलेत् । नेदं सह्यं महाकवेर्विशा-
खस्य । अतः खलु चूलिकागर्भा प्रस्तावनाऽत्र कृता, यां समापयन् वक्ति सूत्रधारः—
कौटिल्यः कुटिलमतिस्स एष येन क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः ।

चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुतेस्सनाम्नो मौर्येन्दोर्द्विपदभियोग इत्यवैति ॥ इति ।

(नेपथ्य में) ‘अरे ! कौन है जो मेरे रहते चन्द्र का ग्रहण (चन्द्रगुप्त पर आक्रमण)
करना चाहता है ।

सूत्रधार—‘.....किन्तु बुध का योग चन्द्रमा की रक्षा कर रहा है ॥ ६ ॥

नटी—आर्य ! पृथिवी पर रहने वाला यह कौन है जो (आकाश में रहने वाले

आदो रक्खिदुं इच्छदि ? (आर्य ! कः पुनरेष धरणिगोचरो भूत्वा चन्द्रं ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति ?)

सूत्रधारः—आर्ये ! यत् सत्यं मयाऽपि न उपलक्षितो भवतु भूयो-
ऽभियुक्तः स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये । ('क्रूरग्रह.....' इत्यादि पुनः पठति)
(नेपथ्ये) आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति
बलात् ?

सूत्रधारः—(आकर्ण्य) आं ज्ञातम् !! कौटिल्यः—
(इत्यर्द्धोक्ते नटी भयं नाटयति)

सूत्रधारः—

कौटिल्यः कुटिलमति स एष येन

क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः ।

चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुते सनाम्नो

मौर्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥ ७ ॥

आः क एष इत्यादि चाणक्यवाक्यमेव विपरिणामेन योजयन्नाह सूत्रधारः—
कौटिल्य इत्यादि । समाप्यतां—प्रस्तावनेयं यतो हि कुटिलमतिः कूटनीतिज्ञः कौटिल्यः,
येन नन्दवंशः स्वक्रोधाग्नौ अस्मीकृतः स एष मौर्येन्दोश्चन्द्रगुप्तस्य मौर्यवंशचन्द्र-
मसौ द्विपता राष्ट्रसेनाभियोगोऽभिभव आस्कन्दनं वेति संभाव्य सामर्पसंरम्भः
प्रगल्भमानो दृश्यत इति भावः ॥ ७ ॥

चन्द्रमा की ग्रह (राहु) के आक्रमण से वचाना चाहता है ?

सूत्रधार—आर्ये ! मैंने भी सचमुच ध्यान नहीं दिया । ध्यान से स्वर की पहचान
करता हूँ । ('क्रूर ग्रह' इत्यादि श्लोक (नेपथ्य में) पुनः पढ़ता है)

'अरे ! कौन है जो मेरे रहते चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है ?'

सूत्रधार—(सुनकर) ओह ! पता चल गया कौटिल्य—

(आधा ही सुनते नटी भय का अभिनय करती है)

सूत्रधार—'यह तो वह कूटनीतिज्ञ कौटिल्य (चाणक्य) है जिसने अपनी क्रोधाग्नि
में नन्द वंश को बलपूर्वक जला डाला है और 'चन्द्र' के ग्रहण की बात सुनते ही,
समान नाम वाले 'चन्द्रगुप्त' पर 'शत्रु का आक्रमण' समझ रहा है ॥ ७ ॥

तदित आवां गच्छावः । (निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना ।

इति प्रस्तावनेति । संस्कृतनाटकेषु प्रस्तावना खल्वामुखापरपर्याया नटीसूत्र-
धारयोः परस्परालापरूपा नाटकविषयोद्भावनाय नितरामपेक्षिता । तल्लक्षणं तु
यथा नाट्यदर्पणे—

‘विदूषकनटीमापैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।

सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत्तदामुखम् ॥’ इति ।

तस्यायं भावः—सूत्रधारो, यो हि रङ्गसूत्रयिता भवति, स्थापको वा यः खलु
सूत्रधारगुणानुकारो नाट्यार्थस्थापयिता भवति, यद् विदूषकनटी-मापैर्व्यस्तै-
स्समस्तैर्वा साक्षादसाक्षाद्वा विवक्षितार्थप्रतिपादिकाभिर्वाचोयुक्तिभिस्तथा संभाषते
यथा प्रस्तुतनाट्यकार्यस्याक्षेपो भवति सामाजिकानां तदामुखम्, यस्यैतस्य प्रस्ता-
वनेति नामान्तरं यथोक्तं साहित्यदर्पणकृता ‘आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्ताव-
नाऽपि से’ति । अत्र नाटके सूत्रधारो नट्या सह संलपन् वक्रया वचोभङ्गया नाट-
कीयमर्थं नायकचरितादिरूपं रङ्गाभिनयायावतारयतीति प्रस्तावनां करोत्यामुखं
वाऽनुतिष्ठतीत्युच्यते ।

एतन्नाटकप्रस्तावनाविचारे श्रीदुण्डिराजयज्वभिः प्रस्तावनायाः भारतीवृत्ति-
रूपत्वाद् भारतीवृत्तेश्च वाग्व्यापारात्मकत्वात् ।

‘वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्र स्वभावतः ।

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।

वाक्केल्यधिवले गण्डसवस्यन्दितनालिके ।

असत्प्रलापव्याहारमृद्वानि त्रयोदश’ ॥

इत्यादि दशरूपकाक्षरसाक्षात्कारधिया च यत् त्रयोदशाङ्गत्वं तत्र तत्र नटी-सूत्र-
धारभाषणे प्रदर्शितं तत्तु नातीव रोचते । वस्तुतस्तु यः कोऽपि वाग्व्यापारे भवतु
नाटके वा लोके वा तत्रैव त्रयोदशवीथ्यङ्गानि सुनिरूपणीयानि भवन्ति । को
विशेषः नाटकप्रस्तावनाया लोकसंभाषणात् ? यो विशेषस् एव प्रदर्शनीयः । स च
पूर्वनिरूपितप्रकार एव ।

इसलिये हम दोनों यहाँ से चल दें । (दोनों चले जाते हैं)

(प्रस्तावना समाप्त होती है)

(ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन् चाणक्यः)

चाणक्यः—कथय, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात् ?—

प्रस्तावना खलु संस्कृतनाटककाराणां प्रस्तुतनाट्याभिनयस्य काचन सूचना विज्ञप्तिर्वा । यां विना नाटकमनिवेद्यमानं न सामाजिकान् सावधानीकर्तुं प्रभवत् ।

केपुचिन्नाटकेषु सूत्रधारः प्रस्तावनारचयिता केपुचिद् यथाऽभिज्ञानशाकुन्तल-मुद्राराक्षसादिषु कविरेव प्रस्तावनां निबध्नाति । यत्र सूत्रधृतैव प्रस्तावना क्रियते तत्र सा नाट्यात् पृथग्भूता, यत्र हि कविकृतिस्सा तत्र नाट्याङ्गरूपिणीति । नाटकेऽत्र कविः करोति प्रस्तावनां या खलु 'आड् ईपदर्थे वे' ति ईपन्मुखमामुख-मिति यथार्थं नामान्तरं लभते मुखसन्धेर्नाटकस्य सूचनादित्यलं विस्तरेण ।

ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन्निति—नन्दविनाशप्रतिज्ञाकाले या शिखा मुक्ता या च चन्द्रगुप्तराज्यप्रतिष्ठापनानन्तरं बद्धा सैव राक्षसकरिण्यमाणास्कन्दना-दिप्रतीकाराय पुनरपि मुक्तेति तां स्पृशन्निति भावः । कुपितस्य चाणक्यस्य शिखा-परामर्शो योऽनुभावो यच्च कविस्तृतीयाङ्केऽपि प्रसङ्गान्तरे—

‘शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।

प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना

परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥’ इत्यत्र,

न विस्मरति, स त्वसाधारण एव कश्चन चरितनायकस्यैतन्नाटकस्य लोकोत्तर-तामनुभावयितुमुद्येक्षित उपात्तश्च कविनेति विभावनीयं सुधीभिः ।

कथय क एष इति—अत्र कथयेति न पात्रान्तरं प्रति सम्बोधनमाक्षिपति स्व-गतभाषणत्वाच्चाणक्यवचसः । राक्षसमाक्रमणकारिणं सम्भाव्य संजातामर्षस्य नि-श्चितकर्तव्यजातस्य च चाणक्यस्य कमपि निवेदयितारं पुरुषमन्यमपश्यतो यदिदं कथयेति वचस्तत्तु राक्षसकृतोपद्रवादिप्रतीकारभावनायाः काष्ठाभधिरूढाया अभिव्यञ्जकमित्युपात्तं कविना । अत्र चाऽकस्मादुपनतेन राक्षसकृतोत्पातादिचिन्त-नेन चाणक्यमनस्संचोभरूप आवेगो व्यभिचारिभावोऽपि सुष्ठु प्रतीतिपथमा-नीतस्सामाजिकानामिति साधीयसी कवेर्वाक्यविन्यासरीतिः ।

(इसके बाद अपनी खुली हुई शिखा का स्पर्श करते हुए चाणक्य का प्रवेश होता है ।)

चाणक्य—अरे ! कौन है जो मेरे रहते चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
 सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य ।
 जम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
 को हेतुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥ ८ ॥

चाणक्ये जाप्रति चन्द्रगुप्तस्याभिभवोऽशक्यकरणीय इति मनसि निश्चिन्वानस्य
 चाणक्यस्यानर्पपरिवाहिनीयमुक्तिः—

आस्वादितद्विरदशोणितयादिरूपा । अयि हृदय ! शत्रुकृतास्कन्दनसम्भावना-
 कारिन् ! ननु कथय कोऽस्ति स साहसिको यः खलु जम्भाविदारितमुखस्य जम्भया
 शरीरस्वभावभूतयाऽऽस्यज्यादानात्मकक्रियया ननु परकृतेन खलीकारेण विदारितं
 मुखं यस्य तथाभूतस्य हरिंसहस्य जीवान्तरागां प्राणहारिणो मृगराजस्य मुखाद्वि-
 करालादास्यकुहरात् स्फुरन्तीं कयापि कान्त्या प्रदीप्या वा प्रकाशमानामथ चा-
 स्वादितद्विरदशोणितशोणशोभामर्थादास्वादितं संपीतं यद् द्विरदशोणितं दन्ताव-
 लस्य गजराजस्य सद्योनिपातितस्य रक्तं तेन शोभा रक्तरक्ता शोभा कान्तिर्द्युतिर्वा
 यस्यास्तामिति तत एव कृत्वा च सन्ध्यारुणं सन्ध्या सांध्यरागोपद्रवकारिण्या
 सूर्यास्तमनवेलयाऽरुणं रक्तवर्णीकृतां महासंचोभयजिकां शशलाञ्छनस्य प्रशान्त-
 स्वभावस्यापि तारकाधिपतेश्चन्द्रस्य कलामिव मुखकान्तिमिव स्फुरन्तीं विजृम्भ-
 माणां तस्य दंष्ट्रां तमेव हरिं परिभूय पराजित्य हतुमिच्छति समुत्पादयितुं समीहमा-
 नश्चेष्टत इति भावः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(१) वाच्यार्थोऽत्र न स्वविश्रान्तोऽपि तु व्यङ्ग्यमर्थमुपस्थापयितुं नि-
 बद्धः । व्यङ्ग्यस्वरूपं त्विदम्—चाणक्यस्य मम परिश्रमविनोदायैव शिथिलीकृत-
 नीत्युद्यमस्य जीवतोऽपि खलु चन्द्रगुप्तविजयश्रियं विनाशितनन्दवैभवं सर्वापत्-
 प्रशमनसमर्थामप्यभिपिपेणयितुं योऽयं दुःसाहसिको दुष्टामात्यः समुत्सहते सुत-
 रामसमीक्ष्यकारी स दुरात्मा स्वविनाशमेव समीहत इति ।

(२) अत्र रसीभवन्तुत्साहारूपं स्थायिभावं प्रति विशेषेणाभिमुख्येन चरन्-
 मर्यरूपो व्यभिचारिभावस्सुतरामभिव्यक्तिपथमानीतः नाटककविना । एतदभि-
 व्यञ्जनं च नायकचरितचर्चया । नायकचरितेऽत्र महाव्यसनेऽप्यकातर्यरूपं धीरत्वं

‘कौन है जो सोकर उठे, जंभाई लेते सिंह को वश में करके उसके मुंह से उसकी
 चमकती दाढ़ी को उखाड़ना चाहता है जो मारे गये हाथों के रक्त के पाने से लाल हो
 रही है और संध्या की लालिमा से लाल चन्द्रमा की कला सी लंग रही है ॥ ८ ॥

नीतिशौर्यादिदर्परूपमुद्धतत्वं च द्योतितं कविना । एतदपि न साक्षात् स्वकृतवर्णना-
दिना किन्तु चन्द्रगुप्तविषयकविनिपातचिन्तनादिजन्यतत्त्वकरिष्यमाणप्रतीकाराभि-
मानसम्बन्धिवृत्तौद्घाटनादिति संश्लिष्टाऽत्र वृत्तचरित-रसवर्णना सुतरां स्वदत्ते
सामाजिकेभ्य इति नाट्यकौशलं कवेर्विजृम्भते किमपि ।

(३) अत्र 'कथय क एष मयि स्थित' इत्याचारभ्य मुख्यसन्धि निवन्नाति कविः
तल्लक्षणं यथोक्तं नाट्यदर्पणकृता—

‘मुखं प्रधानवृत्तांशो वीजोत्पत्तिरसाश्रय’ इति ।

अस्यायमाशयो यत्प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररस-
सन्निवेशस्तावान् मुख्यसन्धिरिति ।

ननु सन्धिरेव किमिति चेत् ? नाटकीयेतिवृत्तस्य भागानां परस्परं स्वरूप-
तोऽङ्गाङ्गिभावतश्च सन्धानमेव सन्धिरिति । इतिवृत्तञ्च नायकादिचरितचर्यारूप-
मेव । चरितवर्णनञ्च हृदयावि-करणरूपमान्तरं तदनुगततत्तद्वृत्तप्रवर्तनरूपञ्च बाह्य-
मिति द्विविधम् । यत्तदान्तरं तद्धि नायकादेः प्रारम्भादीनामवस्थानां वर्णनया
यच्च बाह्यं तत्तु तदनुगतानां मुख्यसाध्यं प्रति सहायकानामर्थप्रकृतीनां वीजादीना-
मिति वृत्तार्थप्रपञ्चनोपायानां यथायथं समुपन्यासविधयेति ।

अत्र खलु नाटके चरितनायकस्य चाणक्यस्य राजसवशीकाररूपं प्रधानफलं
प्रति व्याप्रियमाणस्य काय-वाङ्-मनसां व्यापाराणामन्यतम आरम्भाख्यः फल-
प्राप्त्युपायौ मुख्यरूपस्तदनुगततत्तत्कर्तव्यजातरूपश्च व्यापारः प्रथमाङ्के सुतरा-
मुन्मीलितः कविना । अस्यामारम्भावस्थायां चाणक्यस्य चन्द्रगुप्तविनिपातप्रती-
कारसिद्धयर्थं तत्तत्कृतनयचिन्तनतत्तत्परपक्षोपजापकारिगूढपुरुषादिनियोजनादयो
व्यापारास्सहायकानां सिद्धार्थकादीनां कूटलेखादिसम्पादनादिरूपैर्व्यापारैः परस्परं
संश्लिष्टाः नाटकस्यास्य पुरुषकारप्राधान्यं निकाममुन्मीलयन्ति । एवमारम्भाणस्य
फलसिद्धिं हस्तस्थितां विमृशतो दैवमकिञ्चित्करं मन्यमानस्य नायकस्य मुख्यफल-
साधनीभूतेष्वर्थप्रकृतिनामधेयेष्विति वृत्तार्थोपायेषु च उपाय उपनिबद्धो नाटक-
कृता स तु वीजरूपः तल्लक्षणं यथा परिभाषितं नाट्यदर्पणकारेण—

‘स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्वीजं प्ररोहणात्’ इति ।

तत्स्वरूपं यथा विमृष्टं तेनैव—

‘कचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् ’

यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

‘आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।

अपि च—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम् ।
अद्यापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिखां मे ? ॥ ९ ॥

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम् ।
अद्यापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिखां मे ।

इत्यादी'ति ।

इत्थं प्रारम्भोपयोगी वीजोत्पत्तिचेत्रभूतः प्रथमाङ्कनिरूपितो नाटकनिबन्धनीयः रसाश्रयो योऽर्थराशिस्स मुखसन्धिरस्य नाटकस्येति सर्वमनवद्यम् ।

राक्षसकृतोत्पातादिचिन्तनेन संजुमितमनाश्चाणवयश्शत्रुपक्षं पुर इव परिस्फुरन्तं तर्जयन्नाह—नन्दकुलेति । नन्दकुलस्य नन्दवंशस्य कालभुजगीं 'कालरूपिणीं' सर्पिणीमिव स्थितां, नन्दकृते संचोमे यथा हि नन्दान्वय एव दष्टो विनाशितश्च तां तथाभूतामथ च कोपः क्रोध एवानलोऽग्निस्तस्य बहला घनीभूता चासौ लोला व्यासद्विक्वा च या धूमलता धूमसंततिस्तामिव स्फुरन्तीं मे मम शिखामिमां ननु को बध्यो हन्तुं योग्यो दुराचारोऽद्याप्यस्मिन्नपि समये यदा मया महद्भ्योऽपि महीयान् रिपुर्विनाशितो यदा वा मत्प्रतापो लोके सर्वत्र एव प्रवर्लितो दृश्यते तदा बध्यमानां बद्धुमुपक्रम्यमाणां नेच्छति नाभिवाञ्छतीति ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र रूपकालङ्कारं निबध्नाति कविः । रूपकलक्षणं यथोक्तं काव्यप्रकाशे—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोरिति । अत्र हि शिखाकालभुजङ्गयोः, शिखा-धूमलतयोश्चानपहृतभेदयोर्योऽभेदारोपः कविकल्पनाकृतस्सहृदयभावनाभाव्यश्च स एव सूक्तेरस्याशोभाधायक इत्यलङ्कारत्वेन व्यपदिश्यते । पूर्वत्र कालभुजगीत्वारोपेण नन्दवंशच्छयो भूतपूर्वो निवेदितः, उत्तरत्र धूमलतात्वारोपेण करिष्यमाणसर्वविधापकारिसंहारसूचयितुमिष्ट इत्युभयमुपाददानो नाटककृत् किमपि विचाररमणीयमौचित्यमाविष्करोत्यलङ्कारयोजनस्यास्येति ।

(२) अत्रानुलिखितलक्षणः कोप्यनुप्रासः कोपानलबहललोलधूमलतामिति पदस्य ध्वनिसरण्या सूचितः शिखाभुजङ्गयोः वैरनिर्यातनार्थं प्रसर्पणादि व्यनक्ति ससंरम्भमिति संदग्धः कविनेति ।

अरे ! कौन है जो मरना चाहता है और नन्दवंश के लिये काली नागिन, मेरे को पानल की घनी धूमलता मेरी शिखा को बांधी जाती हुई देखना नहीं चाहता ॥ ९ ॥

अपि च—

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः ।

सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः

कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥ १० ॥

(३) अत्र वीररसस्पृशो व्यभिचारिभावस्य 'आवेगः संभ्रमोऽतर्क्याद् विकर्ता-
ऽङ्ग-मनो-गिरा'मिति लक्षितस्यावेगाख्यस्य स्वरूपं यदुन्मीलयति कविर्यच्च
नायकं प्रज्वलितवीर्यं सामाजिकधियि प्रवेशयति तदतीव विमर्शचार्चिति संतो-
ष्यं सुधीभिः ।

विराध्यतां सवपां संहारं प्रतिजानानश्चाणक्यो वक्ति—उल्लङ्घयन्नित्यादि ।

नन्दकुलमेव काननं तस्य धूमकेतोर्दावाग्नेर्भस्मीकृतनन्दवंशस्य समुज्ज्वलतो
न प्रशमितस्यापितु प्रज्वलमानस्य मम कोपस्य क्रोधस्य प्रतापं प्रखरदाहमुल्लङ्घ-
यन्नतिक्रमिष्यन् ननु कः कोऽसौ परात्मपरिमाणविवेकमूढः परस्यात्मनश्च यत् परि-
माणं तारतम्यं तस्य यो विवेको विमर्शस्तत्र मूढो मुग्धमतिः शून्यबुद्धिर्वा साहसिको
यश्शालभेन विधिना शलभरीत्या सद्यो विनाशं लभताम् इदित्येव क्रोधाग्निज्वा-
लया दाह्यतामिति भावः ॥ १० ॥

टिप्पणी—(१) परात्मपरिमाणविवेकमूढ इत्यत्र परात्मनोर्यः परिमाणो यस्य खलु
विवेको वाऽभिप्रेतस्स तु कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे नवमेऽधिकरणेऽभियास्यत्-कर्मनिर्वर्ण-
नाधिकारे प्रपञ्चितो यथा—'विजिगीपुरात्मनः परस्य च बलावलं शक्तिदेशकाल-
यात्राकालबलसमुत्थानकालपश्चात्कोपक्षयव्ययलाभापदां ज्ञात्वा विशिष्टबलो यायाद-
न्यथाऽऽसीते'त्यादि । अत्राऽभियास्यतो राक्षसस्य तथाभियानदुर्विवेकित्वरूपं
दुःसाहसिकत्वं निश्चितविनाशत्वञ्च सुनिपुणं द्योययति वाक्यमिदम् ।

अत्र विषये कामन्दकेऽपि विवेचितम्—

'आत्मानं च परं चैव ज्ञात्वा धीरः समुत्पतेत् ।

एतदेव हि विज्ञानं यदात्मपरवेदनम् ॥' इति ॥

अरे ! अपने और दूसरे के बलबल के विवेक से शून्य कौन है जो, सहसा, नन्दकुल
कानन के दावानल, जलते हुये मेरे क्रोधानल के प्रताप को लांघते हुये कीड़े की सी मौत
मरना चाहता है ? ॥ १० ॥

शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—वत्स ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—उपाध्याय ! ननु इयं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला,
तदस्यामुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः ।

चाणक्यः—वत्स ! कार्यभिनिर्योग एवास्मानाकुलयति, न पुनरुपा-
ध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता । (नाट्येनोपविश्यात्मगतम्) । कथं

अन्यत्र च प्रपञ्चितम्—

नारिं पतङ्गवद् गच्छेत् स्पृश्यमेव हि संस्पृशेत् ।

किमन्यत्स्यादते दाहात्पतङ्गस्याग्निमृच्छतः ॥ इति ।

(२) अत्रापि रूपकमेव कविर्विचारपूर्वकमुपन्यस्तवान् । 'कोपस्य नन्दकुलका-
ननधूमकेतो'रिति वाचोयुक्तौ कोपे धूमकेतुत्वारोपो नन्दकुले काननत्वारोपनि-
मित्तभूत इति कृत्वा परम्परितभेदोऽत्र रूपकालङ्कारः तत्त्वज्ञानं यथोक्तं काव्यप्रकाश-
कृता—

'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।

तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदवाचि वा ॥' इति ।

वाचकस्याऽश्लिष्टत्वात्परम्परितरूपकस्याऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनताऽत्र विचार्य
कृता, श्लिष्टत्वे कविवर्णनावेदध्यस्यैव कारणत्वात्, श्लिष्टत्वे तु नायकहृदयसंरम्भ-
प्रकाशनैकपरत्वादिति निपुणं निरूपणीयं सुधीभिः ।

(३) परम्परितेन रूपकेणात्र नायकस्य चाणक्यस्य वीरभावो केनाप्यौग्रयेण
व्यक्तीकृतः । औग्रयं तु यथा निरूपितं नाट्यदर्पणकृता—

'दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यमौग्रयं बन्धवधादिभि'रिति ।

शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्यः—(रङ्गमञ्च पर आकर) उपाध्याय ! आज्ञा दें ।

चाणक्यः—वत्स ! बैठना चाहता हूँ ।

शिष्यः—उपाध्याय ! द्वार की प्रकोष्ठशाला में वेत्रासन बिछा हुआ है जिस पर बैठ
सकते हैं ।

चाणक्यः—वत्स ! कार्यव्यग्रता मुझे व्याकुल कर रही है । तुम्हारे उपाध्याय में शिष्य-
जन के प्रति अन्याय ही शीलता नहीं है । (शिष्य के साथ बैठने लगे, चाणक्य)

प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल 'नन्दकुलविनाशजनितरोपो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत' इति । (विचिन्त्य) अथवा येन मया सर्वलोकप्रकाशं नन्दवंशवधं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञास्रित्, सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयितुम् ? इति । कुत एतत् ? यस्य सम—

श्यामीकृत्याननेन्दून् रिपुयुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः

सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेनेति—परिपणनमिति । सन्धीनामन्यतमस्य प्रकारस्य वचनम् । यथोक्तं कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे सप्तमेऽधिकरणे—लाभसाध्ये संधिः परिपणितश्चापरिपणितश्चेत्यादि ।

चाणक्यस्त्वमन्त्रपराक्रमं मनसि निर्धार्य शत्रुवर्गं सम्मुखमिवापतन्तं प्रधर्पयन्नाह—श्यामीकृत्याननेन्दूनित्यादि । तिष्ठत साहसिकाश्रूरमानिनः ? किं न पश्यथ यन्मम भवदभियानविषयस्य क्रोधवह्निः क्रोध एव वह्निः कोपाग्निः सन्ततैः समन्तात् सर्वं व्याप्नुवानैश्शोकधूनैश्शोकाः प्रियकरणादिरूपाः क्लेशभावा एव धूमास्तैः रिपुयुवतिदिशां रिपूणां नन्दानां नन्दवंशीयानां वा या रुवतयः प्रियाः दाराः ता एव दिशः सर्वाः काष्ठास्तासामाननेन्दून् मुखान्येव चन्द्रास्तान् श्यामीकृत्य पूर्वमश्यामान् प्रभामयानधुना श्यामान् निष्प्रभान् कान्तिरहितान् कृत्वा, अथ च नयपवनहृतं नयोऽन्योन्यसंचरिण्युः पाङ्गुण्यप्रयोगरूपो यो राजनयस्स एव पवनो वायुस्तेन हृतमितस्ततः उद्यमानमेकत्रीकृतं वा मोहभस्म मोहः स्वात्मपरिमाणविवेकाभाव एव यद् भस्म तद् मन्त्रिद्रुमेभ्यः मन्त्रिणो नन्दराज्यमन्त्रशक्तिधरा-

क्या ! नागरिकों में यह बात फैल गयी कि नन्दवंश के विनाश से विशुद्ध राक्षस, पितृवध के कारण क्रुद्ध किंवा सम्पूर्ण नन्दसाम्राज्य पर अधिकार-प्राप्ति की शर्त से प्रोत्साहित पर्वतकपुत्र मलयकेतु के साथ सन्धि करके, उसके (मलयकेतु के) द्वारा एकत्र किये गये म्लेच्छराजगण के सैन्यसमूह के साथ चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिये तैयार है । (सोचकर) अथवा जब कि सारे संसार के सामने नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा करके, मैंने अपनी दुस्तर प्रतिज्ञा-नदी पार कर ली, तब लोगों में फैलती हुई इस बात को भी दवा सकता हूँ । क्योंकि—

अरे ! मेरी यह, 'क्रोधाग्नि, जिसके (विध्वंस-जनित) शोक की घनीभूत धूमराशि ने दिशाओं की भाँति सर्वत्र व्याप्त शत्रुवाहियों को सम्मुख आगे कर दिया, जिससे विशाल

कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य ।

दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्

दाह्याभावाच्च खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ॥ ११ ॥

अमात्या एव द्रुमाः वृक्षास्तेभ्यः प्रकीर्य विक्षिप्य किं बहुना, सम्भ्रान्तपौरद्विजगण-
रहितान् संभ्रान्ताः व्याकुलीभूताः ये पौराः पाटलिपुत्रीयाः प्रकृतिवर्गास्त एव द्विज-
गणाः पक्षिसंघास्तैः रहितान् सुतरां परित्यक्तान् नन्दवंशप्ररोहान् नन्दवंश एव
वंशो वेणुस्तस्य प्ररोहा एव प्ररोहास्तांश्च दग्ध्वा वने ज्वलन इव दाववह्निरिव संप्रति
यच्छाम्यति विरमति तन्न खेदात्, न दाहशक्तेः क्षीणभावत्वादपि तु दाह्याभावात्
दाह्यस्य वस्त्वन्तरस्यैवाविद्यमानत्वात् ? किन्तु यदि दाह्यानि भवःसंघरूपवस्तूनि
स्वयमुपनमन्येनं नङ्क्ष्यन्त्येव निश्चितमित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र साङ्गरूपकं कामपि महतीं शोभां विभर्ति । साङ्गरूपकं यथा
लक्षितं मम्मटाचार्यैः—

‘समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ।

श्रौता अर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ॥

साङ्गमेतत् ॥’ इति ।

अत्रारोप्यमाणानां वह्नि-धूम-द्रुम-पवन-भस्म-वंशानां कोप-शोक-मन्त्रि-
नय-मोह-नन्दान्वयानाञ्चारोपविषयाणां सर्वेषां स्वशब्दप्रतिपादकत्वादुपमानोप-
मेययोरभेदमूलं यद्रूपकं तस्य च यत्साङ्गत्वं तेनैव कवेरभिप्रायविशेषस्य कृततत्तत्क-
र्मणः करिष्यमाणान्यसमस्तकर्मणश्च चाणक्योत्साहस्य सुखाभिव्यक्तिरिति तदेव
समीक्ष्य विनिवेशयति कविः ।

(२) अत्र चाणक्यहृदयेन संबदन्ति सामाजिकहृदयानि कमपि प्राप्तप्रकर्ष-
मुत्साहमास्वादयन्ति ।

(३) अत्र च चाणक्ये नाटकस्यास्य नेतरि क्षेपादेरसहिष्णुत्वरूपस्य तेजसः,
विघ्नेऽप्यचलनत्वरूपस्य स्थैर्यस्य च निकामं प्रकाशनं करोति कविः ।

वृक्षों की भाँति अडिग खड़े नन्द-मन्त्रियों के ऊपर, शंशा सरीखी कूटनीति के शोकों से,
किंकर्तव्यविमूढता का भस्म-पुञ्ज बिखेर डाला, और जिसने प्राण बचाने के लिये पक्षियों की
भाँति भाग खड़े हुये पाटलिपुत्र के नागरिकों और ब्राह्मणों को छोड़कर नन्दवंश के अङ्कुरों
तक को जला डाला, वह, जंगलमें लगी आग की भाँति, जलाने योग्य वस्तु के अभाव के
कारण शान्त हो रही है न कि सपत्नी शक्ति के क्षीण होने से

अपि च—

शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपमयाद् धिक्शब्दगमैर्मुखै-

र्मामग्रथासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा ।

ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्त्वयं

सिंहेनैव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम् ॥ १२ ॥

क्रोधावेशेन विस्मृतस्वकृतनन्दविनाशकृत्यः 'नन्दानुच्छेत्तुं प्रतिज्ञां कुर्वन्नाह चाणक्यः—शोचन्तोऽवनतैरित्यादि । ये जनाः पुरा पूर्वस्मिन् काले नराधिपमयात् नराधिपान्महाराजाञ्चन्दाद् भयं तस्माद्धेतोरवनतैर्नम्रीकृतैर्धिक्शब्दगमैः नन्दं धिगिति शब्द उत्क्रोशध्वनिर्गमैः येषां तैस्तथाभूतैर्मुखैरुपलब्धिताश्शोचन्तश्शोकं कुर्वन्तस्सनतोऽग्रथासनतो यज्ञीयादासनादवकृष्टं सनिकारमुत्थापितं प्रच्यावितं वा मां चाणक्यमवशं प्रतीकारासमर्थं दृष्टवन्तोऽवलोकितवन्तस्त एव सम्प्रतीदानीं, सद्य एव सान्त्वयं नन्दं सर्वशवंशीयं नन्दनराधिपं सिंहेनाद्रिशिखरात् पातितं गजेन्द्रमिव सिंहासनाद्राजासनात् मया पातितं तथैव निरुपायं निष्प्रतीकारं च सन्तं पश्यन्ति द्रव्यन्तीति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—(१) अत्रोपमानोपमेययोस्सिंहचाणक्ययोः पातनरूपसाधारणधर्मस्थौपम्यवाचिन इव शब्दस्य चोपादानाच्छ्रौती पूर्णोपमा या निबद्धा नाटककृता सा तु प्रसङ्गानुरूपं । पूर्णोपमया चित्रितेऽत्र द्वे चित्रे । पूर्वं यत्तत्तु मृगराजस्य गजेन्द्रमद्रिकृताः पातयितुं च्चापरं तद्धि चाणक्यस्य सान्त्वयं नन्दं सिंहासनात् प्रच्यावयितुः । इमे द्वे स्पष्टं पश्यतां सामाजिकानां भवति कश्चन प्रत्येकं चित्रयोर्भावाभिनिवेशो यत् प्रतीतेः परस्परं तयोरोपम्यप्रतीतौ किमप्यलौकिकं रौद्रत्वं प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्रतीतिविषयीभवति ।

(२) अत्र क्रोधरूपः स्थायिभावो रसात्मना परिणममानो वीररसमेवाङ्गिनमुपस्कुर्वन् विभाव्यते समास्वाद्यते च सहृदयैः । धाराधिरूढोऽत्र रसो वीर एव यस्य नैरन्तर्येण पुनः पुनः परामर्शं मालतीमाल्यस्य मर्दनमिव चिन्तयन् कविर्मध्ये रौद्रमङ्गतयोद्दीपयति । रसप्राणो नाट्यविधिः । रससिद्धश्चायं नाटककविरिति सर्वसमञ्जसम् ।

और साथ ही साथ, पहले जिन लोगों ने महाराज नन्द के भय से, 'धिक्कार' शब्द को मुंह में ही दबाये, मुझे यज्ञासन से विवशता की दशा में, नीचे उतारे जाते देखा है वे लोग अब यह देख लेंगे कि अपने वंश के साथ महाराज नन्द, उसी प्रकार, मेरे द्वारा सिंहासन से नीचे गिरा दिया गया है जिस प्रकार गजराज, सिंह के द्वारा, पहाड़ की चोटों से नीचे गिरा दिया जाता है ॥ १२ ॥

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि ।
येन मया—

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरागा इव भुवः
कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा ।
द्वयोः सारं तुल्यं द्विनयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥ १३ ॥

शस्त्रं धारयामीति तु उद्योगं करिष्ये । क्रोधं संहरन्नायकश्चाणक्यः कर्तव्यजातं
पूर्वकृतं स्मरन्नात्मप्रसादं प्राप्नुवन्नाह—

समुत्खाता नन्दा इति । येन मया चाणक्येन नव नन्दाः भुवः पृथिव्याः हृदय-
शल्या इव हृदये मर्मणि प्रविष्टाश्चाङ्गवो यथा समुत्खाताः समूलमुन्मूलिताः, येन
मया चाणक्येन मौर्ये चन्द्रगुप्ते लक्ष्मीः राज्यश्रीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा
निश्चलस्थितिः कृता विहिता, येन च मयाऽभियुक्तेन मनसा महता स्वमनोऽभि-
निवेशेन, न तु यथाकथञ्चिदिति शेषः, द्वयोः कोपप्रीत्योः क्रोध-प्रसादयोस्तुल्यं पर-
स्परं सदृशं द्वितयं द्विविधं सारं न्याय्यं फलं निग्रहानुग्रहरूपं द्विपति शत्रौ सुहृदि
मित्रे च विभक्तं विभज्य स्थापितमिति भावः । सोऽहमिदानीं शस्त्रमुद्योगं धारयि-
ष्यामीति पूर्ववाक्येनान्वयः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र स्थायिन उत्साहस्य पोषकत्वेन धृतिरूपो व्यभिचारिभाव-
स्तथाऽङ्कितो व्यञ्जितश्च यथाऽन्यान् सरभसमाक्षिपन् कमपि रसपरिपोषं जनयति ।

(२) चाणक्यस्य चरितवर्णनार्थां तद्द्वारा वीररसाभिव्यञ्जने या कार्यारम्भरू-
पाऽवस्थोन्मीलनाय प्रारब्धा नाटककृता यदनुकूलश्च नन्दसेवासक्तराक्षससंग्रह-
रूपस्य वृत्तप्रपञ्चनोपायस्य वीजस्थोपक्षेपः ‘आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभि-
मविदुमिच्छति बला’दित्यादिना पूर्वमेव कृतस्तस्यैवात्र ‘सोहमिदानीं वृषलापेक्षया
शस्त्रं धारयामी’त्यादिना परिकरः बहुलीकारो विधीयते । वीजन्यासः सुविचार्य
कृतस्वभावत एवाङ्कुररूपतया कमपि बहुलीभावमायातोऽत्र दृश्यते ।

वही मैं, अपनी प्रतिज्ञा पूरी हो जाने पर भी, चन्द्रगुप्त के लिये अब शस्त्र धारण
करूंगा । अरे ! मेरे द्वारा पृथिवी के हृदय में शूल से चुभे नव नन्द उखाड़ दिये गये हैं,
चन्द्रगुप्त में राजलक्ष्मी सरोवर में कमलिनी की भाँत, स्थिरमूल बना दी गयी है और पूरे
मनोयोग के साथ, क्रोध और प्रेम-दोनों के महाफल, शत्रु और मित्र (नन्द और चन्द्रगुप्त)
में बराबर-बराबर बाँट दिये गये हैं ॥ १३ ॥

अथवा, अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य ? किं वा स्थैर्य-
मुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः ? (विचिन्त्य) अहो ! राक्षसस्य नन्दवंशे
निरतिशयो भक्तिगुणः, स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे,
वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते । तदभियोगं प्रति निरुद्योगोऽ-
स्माभिरवस्थापयितुं शक्य इति अनयैव बुद्ध्या तपोवनगतोऽपि घातित-
स्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः, यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्याऽस्म-
दुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नमुपदर्शयत्येव (प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं वद्ध्वा)
साधु अमात्य राक्षस ! मन्त्रि बृहस्पते ! साधु । कुतः ?—

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यन ये विपत्तिषु पुनन्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया ।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया

मन्त्रयुद्धमेव राक्षसवशीकारसाधनं निर्धारयन् राक्षसं स्तुवन्नाह चाणक्यः—
ऐश्वर्यादनपेतमिति । मन्त्रिवृहस्पते ! राक्षस ! ते त्वाद्दशाः कृतिनः कृतराजकृत्याः
पवित्रितमन्त्रिपदा महान्तो दुर्लभा दुष्प्रापा ये भर्तुस्वामिनः प्रलये विनाशेऽपि
पूर्वसुकृतासङ्गेन पूर्वं पुराकृतं स्वामिनो यत्सुकृतं वृद्धदक्षिंस्वकृतज्ञत्वाविसंवाद-
कत्वाद्याभिगामिकगुणकृत्यं तस्याऽसंगेन रूढसंस्कारतयाऽविस्मरणेन हेतुना निस्स-

किन्तु जब तक राक्षस न पकड़ा गया तब तक नन्द-वंश का कुछ नहीं बिगड़ा !
और न चन्द्रगुप्त में राजलक्ष्मी स्थिर हो पायी । (कुछ सोचते हुये)

ओह ! राक्षस की नन्दवंश में बड़ी भक्ति है । नन्द के कितने भी वंशज के रहते,
उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना सकना संभव नहीं । इसलिये, यह सोचकर कि चन्द्रगुप्त पर
आक्रमण के प्रति वह निश्चेष्ट बना दिया जाय, तपोवन में भी गये हुये बेचारे नन्दवंशी
सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला गया । किन्तु तब भी वह, मलयकेतु का सहारा लेकर
हमारा जड़ खोदने के लिये, बड़े-२ प्रयत्न कर रहा है । (मानो शून्य में राक्षस को
एक टक देखते हुए) धन्य हो ! क्योंकि,

यह सारा संसार किसी वैभव-सम्पन्न स्वामी की स्वार्थवश सेवा करता है और
विपत्ति-काल में भी यदि सेवा करता है तो इस आशा से करता है कि उसके दिन फिर
लौट सकेंगे हैं । किन्तु हम सबके इस विश्वास की नीति है कि जो हमारे सामने है, वह हो जाने

भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥१४॥

अत एवास्माकं त्वत्संप्रभे प्रयत्नः कथमसौ वृषलस्य साचिन्व्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः—

अप्राज्ञेन च, कातरेण च, गुणः स्यात् सानुरागेण कः ?

इत्या फलासक्तिरहितया कर्मबुद्ध्यैव कृतया भक्त्या राज-राज्यसेवया कार्यधुरां वहन्ति राज्यप्रतिष्ठापनादिरूपं कार्यभारं बोद्धुं सततं चेष्टन्ते । लोकोत्तरमिदं भवता आचरितम् । यतो ह्ययं लोकः साधारणो जनस्सर्व एवैश्वर्यादनपेतं प्रभुत्वाद-प्रच्युतमीश्वरं राजानं स्वामिनं वाऽर्थतस्त्वप्रयोजनसिद्धयै स्वफलाशंसायै सेवते परिचरति, ये पुनः कियन्तो जनाः विपत्तिषु विपत्तिकालेषु समापन्नेषु तं राजानं स्वामिनं वाऽनुगच्छन्ति तद्दुःखदुःखिनस्सन्तोऽनुवर्तन्ते तेऽपि हन्त ! न निःस्वार्थसेवाभावनयाऽपि तत्प्रतिष्ठापनाय तस्य स्वामिनो या प्रतिष्ठा पुना राज्य-प्राप्तिस्तत्र गतया स्वेष्टसिद्धिरूपया कीर्तिलाभरूपया वाऽशयैव कामनयैवाते ॥१४॥

टिप्पणी—यद्यपि नाट्यानुशासनम् एकत्र नायके धीरत्वादिस्वभावचतुष्कस्य वर्णनं वारयति तथापि नाटककृताऽत्र चाणक्ये नेतरि चण्डत्वविकल्पनत्वयोर्धी-रोद्धतधर्मयोः न्यायित्वस्थिरत्वयोर्धीरोदात्तधर्मयोश्च भिन्नप्रक्रमतयाऽभिव्यञ्जनेन किमपि चातुर्यमाविष्कृतम् । नाटकस्यास्य नायकश्चाणक्यः प्रतिनायकं राक्षसं स्तुवन् किमपि महदुदात्तत्वं स्वस्वभावस्य सहृदयहृदयेऽर्पयति । नाऽत्र प्रतिनायको नाटकान्तरेष्विव 'लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी' वा, किन्तु नायकसमशीर्षिकया विराजमानः कोऽपि महान् पुरुषः । ईदृशस्य प्रतिनायकस्यावतारणे नाटककवेरस्य किमपि नाट्यकौशलं प्रतिभाति ।

राक्षसस्य वृषलसाचिन्व्यग्रहणमेवैकं सर्वविनिपातप्रतीकार चिन्तयतश्चाणक्य-स्योक्तिरियम्—अप्राज्ञेन चेत्यादि । अप्राज्ञेन स्थूलदर्शिना कातरेण निर्विक्रमेण च सानुरागेण भक्तिमता राजसेवकेन कः गुणस्स्यात् न कोऽपि लाभः राज्ञो राज्यस्य

पर भी, बीते दिनों के उसके उपकारों की स्मृति में, निःस्वार्थ भक्ति से उसका कार्यभार वहन करते हैं ॥ १४ ॥

वस्तुतः, इसीलिये, तुम्हें अपने पक्ष में लाने के लिये मेरा यह सारा प्रयत्न है जिसे मैं तभी सफल मानूँगा जब तुम्हें चन्द्रगुप्त का सचिव बनते देखूँगा । क्योंकि,

‘उस स्त्रीपि न तं राजसेवकेन कः गुणः स्यात् न कोऽपि लाभः राज्ञो राज्यस्य’

प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्, किं भक्तिहीनात् फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः, कलत्रमितरे, सम्पत्सु चापत्सु च ॥ १५ ॥

तन्मयाऽप्यस्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते, यथाशक्ति क्रियते
तद्ग्रहणं प्रति यत्नः । कथमिति ? अत्र तावद् वृषलपर्वतकयोरन्यतर-

वा । प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि प्रज्ञया विक्रमेण च शालते शोभते इति प्राज्ञात्
विक्रमशीलादपि भक्तिहीनात् निरनुरागात् राजभृत्यात् किं फलं न किमपि प्रयोजनं
सेदुधुमहम् । किन्तु येषां राजसेवापरायणानां प्रज्ञाविक्रमभक्तयः, प्रज्ञा च विक्रमश्च
भक्तिश्चेति त्रयोऽपि समुदिताः सामग्र्यवर्तिनो गुणास्त एव भृत्या भूतये सम्पत्सु
आपत्सु च सर्वदा महते कल्याणाय भवन्तीति शेषः । इतरे च ये केवलं भक्तिमन्तः,
ये वा केवलं प्रज्ञाविक्रमशालिनस्ते सर्वे कलत्रमेव कुटुम्बवत् सर्वासु समविपमद-
शासु राजैव भरणीया न राजा तैः कदापि सेव्यत इति भावः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अत्र ‘प्रज्ञाविक्रमभक्तयो येषां समुदिताः गुणास्त एव राज्ञो भृत्या’
इति वदता नाटककृता कौटिलीयार्थशास्त्रसम्मतोऽस्मात्प्रसङ्गमिष्यते । कौटिलीये
हि ‘अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तानमास्यान् कुर्वीत । गुणप्राधान्यादिति
बाहुदन्तीपुत्रमतमुल्लिख्यामात्यसम्पदं विमृशता कौटिल्येन ‘प्राज्ञः प्रतिपत्तिमा-
नुत्साहप्रभावयुक्तः दृढभक्तिरि’त्याद्यमात्यसंपदि प्रज्ञा-विक्रम-भक्तयो गुणास्सविशेषं
गणिताः ।

‘मयापि न शयानेन स्थीयते यथाशक्ति क्रियते तद्ग्रहणं प्रति यत्न’ इत्यारभ्य
‘तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यती’ति यावद् यावानर्थराशिस्स तु नाटक-
स्यास्थेतिवृत्तार्थोपायस्य बीजस्य सम्यगासमन्ताद् धानात्पोषणाद्वा समाधानं
नामाङ्गं मुखसन्धिरूपस्याङ्गिनोऽवयवभूतमिति विभाव्यं नाटकरचमिदं नाटकरचना-
दृष्ट्यानुशीलयद्भिस्सुधीभिः । अत्रैवाङ्गान्तराण्यपि युक्ति-करणादीनि समनुयन्ति ।

उस बुद्धि-विक्रम वाले राजसेवक से भी क्या लाभ जिसमें भक्ति न हो ! राजसेवक तो वे
हैं जिनमें बुद्धि और विक्रम और भक्ति तीनों समन्वित रूप से हों । क्योंकि और लोग
तो सन्पत्ति और विपत्ति-दोनों अवस्थाओं में राजा के खीपरिवार के समान हैं ॥ १५ ॥

और मैं भी इस काम में सोया-पड़ा नहीं हूँ । उसे पकड़ने के लिये यथाशक्ति सभी
प्रयत्न कर रहा हूँ । इसी लिये यह सब किया गया है जैसे कि (१) लोगों में अफवाह फैला
दी गयी है कि राजा से भी भक्ति न होने पर पर्वत की

विनाशेनापि चाणक्यस्यापकृतं भवतीति 'विषकन्यया राक्षसेनास्मा-
कमत्यन्तोपकारी मित्रं घातितः तपस्वी पर्वतेश्वर' इति सञ्चारितो
जगति जनापवादः । लोकप्रत्ययार्थमस्यैवार्थस्याभिव्यक्तये 'पिता ते
चाणक्येन घातित' इति रक्षसि त्रासयित्वा भागुरायणेनापवाहितः
पर्वतकपुत्रो मलयकेतुः । शक्यः खलु एव राक्षसमतिपरिगृहीतोऽपि
व्युत्तिष्ठमानो बुद्ध्या निवारयितुम् । न पुनरस्य निग्रहात् पर्वतकवधो-
त्पन्नमयशः प्रकाशीभवत् प्रमादुर्मलमिति । अन्यच्च, नियुक्ताश्च मया
स्वपक्ष-परपक्षयोः अनुरक्ता-परक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशभाषावे-
शाचारसञ्चारवेदिनो नानाव्यञ्जना प्रणिधयः । अन्विव्यन्ते च कुसुमपु-
रनिवासिनां नन्दामात्यसुहृदां निपुणतरं प्रचारगतयः । तत्तत्कारणमुत्पाद्य

विषकन्ययेति । विषमयी कन्या विषकन्येति विवृण्वता श्रीदुण्डिराजयज्वना
किमपि प्रमाणवचनमुद्धृतम्—

लावण्यभूषणां कान्तां योषितं क्रमशो विपैः ।

युवतीं योजयेत् कामिरिपुभूपान्नघातने ॥ इति ।

अत्र विषमयीति विपदिग्धा विशिद्धा वा कन्या भवतु सा वा भूत् किन्तु
गूढाजीवाभिः संघमुख्योन्मादनं रात्रिसमागप्रविष्टानां वा संवमुख्यानां तीक्ष्ण-
पुरुषैर्वधादि यदुक्तमर्थशास्त्रे संघभेदाधिकरणे तत्तु विवक्षितमेव ।

नानाव्यञ्जनाः प्रणिधय इति । कोटिलीयार्थशास्त्रे बहुव्यञ्जनाः प्रणिधयः परिग-
णिताः येवन्तेवासि-भिन्नु-सूत्रधार-कार्तान्तिक-नैमित्तिक-प्रौढूर्तिकादिव्यञ्जनाः

जान लो है जिसमें चन्द्रगुप्त अथवा पर्वतक में से, किसी एक को मो मृत्यु से, हमारा किया-
कराया चोपट हो जाय । (२) भागुरायण के द्वारा पर्वतकपुत्र मलयकेतु को यह कहला
कर कि उसके पिता (पर्वतक) को चाणक्य ने मरवा डाला है यहाँ से भगा दिया गया
हैं जिससे लोगों में, इस अफवाह पर कि पर्वतक को हत्या राक्षस ने करवायी है विश्वास
जम गया है अब यदि राक्षस को चाल में पड़कर वह आक्रमण करता है तो उसे अपनी
चाल से रोका जा सकता है । किन्तु उसे यहाँ पकड़ लेने से, पर्वतक के वध से उत्पन्न,
सर्वत्र फैलते अयश को धोना संभव नहीं । (३) अपने ओर शत्रु के पक्ष में अनुरक्त अर
विरक्त लोगों के संबंध में जानकारों के लिये, भिन्न-भिन्न देश और भाषा और वेश और
आचार और प्रचार के जानकार नाना प्रकार के छद्मवेशधारी अनेकों गुप्तचर नियुक्त कर
दिये गये हैं । (४) पाटलिपुत्र में रहने वाले नन्द के अमात्याँ और मित्रों को गति-

कृतकृत्यतामापादितश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः । शत्रुप्रयुक्तानाञ्च तीक्ष्णरसदायिनां प्रतिविधानं प्रति अप्रमादिनः परीक्षितभक्तयः क्षितिपतिप्रत्यासन्ना नियुक्तास्तत्रातपुरुषाः । अस्ति चास्माकं सहाध्यायि मित्रं विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः, स चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुःषष्ठ्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे च परं प्रावीण्यमुपगतः । स च मया क्षपणक-लिङ्गवारी नन्दवधप्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरमुपनीय, सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितः । विशेषतश्च तस्मिन् राक्षसः समुत्पन्नविस्मम्भः, तेनेदानीं महत् प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति । तदेवमस्मत्तो न किञ्चित् परि-

प्रणिधयो नाटककृताऽत्र कौटिल्यप्रतिपादितस्य स्वपक्षपरपक्षोपग्रहरूपस्य कार्यारम्भस्य चिन्तनादौ तत्र तत्र नाटकीयवृत्तप्रपञ्चने संयोजिताः । नेदं सर्वमर्थशास्त्राचाराभ्यासकृतमपि तु राजतन्त्रप्रत्यक्षव्यवहारज्ञाननिबन्धनमिति मन्तव्यम् ।

तीक्ष्णरसदायिनामिति । टीकाकृता श्रीदुण्डिराजेन तीक्ष्णरसदायिनो दुःखहेतव इति यदुक्तं न तत्साधु । यतो ह्यर्थशास्त्रानुसारं तीक्ष्णरसदा रसदायिनो वा ये गूढ-पुरुषास्तेऽत्र विवक्षिताः । तीक्ष्णा इति त्वेवं परिभाषिताः कौटिल्येनार्थशास्त्रे 'ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्मानो हस्तिनं व्यालं वा द्रव्यहेतोः प्रतियोधयेयुस्ते तीक्ष्णाः ।' रसदा इति तु तत्रैव यथा—'ये वन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराश्चालसाश्च ते रसदाः ।'

तीक्ष्णानां रसदानाञ्च प्रयोगः मन्त्रयुद्धसाधनमित्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् द्वादश आवलीयसाधिकरणे 'तथापि प्रतिष्ठमानस्य प्रकृतिकोपमस्य कारयेत् तीक्ष्णरसदप्रयोगञ्च । यदुक्तमात्मरक्षितके रचयं, तत्र तीक्ष्णान् रसदांश्च प्रयुजीते'त्यादि ।

विधि की सतर्कता से पता लगाया जा रहा है । (५) उन-उन कारणों के बहाने, चन्द्रगुप्त के अन्तरङ्ग भद्रभट प्रभृति प्रधान राजपुरुषों को कृतार्थ कर दिया गया है । (६) शत्रु के द्वारा नियुक्त 'तीक्ष्ण' और 'रसद' पुरुषों के प्रयत्न निष्फल करने के लिए, चन्द्रगुप्त के आस-पास ऐसे लोगों को नियुक्त कर दिया गया है जिनकी सतर्कता और राजभक्ति में कोई सन्देह नहीं । और हमारा अपना सहपाठी मित्र विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण है ही जो कि शुकाचार्य की राजनोति तथा चौसठ अंगों वाले ज्योतिष शास्त्र में पारंगत है । उसे मैंने नन्दवध की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के बाद ही, क्षपणक वेश में पाटलिपुत्र में बुला कर, नन्द के अमात्यवर्ग का मित्र बनवा दिया है और विशेष रूप से राक्षस उसपर विश्वास करता है । उससे, इस समय, हमारा बहुत बड़ा काम निकलने वाला है ।

इस प्रकार हम से कोई चूक कहीं नहीं हुई है । केवल चन्द्रगुप्त ही, जो राज्य का

हास्यते । वृषल एव केवलं प्रधानप्रकृतिः अस्मासु आरोपितराज्यतन्त्र-
भारः सततमुदास्ते । अथवा यत् स्वयमभियोगदुःखैरसाधारणैरपाकृतं,
तदेव राज्यं सुखयति । कुतः—

स्वयमावृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः ।

गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ॥ १६ ॥

क्षितिपतिप्रत्यासन्ना नियोजितास्तत्र तत्रासपुरुषा इति कौटिलीयार्थशास्त्रसंवा-
दिन्य इमा उक्तयः । 'आत्मरक्षा' प्रकरणे विनयाधिकारिकेऽधिकरणे—

‘यथात्र योगपुरुषैरन्यान् राजाऽधितिष्ठति ।

तथाऽयमन्यवाधेभ्यो रक्षेतात्मानमात्मवान् ॥’

इत्यादि सिद्धान्तयता यदुक्तं कौटिल्येन—

‘पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिञ्चितमनुरक्तं कृतकर्माणं जनमासन्नं
कुर्वीत । नान्यतो देशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं वाप्यपकृत्योपगृहीतमित्यादि
तत्सर्वमत्र नाटककृतोऽप्यभिप्रेतम् ।

प्रधानप्रकृतिरिति । सप्तप्रकृति राज्यम् । स्वाभ्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमि-
त्राणि प्रकृतयः । स्वाभ्येव प्रधानप्रकृतिः । राज्यतन्त्रभार इति राज्यतन्त्रमिति त्व-
लब्धलाभादिचतुष्टयमुच्यते ।

सततमुदास्त इति । यद्यपि कौटिलीयार्थशास्त्रानुसारेण राज्ञ-आत्मद्रव्यप्रकृति-
सम्पन्नेन नयस्याधिष्ठानेन विजिगीषुणा च सततं भाव्यम् तथापि नाटककृताऽत्र
राजा चन्द्रगुप्तश्चाणक्यश्चतुराज्यतन्त्रभारो वर्णित इति तदनुसारिणीयमुक्तिः ।

मन्त्रयुद्धमारभमाणश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं निरस्तराज्यचिन्ताभारं स्वमात्मानं च
तद्राज्यकार्यजागरूकं ध्यायं ध्यायं निश्चितस्वोद्योगसाफल्यस्सुखयन्नाह—स्वयमा-
वृत्येति । स्वभावतो निसर्गतो बलिनश्शक्तिमन्तोऽपि गजेन्द्राः नरेन्द्राश्च स्वयमात्म-
नैवाहृत्य तत्तद् भोजनादि वस्तु संभारं राज्यतन्त्रादिसंभारं च संभृत्य भुञ्जानाः
भोगं कुर्वाणाः दुःखिताः सर्वदा तत्तदर्थजातसंग्रहव्यापृततया तत्तद्दुःखमुनुभवन्तः

प्रधान प्रकृति (प्रमुख अंग) है, हम पर राज्य, संचालन का भार सौंप कर, निश्चिन्त
पड़ा है । वस्तुतः राज्य का सुख तभी है जब उसके संचालन के बड़े-बड़े दुःख न झेलने
पड़ें । क्योंकि—

‘स्वभावतः शक्तिशाली भी हाथी और राजा जब स्वयं साधन-सामग्री जुटा-जुटा कर
सुख-भोग करते हैं तो प्रायः दुःखित और खिन्न ही रहा करते हैं ।’ ॥ १६ ॥

(ततः प्रविशति सह यमपटेन चरः)

चरः—पणमह जमस्स चलणे, किं कज्जं देवेहिं अस्मेहि !

एसो क्वलु अनन्नभत्ताणं हरइ जीअं फड़फड़न्तम् ॥ १७ ॥

(प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं देवैरन्यैः ।

एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥ १७ ॥)

(अपि च) अवि अ—

प्रायस्सीदन्ति कार्यव्यग्रत्वान्मनसो बाहुल्येन क्लिश्यन्तीति भावः । यथा हि राजेन्द्रश्चन्द्रगुप्तो न तथेति तदेव महते मनस्तोषाय मम 'तेनैव च सर्वं मत्समीहितं सेत्स्यती'त्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अन्नानया वाचोयुक्त्या प्रापणं नामाङ्गमुपनिबद्धं नाटककृता । प्रापणं तु 'प्रापणं सुखसम्प्राप्ति'रिति लक्षितं नाट्यदर्पणकारेण । अत्र चन्द्रगुप्तं निरस्तराज्यसञ्चालनदुःखं चिन्तयतश्चाणक्यस्य यः मनःप्रहर्षस्तेन वीजस्य बहुभवनौन्मुख्यं साफल्यञ्च सूचितं भवति ।

यमपटेन चर इति । यमो धर्मराजस्तरसंबन्धिवृत्तादिर्वा लिखितश्चित्रितो वा यत्र स पटस्तेनोपलक्षितश्चर इति । अत्र कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके कृत्यपक्षोपजापकृत्यपक्षे 'गूढप्रणिधानं रागापरागौ भर्तरि रन्ध्रं च प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यञ्जनाभ्यामुपलभेते'त्यादि वचनं प्रमाणत्वेन द्रष्टव्यम् ।

चाणक्यनियुक्तश्वरः स्वस्य तापसव्यञ्जनश्वप्रकृतिचित्तवेदनादि च चाणक्यस्य सूचयन् यमगाथां गायन्नाह—प्रणमत यमस्येति । आर्या यमस्य चरणौ प्रणमत कृतान्तं भजत केवलम् । यतो ह्यन्यैर्देवैर्हरिहरादिभिः किं कार्यम् न किमपि प्रयोजनं सेद्धुमलम् । एष खलु यमस्तथा देवान्तराण्यतिक्रम्य विराजते यथाऽन्यभक्तानां देवान्तराणि भजमानानां परिस्फुरन्तं जीवं स्फुरतः प्राणामेव हरति विनाशयतीति ॥ १७ ॥

टिप्पणी—यमगाथया किमपि प्राकरणिकं प्रकाशयते—तथा हि षाटलिपुत्रीयाः जनास्संबोध्यन्ते यद्राक्षसभक्त्या नास्ति तेषां कल्याणम्, चाणक्य एव श्रद्धानिर्वन्धः श्रेयान् । चाणक्ये कुपिते राक्षसभक्तानां नास्ति शरणमिति ।

(यमपट लिये एक गुप्तचर का प्रवेश)

चरः—लोगो ! 'धर्मराज के चरणों की शरण आओ, और देवी-देवताओं से क्या काम ! अरे ! यमराज वह है जो अन्य देवताओं के भक्तों के प्राण-पखेरुओं को पकड़ लेता है' ॥ १७ ॥

और सुनो Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुरिसस्स जीविद्व्वं विसमादो होइ भत्तिगाहिआदो ।

मारेइ सब्वलोअं जो तेण जमेण जीआमो ॥ १८ ॥

(पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात् ।

मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः ॥ १८ ॥)

ता एदं गेहं पबिसिअ जमपड़अं दंसअंतो गाएमि । (तस्मादिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गायामि ।) (इति परिक्रामति) ।

शिष्यः—(विलोक्य) भद्र ! न प्रवेष्टव्यम् ।

चरः—हंहो ब्रह्मण ! कस्स एदं गेहम् । (अहो ब्राह्मण ! कस्येदं गृहम् ?)

शिष्यः—अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य ।

प्रकारान्तरेणोपर्युक्तमेवार्थं प्रकाशयन्नाह चरः—पुरुषस्य जीवितव्यमित्यादि । अयि आर्या ! यदि जीवितुमिच्छथ तथा कुरुत यथा वयं कुर्मः । कथमिति चेत् ? यथा वयं तेन यमेन तं यममुपजीव्य तदनुकम्पायामेव च जीवनभारं निक्षिप्य जीवामो यस्सर्वलोकं समस्तं चराचरं जगत् मारयति नाशयति तथा यूयमपि जीवथ । नास्त्यन्यः कोप्युपायो जीवनधारणस्य । यतो हि भक्तिगृहीतात् भक्त्या वशीकृतात् भक्तरक्षाबद्धश्रद्धात् विषमात् क्ररात्तस्मादेव यमादिति शेषः—पुरुषस्य प्राणिमात्रस्य जीवितव्यं जीवनधारणादि सर्वं भवति सिध्यतीति ॥ १८ ॥

टिप्पणी—अत्रापि गायया प्रस्तुतं व्यज्यते—तथाहि चाणक्यः खल्वकरुणः ज्ञातापरागान् तांस्तान् सर्वानेव नाशयिष्यति । चाणक्ये जाग्रति चन्द्रगुप्तराज्य-तन्त्रनिर्वाहके न केनापि तस्यापचरितव्यमिति ।

भक्ति के द्वारा वश में लाये गये क्रूर यमराज से भी मनुष्य की जीवनरक्षा संभव है । इसीलिये जो सारे संसार को मारने वाला है उस यमराज के सहारे हम जीवित हैं ॥ १८ ॥

इसलिये, इस सामने वाले घर में जाकर, यमपट दिखाते हुए, गीत गाता हूँ । (इधर-उधर घूमता है)

शिष्य—(देख कर) अरे भाई ! भीतर न आना ।

चर—ब्राह्मण-देवता ! यह किसका घर है ।

शिष्य—इसारे ब्राह्मणस्य भक्तः स्मरन्ति आर्यचाणक्यस्य नाम ।

चरः—(विहस्य) । हंहो ब्रह्मण ! अत्तकेरकस्स ज्जेव्व एदं धम्मभा-
दुअस्स घरं होदि, ता देहि मे पवेसं, जाव दे उवज्झाअस्स धम्मं उवदि-
सामि । (अहो ब्राह्मण ! आत्मीयस्यैव एतद् धर्मभ्रातुर्गृहं भवति,
तस्माद् देहि मे प्रवेशं, यावत् तवोपाध्यायस्य धर्ममुपदिशामि ।)

शिष्यः—(सक्रोधम्) धिङ् मूर्ख ! किं भवान् अस्मदुपाध्यायादपि
धर्मेवित्तरः ।

चरः—हंहो ब्रह्मण ! मा कुप्यः, णहि क्खु सच्चो सच्चं जाणादि, ता
किम्पि दे उवज्झाओ जाणादि, किम्पि अह्वारिसा पि जाणन्ति । (अहो
ब्राह्मण ! मा कुप्यः न हि खलु सर्वः सर्वं जानाति, तत् किमपि ते
उपाध्यायो जानाति, किमपि अस्मादृशा अपि जानन्ति ।)

शिष्यः—(सक्रोधम्) मूर्ख ! सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ?

चरः—हंहो ब्रह्मण ! जइ दे उवज्झाओ सच्चं जाणादि, जाणादु दाव
कस्स चन्दो अणमिमदो त्ति । (अहो ब्राह्मण ! यदि तवोपाध्यायः सर्वं
जानाति, जानातु तावत् कस्य चन्द्रोऽनमिमत इति ।)

शिष्यः—मूर्ख ! किमनेन ज्ञातेन गुरोर्भविष्यति ।

चरः—हंहो ब्रह्मण ! तुअ उवज्झाओ ज्जेव्व जाणिस्सदि, जं इमिणा
जाणिदेण भोदि । उज्जुअबुद्धिआ तुमं दाव इत्तिअं जाणासि कमलाणं

चरश्चाणक्यशिष्यं प्रत्यप्रस्तुतं कमलानां चन्द्रापरागादि वर्णयन् प्रस्तुतं राक्षस-

चर—(हँसते हुए) महाराज ! तब तो हमारे ही धर्मभाई का घर है । इदो, भीतर
जाने दो, मुझे तुम्हारे उपाध्याय को धर्मोपदेश देना है ।

शिष्य—(क्रुद्ध होकर) मूर्ख ! धिक्कार है तुझे ! क्या हमारे आचार्य से भी बढ़कर
तुम्हीं धर्म जानने वाले हो ।

चर—अरे ब्राह्मण देवता ! क्रोध न करो । सब लोग सब कुछ नहीं जानते । कुछ
वातें तुम्हारे आचार्य जानते होंगे और कुछ हमारे जैसे लोग भी जानते हैं ।

शिष्य—(क्रोध में आकर) मूर्ख ! हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता चुराना चाहते हो ।

चर—ब्राह्मण देवता ! यदि आपके उपाध्याय सब कुछ जानते हैं तो बतावें वह कौन
है जो चन्द्र को नहीं चाहता ।

शिष्य—मूर्ख ! मला, इसे जानने से हमारे उपाध्याय को क्या लाभ ?

चर—ब्राह्मण देवता ! तुम्हारे उपाध्याय ही बता सकेंगे कि इसके जानने से क्या

चन्दो अणभिमदो त्ति ! ण पेक्ख, (अहो ब्राह्मण ! तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेतेन ज्ञातेन भवति, ऋजुबुद्धिस्त्वं तावत् एतावत् जानासि, कमलानां चन्द्रोऽनभिमत् इति । ननु पश्य—)

कमलाणं मनोहराणं किं रूपादो विसंवदइ शीलम् ।

संपुण्णमण्डलमि वि जाइ चन्दे विरुद्धाइ ॥ १९ ॥

(कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम् ।

सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि ॥ १९ ॥)

चाणक्यः—(आकर्ष्य आत्मगतम्) 'अये ! चन्द्रगुप्तात् अपरक्तान् पुरुषान् जानामि' इति उपक्षिप्रमनेन ।

शिष्यः—मूर्ख ! किमिदमसम्बद्धमभिधीयते ?

चरः—हं हो ब्राह्मण ! सुसंबद्धं ज्जेव्व एदं भवे । (अहो ब्राह्मण ! सुसंबद्धमेवैतद् भवेत् ।)

शिष्यः—यदि किं स्यात् ।

पक्षपातिनां चन्द्रगुप्तापरागादि निपुणमुद्भावयन्नाह—कमलानामिति । यानीमानि-कमलानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि चन्द्रे षोडशकलासमन्वितेऽपि चन्द्रमसि विरुद्धानि नानुरक्तानि प्रत्युत विरक्तानि प्रद्वेपमाञ्जि वा भवन्ति तत् इदमेव निश्चीयते यन्मनोहराणां मनोज्ञानां रम्याकृतीनां वा कमलानां शीलं स्वभाव आचरितं वा रूपाद्विसंवदति न रूपमनुहरतीति भावः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—(१) अत्राप्रस्तुतप्रशंसातः प्रस्तुतं वस्तु व्यज्यते—तथाहि प्रकृतिचित्तपरिज्ञानमतीव दुष्करम् । मित्राण्यपि मित्रव्यञ्जनवदाचरन्ति । चन्द्रगुप्तस्य सम्पूर्णराजमण्डलत्वमसहमाना ये जना गूढगूढं राजापथं सेवन्ते ते खलु प्रतिलोभ है ? तुम तो सीधे ठहरे केवल इतना जानते होगे कि चन्द्र कमलों को प्रिय नहीं होता । देखो—

'कमल सुन्दर हुआ करते हैं, किन्तु उनका स्वभाव उनकी सुन्दरता से मेल नहीं खाता । क्योंकि तभी तो ये सम्पूर्ण-मण्डल चन्द्र के भी विरुद्ध रहा करते हैं ॥ १९ ॥

चाणक्य—(सुनकर आत्मगत) अरे ! इसकी बात से तो यह सूचित होता है कि यह चन्द्रगुप्त के विरुद्ध व्यक्तियों को जानता है ।

शिष्य—मूर्ख ! क्यों ऐसी उलटी-पुलटी बातें कह रहे हो ।

चर—ब्राह्मण देवता ! ये बातें सीधी लगतीं....

शिष्य—क्यों कर !

चरः—यदि सुणन्तं जाणन्तं अ जणं लहे । (सुणितुं जाणन्त इति पाठे=श्रोतुं जानन्तम् इति संस्कृतम्) यदि शृण्वन्तं जानन्तश्च जनं लभे)

चाणक्यः—(विलोक्य) भद्र ! सुखं प्रविश, लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारश्च ।

चरः—(प्रविश्योपसृत्य च) एषो प्विसामि ! जेदु जेदु अज्जो । (एष प्रविशामि । जयतु जयत्वार्यः ।)

चाणक्यः—(विलोक्य आत्मगतम्) कथं प्रभूतत्वात् कार्याणां कस्य परिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः इति न ज्ञायते । आं ज्ञातम्, अये कथमयं प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः । (प्रकाशम्) भद्र ! स्वागतम् । उपविश्यताम् ।

चरः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (यदार्य आज्ञापयतीति ।) (भूमा-
नुपविशति)

विधातव्या इति । (२) सम्पूर्णमण्डल इति तु शिल्पं वचः । चन्द्रपक्षे पूर्णबिम्बत्वं विवक्षितम् । राजपक्षे तु तदभिप्रेतं यदर्थशास्त्रे मण्डलयोन्यधिकरणे सामानातम्—विजिगीषुमित्रं मित्रमित्रं वाऽस्य प्रकृतयस्तिस्रः । ताः पञ्चभिरमात्यजनपदद्वुर्गकोश-दण्डप्रकृतिभिरेकैकशः संयुक्ताः मण्डलमष्टादशकं भवति ।' इत्यादि ।

(३) इत आरभ्य 'ननु राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संबृत्' इत्याद्यन्तं यदिति-वृत्तजातं तत् साध्ये राक्षसवशीकारे बीजस्थय सहकारित्वेन निबद्धं कार्यते फलमिति व्युत्पत्तेः कार्यमिति विज्ञेयम् ।

प्रकृतिचित्तपरिज्ञान इति । 'कृतमहामात्रापसर्पः पौरजानपदानपसर्पये' इति कौटिल्यार्थशास्त्रानुसारं चरोऽत्र नियुक्तो निपुणकाभिधः कृत्याकृत्यपक्षवेदनायेति ।

चर—यदि इन्हें सुनने-समझने वाले से भेंट होती ।

चाणक्य—(देखकर) भीतर आजाओ, सुनने-समझने वाले को पा जाओगे ।

चर—(भीतर आकर, पास पहुँचते हुए) आया महाराज ! आर्य की जय हो ।

चाणक्य—(देखते हुए, आत्मगत) यह तो निपुणक है किन्तु कार्य इतने हैं कि किस कार्य की देख माल में इसे नियुक्त किया, कुछ ठीक-ठीक ध्यान नहीं आता । हाँ, ठीक है, अरे ! यही तो वह निपुणक है जिसे प्रजा क्या सोचती है और क्या चाहती है—इसका चेष्टा करने के लिए नियुक्त किया है । (अनुकर) स्वागत है, बैठो ।

चर—जैसी आज्ञा (नीचे ही बैठ जाता है)

चाणक्यः—भद्र ! उपवर्णय इदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम् । अपि वृषल-
मनुरक्ताः प्रकृतयः ?

चरः—अध इं ? अञ्जेण क्खु तेषु तेषु विराअकारणेषु परिहरिदेसु
सुगहीदणामधेए देए चन्दउत्ते दिढं अनुरत्ताओ पइदिओ । किन्तु उण
संति एत्थ णअरे अमच्चरक्खसेण सह पढमं समुप्पण्णसिणेहबहुमाणा
तिण्णि (ण्णा) पुरिसा, जे देअस्स चन्दसिरिणो सिरिं ण सहन्ति ।
(अथ किम् ? आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिहृतेषु सुगृहीत-
नामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः । किन्तु पुनः सन्त्यत्र
नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः,
ये देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते ।)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) ननु वक्तव्यं 'स्वजीवितं न सहन्ते' इति ।
भद्र ! अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ?

चरः—कथं अजाणिअणामधेआ अञ्जस्स णिवेदिअन्ति ? (कथम-
ज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते ?)

चाणक्यः—तेन हि श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—सुणाढु अज्जो, पढमं दाव अज्जस्स रिपुपक्ख बादोक्खवणओ ।
(शृणोत्वार्यः, प्रथमं तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः ।)

चाणक्य—अच्छ । अब बताओ, तुमने क्या-क्या किया । क्या प्रजाएँ चन्द्रगुप्त को
चाहती हैं ?

चर—क्यों नहीं चाहेंगी । जब आपके द्वारा न चाहने के सभी कारण दूरकर
दिये गए तब वे हमारे प्रातः स्मरणीय सम्राट् चन्द्रगुप्त को सब प्रकार से चाहेंगी । किन्तु
इस पाटलिपुत्र में, पहले से ही, अमात्य राक्षस के परम मित्र और परम सम्मानित तीन
व्यक्ति ऐसे हैं जो सम्राट् चन्द्रगुप्त की राज्यश्री को सहन नहीं कर सकते ।

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) तब यह कहो कि ये लोग जीना नहीं चाहते । क्या इनके
नाम बता सकते हो ?

चर—बिना नाम जाने आपके सामने कैसे निवेदन करूँगा ।

चाणक्य—तब तो इनके नाम सुनना चाहता हूँ ।

चर—सुनिये महाराज ! सबसे पहले एक क्षपणक है जो आपके राज्य-पक्ष का बहुत
बड़ा पक्षपाती है ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः ।
(प्रकाशम्) किं नाम धेयो हि सः ?

चरः—जीवसिद्धी णाम । (जीवसिद्धिर्नाम ।)

चाणक्यः—‘अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणक’ इति कथमवगतं भवता ?

चरः—जेण सा अमच्चरक्खसेण प्पउत्ता विसकण्णआ देए पव्वदे-
स्सरे समावेसिदा । (येन स अमात्यराक्षसेन प्रयुक्ता विषकन्यका देवे
पर्वतेश्वरे समावेशिता ।)

चाणक्यः—(स्वगतम्) जीवसिद्धिरेष तावत् अस्मत्प्रणिधिः ।
(प्रकाशम्) भद्र ! अथ अपरः कः ?

चरः—अज्ज ! अबरा क्खु अमच्चरक्खसस्स पिअबअस्सो काअत्थो
सअड्ढासो णाम । (आर्य ! अपरः खलु अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्यः
कायस्थः शकटदासो नाम ।)

चाणक्यः—(विहस्यात्मगतम्) कायस्थ इति लब्धी मात्रा, तथापि न
युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम् । तस्मिन् मया सुहृच्छद्धाना सिद्धार्थको
निक्षिप्तः (प्रकाशम्) भद्र ! तृतीयं श्रोतुमिच्छामि ।

न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुमिति । न क्षुद्रोऽपि शत्रुरपेक्षणीय इति यथोक्तम्—
‘अरूपीयसोऽप्यरेर्बुद्धिर्महानर्थाय रोगवदि’ति ।

चाणक्य—(प्रसन्नतापूर्वक-स्वगत) क्षपणक और हमारे शत्रु-पक्ष का बहुत बड़ा पक्ष-
पाती ! (सुनाकर) उसका नाम क्या है ?

चर—जीवसिद्धि ।

चाणक्य—तुम्हें यह कैसे पता कि क्षपणक हमारे शत्रुपक्ष का पक्षपाती है ।

चर—क्योंकि उसी ने अमात्य राक्षस द्वारा नियुक्त विषकन्या को महाराज पर्वतेश्वर
को मारने के लिए लगा दिया ।

चाणक्य—(स्वगत) अरे ! यह जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है । (सुनाकर)
अच्छा, और दूसरा कौन है ?

चर—दूसरा अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र कायस्थ शकटदास है ।

चाणक्य—(हैसते हुप-स्वगत) कायस्थ एक छोटी सी हस्ती है । किन्तु छोटे भी
शत्रु की उपेक्षा ठीक नहीं । उसके लिए तो उसका बनावटी मित्र सिद्धार्थक नियुक्त ही है ।
(सुनाकर) अच्छी बात है, बताओ तीसरा कौन है ?

चरः—तिदीओ वि अमच्चरक्खसस्स दुदीअं बिअ हिअअं पुप्पउरवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम, जस्स गेहे कलत्तं ण्णासीकदुअ अमच्चरक्खसो णअरादो अवक्कन्तो । (तृतीयोऽपि अमात्यराक्षसस्य द्वितीयमिव हृदयं पुष्पपुरवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम, यस्य गेहे कलत्रं न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगरादपक्रान्तः ।)

चाणक्यः—(आत्मगतम्) नूनं सुहृत्तमः, न हि अनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति । (प्रकाशम्) भद्र ! 'चन्दनदासस्य गृहे राक्षसेन कलत्रं न्यासीकृतमि'ति कथमवगम्यते भवता ?

चरः—अज्ज ! अअं अंगुलीअमुद्दा अज्जं अवगदत्थं करिस्सदि ('अज्जं अवगमइस्सदि' इति पाठे- 'आर्यमवगमयिष्यति' इति संस्कृतम्) । (आर्य ! इयमङ्गुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति ।) (इति मुद्रामपेयति)

चाणक्यः—(मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा, राक्षसस्य नाम वाचयित्वा च सहर्षं स्वगतम्) ननु राक्षस एव अस्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति (प्रकाशम्) भद्र ! अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—सुणोदु अज्जो, अत्थि दाव अहं अज्जेण पउरजणचरिददंसणे णिउत्तो, तदा परघरप्पवेसे परस्स अणासंकणीएण इमिणा जमपडेण आहिण्डन्तो मणिआरसेट्ठिणो चन्दणदासस्स घरं पविट्ठो ह्वि, तहिं

चर—तीसरा अमात्य राक्षस का दूसरा हृदय चन्दनदास है जो पाटलिपुत्र का सबसे बड़ा जौहरी है और जिसके घर में अपना परिवार सुरक्षित रखकर अमात्य राक्षस यहाँ से बाहर निकल गया है ।

चाणक्य—(स्वगत) अवश्य ही यह राक्षस का परम मित्र होगा । क्योंकि अपने से असमान व्यक्ति के पास, राक्षस, अपने बाल-बच्चों को नहीं सौंप सकता । (सुनाकर) एक बात बताओ—तुम्हें कैसे पता कि चन्दनदास के घर में राक्षस ने अपने परिवार की धरोहर रख छोड़ी है ?

चर—महाराज ! यह अंगूठी आपको सब कुछ बता देगी । (अंगूठी देता है)

चाणक्य—(अंगूठी को देखते हुए, हाथ में लेकर राक्षस का नाम पढ़ते ही प्रसन्नता के साथ स्वगत) अब तो राक्षस ही हमारी मुट्ठी में आ गया ! (सुनाकर) अच्छा, विस्तार से सुनाओ कि यह अंगूठी तुम्हारे हाथ कैसे लगी ?

चर—सुनिधे महाराज ! मुझे पाटलिपुत्र के नागरिकों की चाल-ढाल का पता लगाने के लिए नियुक्त किया गया था । इसके बाद, दूसरा के घरों में, इस यमपट के साथ प्रवेश

जमपडअं पसारिअ प्पउत्तोहि गीदाइं गाइदुं—'। (शृणोत्वार्थः, अस्ति तावदहमार्थेण पौरजनचरित्रदर्शने नियुक्तः, ततः परगृहप्रवेशे परस्यानाशङ्कनीयेनानेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिनश्चन्दनदासस्य गृहं प्रविष्टोऽस्मि, तत्र यमपटं प्रसार्य प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम्—')

चाणक्यः—ततस्ततः ।

चरः—तदो एक्कादो आवरकादो पञ्चबरिसदेसीओ पिअदं-सणीअशरीराकिदी कुमारओ बालजणसुलहकोदूहलोत्फुल्लणअणजुअलओ णिक्कमिटु प्पउत्तो, तदो 'हा णिगादो हा णिगादो' त्ति संकापरिगाहणि-भृदणुरुओ तस्स ज्जेव्व आवरकस्स अञ्भंतरे इत्थिआअणस्स उत्थिदो महन्तो कलअलो । तदो ईसदुआरदेशदाविदमुहीए एकाए इत्थिआए सो कुमारओ णिक्कमन्तो ज्जेव्व णिब्भच्छिय अवलम्बिदो कोमलाए बाहुल-दाए । तस्सा अ कुमारसंरोहसम्भमप्पचलिदङ्गुलिदो करादोऽङ्गुलि-परिणाहप्पमाणघडिआ विअलिदा इअं अङ्गुलिमुदिआ देहलीबद्धम्मि णिपडिआ, ताए इत्थिआए अणवबुद्धन्त ज्जेव्व मम चलणपासं समाग-च्छिअ पणामणिहुआ णव-बहूव्व णिच्चला संबुत्ता, मम बि अमच्च-रक्खसस्स णामंकिदेत्ति अज्जस्स पादमूलं पबिदा, ता एसो इमाए मुहाए आगमो त्ति । (ततश्च एकस्मात् आवरकात् पञ्चवर्षदेशीयः प्रियदर्शनीय-शरीराकृतिः कुमारको बालजनसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनयुगलको निष्क-मितुं प्रवृत्तः ततः 'हा निर्गतः हा निर्गतः' इति शङ्कापारग्रहनिभृतगुरुकः । (शङ्कापडिगहं णिवेदन्त इति पाठे शङ्कापरिग्रहं निवेदयत इति सं०) तस्यैव आवरकस्याभ्यन्तरे स्त्रीजनस्य उत्थितो महान् कलकलः । तत ईपद्द्वारदेशदपितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्कामन्नेव निर्भ-

करने में लोगों को सन्देह न होने से, श्वर-उधर घूमते हुये चन्दनदास के घर में जा पहुँचा और वहाँ इस यमपट को फेला कर गीत गाने लगा ।

चाणक्य—तब क्या हुआ !

चर—यह हुआ कि देखने में बड़ा सुन्दर, लगभग पाँच साल का एक बालक, जिसकी आँखें बाल-सुलभ कौतूहल से खिली थीं, एक द्वार की ओट से बाहर निकलने लगा और उसके निकलते ही, भीतर रहने वाली स्त्रियों का 'हाय ! कहाँ गया, कहाँ गया' का घबराहट से भरा हुआ बड़ा भारी हो-हल्ला मच गया । एका-एक एक स्त्री ने किवाड़ की ओट से बाहर निकलते हुए उस बालक को डांट-फटकार कर, अपनी कोमल बाँहों से पकड़ लिया ।

त्स्यावलम्बितः कोमलया बाहुलतया । तस्याश्च कुमारसंरोधसम्भ्रम-
प्रचलिताङ्गुलेः करात् पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता विगलितेयमङ्गुलिमु-
द्रिका देहलीबन्धे निपतिता, तया स्त्रिया अनवबुध्यमानैव मम चरणपार्श्व
समागत्य प्रणामनिभृता नववधूरिव निश्चला संवृत्ता; मयाऽपि अमात्य-
राक्षसस्य नामाङ्कितेति आर्यस्य पादमूलं प्रापिता, तस्मात् एषोऽस्या
मुद्राया आगम इति ।)

चाणक्यः—भद्र ! श्रुतम् । अपसर, न चिरादस्य परिश्रमस्यानुरूपं
फलमधिगमिष्यसि ।

चरः—जं अजो आणवेदि त्ति । (यदार्य आज्ञापयति इति ।) [इति
निष्क्रान्तः ।]

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स मसीभाजनं पत्रञ्चोपानय ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) उपा-
ध्याय ! इदं मसीभाजनं पत्रञ्च ।

यह अंगूठी, जो पुरुष की अंगुली की मोटाई की माप से बनी है, उस बालक को पकड़ने
में घबराहट के कारण, उस स्त्री की काँपती हुई अँगुली से निकल गई और चौखट के पास
गिर पड़ी । वह स्त्री यह सब न जान सकी और यह अँगूठी मेरे पैर के पास चुपके से ऐसे
आ पड़ी मानो कोई नववधू आ पड़ी हो । मैंने भी इस पर अमात्य राक्षस का नाम खुदा
देख कर आपकी सेवा में इसे ला उपस्थित किया । इस अँगूठी के मेरे हाथ लगने की यही
कहानी है ।

चाणक्य—भाई ! सब सुन लिया । तुम जा सकते हो, बहुत शीघ्र तुम्हें इतने बड़े
काम का यथोचित पुरस्कार मिलेगा ।

चर—जो आज्ञा । (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(भीतर आते ही) उपाध्याय आज्ञा हो !

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! जाओ, कागज और दावात-कलम लाओ ।

शिष्य—जैसी आज्ञा, उपाध्याय ! (बाहर जाकर, और फिर भीतर आकर)
उपाध्याय ! जे रहे कागज और कलम दावात ।

चाणक्यः—(गृहीत्वा स्वगतम्) किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः ।

प्रतिहारी—(प्रविश्य) जेदु जेदु अज्जो । (जयतु जयत्वार्यः ।)

किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्य इत्याचारभ्य प्रतिमुख-सन्धिनाटकस्य प्रतिपत्तव्यः । नाटकस्यास्य प्रधान इतिवृत्तभागः प्रारम्भावस्था-भावां स्वरूपोऽङ्गतश्च परस्परं संश्लिष्टतयाऽऽरचितः मुखमिव मुखमिति पूर्वमेव निर्दिष्टम् । मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखं यस्यैतस्य प्रतिमुखसन्धिरिति संज्ञान्तरं तत्तु यथा लङ्घितं नाट्यदर्पणकृता—

‘प्रतिमुखं कियल्लचयबीजोद्धाटसमन्वितः’ इति ।

मुख-प्रतिमुखयोः पारस्पर्यं नाटकेऽस्मिन्स्तावदिस्थं हरयते । मुखसन्धौ हि चाणक्यस्य नायकस्य वीरभावोत्सिक्तस्य प्रारम्भावस्येति परिभाषिता काय-वाङ्-मनोव्यावृत्तिस्तत्र तत्रोपनिबद्धा नाटककृता, तदनुसारि चेतिवृत्तार्थोपक्रमभूतं राक्षसकृताभियोगनिवृत्त्युपायचिन्ताद्यध्यवसायरूपं भाविफलैकनिदानं बीजमुप-क्षिप्तम् ।

प्रतिमुखं हि मुखप्रेक्षि मुखानुकूलं नाटकीयेतिवृत्तादेर्भागात्मनाऽवतिष्ठते । मुखे नाटकस्य चाणक्यस्य प्रतिनायकस्य राक्षसस्य च विनिपातप्रतिक्रियाचिन्तनौप-यिकं विनिपातक्रियाचिन्तनौपयिकं च यथायोगं यदौत्सुक्यं साक्षादसाक्षाच्च वर्णितं तदेव चारनिवेदनादिनाऽवश्यकरणीयेन किमपि व्यवहितं सत् पुनः प्रकर्षेण प्रवर्त-मानं प्रतिमुखसन्धेरुत्तम्भकम् । आरम्भावस्थानन्तरं प्रयत्नदशा कस्यापि सचेतस इति मुखसन्धेरनन्तरमेव प्रतिमुखसन्धिरवसरं लभते । नायकस्य विनिपातप्रती-कारौत्सुक्यं गुप्तचरकृतेन चारनिवेदनेन मुद्राप्रदानेन च कयाऽपि त्वरया प्रस्पन्द-मानं परमौत्सुक्यरूपेण यल्लिबध्यते तदेव प्रयत्नदशापरिकर्मितं प्रतिमुखम् । पूर्वो-पक्षिणं विनिपातप्रतीकारचिन्तनादिवृत्तिरूपं यद् बीजं तदेव नायककृतेन चारज्ञान-मुद्रालाभाद्यनन्तरं कपटलेखनिष्पादनशकटदासादिवधबन्धनव्यवसायादिना वृत्तेन विन्द्वात्मना लब्धसेकं स्तम्बीभवितुमर्हमिति विन्दूपन्यासः प्रयत्नावस्थानुरूपोऽत्र कृत इति प्रतिमुखसन्धिस्संहृद्यो नाटककृतेति निपुणं निरूपणीयं सुधीभिः ।

प्रतिहारीति—कार्यनिवेदिका शोणोत्तरेति यन्नामाग्रे निवेदयिष्यते नाटककृता । प्रतिहारीलङ्घनं यथा—

चाणक्य—(कागज और कलम-दावात लेकर स्वगत) इस पर क्या लिखूँ ! इसी लेख से राक्षस को जेतना है ।

प्रतिहारी—(प्रवेश कर) जय हो, महाराज ! जय हो ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) गृहीतोऽयं जयशब्दः (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! किमागमनप्रयोजनम् ?

प्रतिहारी—अज्ज ! कमलमुडलाआरमञ्जलिं सीसे णिवेसिअ देओ चन्दसिरी अज्जं बिण्णवेदि-‘इच्छामि अहं अज्जेण अब्भणुण्णादो देअस्स पब्बदेसरस्स पारलोइअं कादुं, तेणअ धारिदपुब्बाइं गुणवन्ताणं बह्मणाणं पडिबादेमि’त्ति । (आर्य ! कमलमुकुलाकारमञ्जलिं शीर्षे निवेश्य देवश्चन्द्र-श्रीरार्यं विज्ञापयति—‘इच्छाम्यहमार्येणाभ्यनुज्ञातो देवस्य पर्वतेश्वरस्य पार-लौकिकं कर्तुम्, तेन च धारितपूर्वाण्याभरणानि गुणवतां ब्राह्मणानां प्रति-पादयामि’ इति ।)

‘सन्धिविग्रहसन्नद्धनानाचारसमुत्थितम् ।

निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतिहार्यस्तु ता मताः ॥’ इति ।

जयत्वार्य इति । अत्र पताकास्थानकं किमपिचमत्कारनिबन्धनमारचितम् । चाणक्यो हि नायकः ‘अनेन लेखेन राक्षसो जेतव्य’ इति यदैव मनसि तत्तच्चिन्तयति तदैव प्रतिहारी समागत्य ‘जयत्वार्य’ इति जयशब्दं प्रसङ्गान्तरोपनिपातनाय समुच्चारयति । ततश्च राक्षसजयादिरूपमुपायमध्यवस्यतश्चाणक्यस्य प्रतिहारीकर्तृक-प्रणाम-मङ्गलाशंसनरूपस्य जयस्य लाभेन यः मनःप्रहर्षस्तदुपनिबन्धनोपायभूतं प्रतिहार्यागमनादिरूपमिति वृत्तमत्र प्रधानवृत्तोपकारकं प्रथमं पताकास्थानकं यद्धि नाट्यस्यालङ्करणमिव किमपि निबद्धं नाटककृता । आद्यमिदं पताकास्थानकं यद्धि ‘सहस्रेष्टार्थलाभ’ इति लक्षितं नाट्यदर्पणकृता, यत्प्रयोजनं च सभ्यानामाकस्मिक-चमत्कारजननादि स्वयमूह्यमिथिलं विस्तरेण । गृहीतो जयशब्द इति तु प्रथममङ्गं प्रतिमुखसन्धेसंयोजितम् । इदमेवाङ्गं ‘विलासो नृच्ययोरीहे’ ति विलास इति परिभाष्यते । वीररसप्रधानमिदं नाटकम् । मुखसन्धावुपक्रान्तो हि वीरो रसोऽत्र प्रतिमुखसन्धौ चाणक्यस्योत्साहसम्पद्धिभूषितस्य राक्षसजयाभिलाषसंरम्भरूपेण विलासेन सविशेषमुपन्यसनीय इति विलासप्रकाशकमङ्गमिदम् ।

चाणक्य—(प्रसन्न होकर-स्वगत) यह जय शब्द तो बड़ा ही अच्छा लगा ! (सुनाकर) शोणोत्तरे ! कैसे आना हुआ ।

प्रतिहारी—महाराज ! कमल-मुकुल की भाँति प्रणामाञ्जलि सिर से लगाकर सम्राट् चन्द्रगुप्त का निवेदन है कि, यदि आपकी अनुमति हो, तो महाराज पर्वतेश्वर का आदर कर दिया जाय और उनके पहले पहने हुए आभरणों को योग्य ब्राह्मणों को दान में दे दिया जाय—

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वृषल ! साधु ! ममैव हृदयेन सह सम्मन्त्र्य सन्दिष्टवानसि । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! उच्यतामस्मद्वचनाद् वृषलः साधु, वत्स ! साधु, अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम्, तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिराजः, किन्तु पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणि भूषणानि गुणवन्ति, गुणवद्भ्य एव ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपादनीयानि । तद् एषोऽहं स्वयं परीक्षितगुणान् ब्राह्मणान् प्रेषयामि ।

प्रतिहारी—जं अज्जो आणवेदि त्ति । ('यदार्थं आज्ञापयतीति ।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव ! उच्यन्तामस्मद्वचनाद्विश्वावसुप्रभृतयस्त्रयो भ्रातरो यथा—'वृषलात्प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरहं द्रष्टव्य' इति ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—(स्वगतम्) उत्तरोऽयं लेखार्थः, पूर्वः कतमोऽस्तु ।

(विचिन्त्यः) आं ज्ञातः, उपवध्वानस्मि प्रणिधिभ्यः, यथा तस्य म्लेच्छराजबलस्य मध्यात् प्रधानतयाः पञ्च राजानः परया भक्त्या राक्षसमनुवर्तन्ते । ते यथा—

चाणक्य—(प्रसन्नता पूर्वक-स्वगत) बहुत अच्छा चन्द्रगुप्त ! तुमने मानो मेरे मन की ही बात कही । (सुनाकर) मेरी ओर से सम्राट् से कहना कि उन्हें लोक-व्यवहार का ज्ञान है और वे जैसा उचित समझें करें ? किन्तु एक बात का ध्यान रहे कि महाराज पर्वतेश्वर द्वारा धारण किये गये आभूषण बहुमूल्य हैं और उन्हें सच्चे ब्राह्मणों को ही दान में दिया जाना चाहिये । इसलिए मैं अच्छी तरह छानबीन कर, स्वयं, ब्राह्मणों को भेज रहा हूँ ।

प्रतिहारी—जैसी आज्ञा महाराज ! (बाहर निकल जाती है ।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !! मेरी ओर से विश्वावसु प्रभृति तीनों भाइयों से कहो कि उन्हें सम्राट्-चन्द्रगुप्त के पास जाना है और वहाँ से दान-दक्षिणा में मिले आभूषणों के साथ मुझसे मिलना है ।

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(स्वगत) यह तो लेख का अन्तिम भाग है । प्रारम्भ का क्या हो ! (कुछ सोचकर) हाँ, समझ गया । जैसा कि गुप्तचरों से पता चला है कि म्लेच्छराज की सेनाओं के पाँच प्रमुख राजगण बड़ी भक्ति से राक्षस का अनुगमन कर रहे हैं ।

जैसे कि—

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः

काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुपेणः ।

मेघाक्षः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो

नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥ २० ॥

राक्षसविजयाय प्रयोक्ष्यमाणस्य कूटलेखस्यार्थस्वरूपं निपुणं निरूपयतश्चाण-
क्यस्य सुनिश्चितभाविकार्यसिद्धेरुक्तिरियम्—कौलूतश्चित्रवर्मेति । आः चिन्ततं लेख-
स्य पूर्वलेख्यमर्थजातम् राक्षसं परया भक्त्या सेवमानानां मलयकेतुसेनामहाध्या-
क्षाणां प्रधानतमानां पञ्चानां राज्ञां किमपि तादृशं कर्मादिलेख्यमत्र लेखे यद् दृष्ट्वैव
मलयकेतुः क्रोधान्ध एकत एतान् विनाशयेदपरतश्च राक्षसादपरज्येतेति । इमे ते
पञ्च राजानोऽस्मच्छत्रुसेनामहादण्डनायकाः । प्रथमस्तु कौलूतः कुलूतदेशाधिपतिः
चित्रवर्मेतिनामतो स्वगुणश्लाघातश्च विचित्रवर्मादिसन्नाहदुराधपंत्वादेः । द्वितीय-
स्तु मलयनरपतिः मलयमहाराजो नृसिंहः नरश्रेष्ठस्सिंहनाद इति नामतः स्वगुणा-
भिख्यानाच्च सिंहवत्प्राणिमात्रभयङ्करत्वादेः । तृतीयस्तु काश्मीरः काश्मीर-देशनाथः
पुष्कराक्ष इति नाम दधानोऽथ चात्मानमपि पुष्कराक्षत्वेन विक्रान्तविष्णवात्मना
मन्यमान इति । योऽयं चतुर्थस्स तु क्षतरिपुमहिमा क्षते विनाशितः रिपूणां
महिमाऽभिषेणनशक्तिर्येनैवंभूतं एवंरूपं वाऽस्मानं विजानाथः सैन्धवस्सिन्धुनरपतिः
सिन्धुपेण इति संज्ञाप्यमानस्स्वयमपि स्वसेनागणनामगण्यां भन्वान इति.....
योऽसौ पञ्चमस्स तु पारसीकाधिराजः पारसीकाधिपतिः पृथुतुरगबलः प्रभूताश्वारो-
हिसैन्यः मेघाक्ष इति नामतो गुणविकथनातश्च । लेखस्य मम पूर्वार्थभूना इम एव
ते पञ्च राजानः । एषां निश्चितमृत्यूनां देवेनाप्यशक्यरक्षाणां नामानि ध्रुवमहम-
स्मिन् लेखे लिखामि, का शक्तिश्चित्रगुप्तस्य मृत्युलेखाध्यक्षस्यापि मल्लेखमन्यथा
कर्तुम् ! यद्यस्ति काचन शक्तिरागच्छतु स वराकश्चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु चाधुना मरपुरत
एव नामानीमानि मल्लेखतोऽवश्यंभाविमरणानाममीषामिति भावः ॥ २० ॥

१—कुलूतराज, चित्रवर्मा (नाम के अनुरूप जिसका सेनासंनह भी विचित्र होगा) ।

२—मलय नरेश—सिंहनाद (जैसा नाम वैसा गुण वाला मानो हमारे लिये नृसिंह
अवतार बनकर आया हो ।)

३—काश्मीर के महाराज—पुष्कराक्ष (नाम से मानो शत्रुजय महादेव का
अवतार हो ।)

४—सिन्धु देशाधिप, शत्रुमर्दन सिन्धुपेण (नाम से मानो सेना का समुद्र हो ।)

५—विशाल अश्ववासिनी लिये पारसीकाधिराज मेघाक्ष आरम्भ में इन्हीं के नाम
लिखता हूँ, वरराज की लेखक चित्रगुप्त यदि इन्हें मिटा सके तो मिटाये ॥ २० ॥

(विचिन्त्य) अथवा न लिखामि, सर्वमनभिष्यक्तमेव तावदास्ताम् ।
(प्रकाशम्) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव ।

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स ! श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नेन लिखितान्यपि नियत-
मस्फुटानि भवन्ति, तदुच्यतामस्मद्वचनात् सिद्धार्थकः । (कर्णे एवमिव)
'एभिरक्षरैः केनापि, किमपि, कस्यापि स्वयं वाच्यम्' इति, अदत्तबाह्य-
नामानं लेखं शकटदासेन लेखयित्वा मामुपतिष्ठस्व, न चारुयेयमस्मै
'चाणक्यो लेखयती'ति ।

शिष्यः—तथेति । (निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—(स्वगतम्) हन्त जितो मलयकेतुः ।

सिद्धार्थकः—(लेखहस्तः प्रविश्य) जयतु जयत्वार्थः । आर्य ! अयं सः
शकटदासेन स्वहस्तलिखितो लेखः । (जेदु जेदु अज्जो । अज्ज ! अअं सो
सअडदासेण सहत्थलिखिदो लेहो ।) ('मह वअणेण अविचालिय'
इत्यधिकपाठे—'मम' वचनेनाविचार्य' इति संस्कृतम् ।)

टिप्पणी—अत्र प्रतिमुखसन्धेरङ्गमुपन्यासरूपं निबद्धम् । उपन्यासलक्षणं तु—
'उपपत्तिरुपन्यास' इति ।

अत्र राक्षसमलयकेत्वोर्भेदकरणरूपमर्थजातं विधातुं चाणक्यस्य या गूढलेख-
रचनासम्बन्धिनीयमुक्तिस्सैवोपन्यास इति ।

(कुछ सोचकर) नहीं नाम नहीं लिखूंगा । पहले सब कुछ गुप्त ही रहना चाहिये ।
(सुनाकर) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(प्रवेश कर) उपाध्याय ! आज्ञा हो ?

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! मैं श्रोत्रिय ठहरा मेरे लिखे अक्षर, चाहे वे जैसे भी सँभाल कर
रख लिये जाँय, दूसरों के पढ़ने में न आ पावेंगे । इसलिये मेरी ओर से सिद्धार्थक से जाकर
कहो (कान में सब कुछ कह कर) कि वह शकटदास के द्वारा, जिसे केवल इतना ही
पता चल सके कि कोई एक व्यक्ति, किसी एक व्यक्ति के पास, किसी बात के लिये,
कुछ लिखवा रहा है, यह लेख लिखवा कर मुझ से मिले । यह ध्यान रहे कि उसे यह
पता न चलने पावे कि चाणक्य के द्वारा यह सब लिखवाया जा रहा है ।

शिष्य—ऐसा ही होगा । (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(स्वगत) वस ! मलयकेतु को जीत लिया ।

सिद्धार्थक—(हाथ में लेख लिये भीतर आकर) जय हो महाराज ! शकटदास
द्वारा लिखा गया लेख यह रहा ।

चाणक्यः—(गृहीत्वा निरीक्ष्य) अहो दर्शनीयताक्षराणाम् (इत्यनुवाच्य)
भद्र ! अनया मुद्रया मुद्रयैनम् ।

सिद्धार्थकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । अज्ज ! अअं सो मुद्दिदो लेहो,
ता आणवेदु अज्जो किं अबरं अणुचिट्ठीअदुत्ति । (यदार्य आज्ञापयति ।
(तथा कृत्वा) आर्य ! अयं स मुद्रितो लेखः, तदाज्ञापयत्वार्यः किमपर-
मनुष्ठायतामिति ।)

चाणक्यः—भद्र ! कस्मिंश्चित् आत्मनाऽनुष्ठेये कर्मणि त्वां व्यापार-
यितुमिच्छामि ।

सिद्धार्थकः—अज्ज ! अणुगहीदाहि, ता आणवेदु अज्जो, किं इमिणा
दासजणेण अज्जस्स अणुचिट्ठिदव्वं ! (सहर्षम्) (आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि,
तदाज्ञापयतु आर्यः किमनेन दासजनेन आर्यस्यानुष्ठातव्यम् !)

चाणक्यः—भद्र ! प्रथमं तावत् वध्यस्थानं गत्वा घातकाः सरोषं दक्षि-
णाक्षिसङ्कोचसंज्ञां ग्राहयितव्याः, ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादित-
स्ततः प्रवृत्तेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः, तस्माच्च
मुद्रत्प्राणरक्षणपरितुष्टात् पारितोषिकं ग्राह्यम्, राक्षस एव कश्चित् कालं

अहो दर्शनीयताक्षराणामिति । राजशासनस्य लेखस्य काचन सम्पदत्र यथाऽर्थ-
शास्त्रं विवक्षिता नाटककविना । अर्थशास्त्रे हि—‘आशुप्रन्थश्चार्वाचरो लेखकः स्यादि’ति
यत् प्रतिपादितम्, तदेवान्न प्रकारान्तरेणोपपादितमिति ।

चाणक्य—(हाथ में लेकर—ध्यान से देखते हुए) कितने सुन्दर अक्षर
हैं ! (पढ़ कर) सिद्धार्थक ! इस पर इस अंगूठी को छाप लगा दो ।

सिद्धार्थकः—जैसी आज्ञा (छाप लगा कर) महाराज ! यह रहा छाप लगा लेख !
आज्ञा हो और क्या करूँ ।

चाणक्य—सिद्धार्थक ! तुम्हें एक ऐसा काम सौंपना चाहता हूँ जिसे मैं स्वयं करता !

सिद्धार्थक—(प्रसन्नता के साथ) यह तो आप की कृपा है महाराज ? आज्ञा दें—
दास को अब क्या करना है ।

चाणक्य—सिद्धार्थक ! सबसे पहले तुम्हें वध्य-भूमि पर जाना है और वहां अधिकों
को यह संकेत समझा देना है कि शकटदास का वध करने के समय, जैसे ही तुम उन पर
बिगड़ उठो और अपनी दाहिनी आंख दबाओ, उन्हें घबराहट में आकर वहां से भाग खड़ा
होना है और यह सब हो चुकने पर तुम्हें शकटदास को वध्य-भूमि से भगाकर राक्षस के
पास पहुंचाना है मित्र को प्राणरक्षा से प्रसन्न राक्षस से पारितोषिक लेना है कुछ समय

(कर्णे एवमेवम्) सेवितव्यः, ततः प्रत्यासन्नेषु त्वया प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम् ।

सिद्धार्थकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (यदार्थं आज्ञापयतीति ।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः—उच्यतां मद्बचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च, यथा वृषलः समाज्ञापयति 'य एष क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विषकन्यया पर्वतेश्वरं घातितवान् ; स एनमेव दोषं प्रख्याप्य सनिकारं नगरात् निर्वास्यताम्' इति ।

शिष्यः—तथेति । (इति परिक्रामति ।)

चाणक्यः—यत्स ! तिष्ठ तिष्ठ, 'योऽयमपरः, कायस्थः शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुमिह प्रयतते, स चाप्येनं दोषं प्रख्याप्य, शूलमारोप्यतां, गृहजनश्चास्य बन्धनागारे प्रवेश्यतामिति ।

शिष्यः—तथेति । (इति निष्क्रान्तः ।)

तक राक्षस की ही सेवा में रहना है और जब हमारे दूसरे लोग जमा हो जायें तब (कान में सब बातें कह कर) यह काम पूरा करना है ।

सिद्धार्थकः—जो आज्ञा महाराज ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(भीतर आकर) क्या आज्ञा है उपाध्याय !

चाणक्य—जाओ, मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक से यह कहो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि जीवसिद्धि नाम के जिस राक्षस-प्रयुक्त क्षपणक ने विषकन्या के द्वारा महाराज पर्वतेश्वर की हत्या करवायी है, उसे, उसके अपराध की घोषणा करते हुए, अपमान के साथ, नगर से निर्वासित कर दिया जाय ।

शिष्य—जैसी आज्ञा उपाध्याय ! (चलने लगता है)

चाणक्य—ठहरो, ठहरो, सुनते जाओ । और दूसरा व्यक्ति जो कायस्थ शकटदास कहलाता है और जो राक्षस की चाल चलता हुआ इसी पाटलिपुत्र में हमारे प्राण का ग्राहक बना हुआ है, इसी अपराध की घोषणा के साथ साथ फाँसी पर चढ़ा दिया जाय और उसके बाल-बच्चोंको कारागार में बन्द कर दिया जाय ।

शिष्य—वेसाही होमा भावदर निकल जाता है ।

चाणक्यः—(चिन्तां नाटयित्वा स्वगतम् ।) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! गहीदो (आर्य ! गृहीतः ।)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) हन्त ! गृहीतो राक्षसः (प्रकाशम्) भद्र ! कोऽयं गृहीतः ?

सिद्धार्थकः—गहीदो मए अज्जस्स सन्देशो, ता गमिस्सं अहं कज्जसिद्धीए (गृहीतो मया आर्यस्य सन्देशः, तद् गमिष्याम्यहं कार्यसिद्ध्यै ।)

चाणक्यः—(साङ्गुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा) भद्र ! सिद्धार्थक ! गम्यताम्, अस्तु ते कार्यसिद्धिः ।

सिद्धार्थकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (प्रणम्य निष्क्रान्तः) (यदार्थ्य आज्ञापयतीति ।)

आर्य ! गृहीत इत्यत्र पताकास्थानकमपरं निबध्नाति—कविर्नाट्यस्यालङ्कारणायेति । तथाह्यत्र चाणक्येन 'अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येते' त्यादिस्वमनोरथेऽस्फुटमुपनिसे सिद्धार्थकस्य प्रविशतो यत् 'आर्य ! गृहीत' इति प्रत्युत्तरं सन्देशग्रहणज्ञापनप्रयोजनेन प्रयुक्तं तस्य प्रस्तुतार्थसम्बन्धतया चाणक्यहृदये राक्षसग्रहग्रहिलतायाः सविशेषं निश्चायकं चतुर्थमिदं पताकास्थानकम् । इदं हि 'अप्रकटे शिल्ल-स्पष्ट-प्रत्यभिधाऽपि चे'ति लक्ष्यते नाट्यविद्धिः ।

चाणक्य—(चिन्तित होने का अभिनय करते हुए, स्वगत) क्या अब भी यह दुष्ट राक्षस वश में न आवेगा !

सिद्धार्थक—आ गया महाराज !

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ स्वगत) क्या, राक्षस वश में आ गया ! (सुना कर) क्यों, क्या आ गया !

सिद्धार्थक—महाराज ने जो कुछ कहा, समझ में आ गया । अब मैं अपने काम पर चलाता हूँ ।

चाणक्य—(अंगूठी के साथ लेख सौंपते हुए) जाओ सिद्धार्थक । अपना काम पूरा करो ।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा महाराज ! (प्रणाम कर चला जाता है ।)

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्यायं विज्ञापयतः 'इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनमि'ति ।

चाणक्यः—शोभनम् । वत्स ! मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—(इति निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह पुनः प्रविश्य) यदाज्ञापयत्युपाध्यायः, इत इतः श्रेष्ठिन् !

चन्दनदासः—(स्वगतम्)—

चाणक्यमि अकरुणे सहसा सदाबिदस्स लोअस्स ।

वड्ढइ णिहोसस्स वि सङ्का, कि जाददोअस्स ? ॥ २१ ॥

(चाणक्येऽस्मिन्नकरुणे सहसा शब्दायितस्य लोकस्य ।

वर्द्धते निर्दोषस्यापि शङ्का, किं जातदोषस्य ? ॥ २१ ॥)

(ता भणिदा मए धणसेणप्पमुहा तिणि वाणिजिया । जधा 'कदाबि

चाणक्यमुपसर्पश्चन्दनदासः किमप्यनिष्टं स्वविषयकं मनसि निध्यायन्नाह—चाणक्येऽस्मिन्नित्यादि । हन्त ! अकरुणे निर्दये चाणक्ये सति तेन शब्दायितस्याहूतस्य लोकस्य जनस्य निर्दोषस्यापि निरपराधस्यापि शङ्का 'न जाने किं भविष्यती'त्यादिरूपं भयं सहसाऽस्मादेव वर्द्धते । मम पुनर्जातदोषस्य राक्षसकलत्ररक्षणादिना कृतराजापथ्यस्याऽपराधिनः पुनः कथैव का ? सुतरामेव नष्टोऽहमधुनेति भाव इति ॥ २१ ॥

शिष्य—(प्रवेश कर) उपाध्याय ! कालपाशिक और दण्डपाशिक का निवेदन है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन होगा ।

चाणक्य—बहुत ठीक । शार्ङ्गरव ! अब मुझे चन्दनदास को देखना है ।

शिष्य—जैसी आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर निकल कर, चन्दनदास के साथ पुनः प्रवेश करके) इधर आइये सेठ जी, इधर ।

चन्दनदास—(स्वगत)

'यह चाणक्य भी कैसा निर्दय है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी निर्दोष क्यों न हो, अचानक इसके सामने बुलाये जाने पर, डर से काँप उठता है । फिर मेरा क्या कहना । मैं तो सचमुच इसका अपराधी हूँ ॥ २१ ॥

अब जो भी हो । कम से कम धनसेन इत्यादि अपने कारबारियों को

{ १३ पाथ भव न वेद वेदाङ्ग पञ्चमः }

चाणक्यकहदओ गेहं मे विचिण्डावेदि, ता अबहिदा णिण्वहध भट्टिणो
अमच्चरक्खसस्स घरअणं, मह दाब जं होदि तं होदुत्ति (तद्धणिता मया
धनसेनप्रमुखास्त्रयो वाणिजिका यथा 'कदापि चाणक्यहतको गेहं मे
विचिनोति तदवहिता निर्वहत भर्तुः अमात्यराक्षसस्य गृहजनम्, मम
तावत् यद्भवति तद्भवतु' इति ।

शिष्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! इत इतः ।

चन्दनदासः—अअं आगदोहि [उभौ परिक्रामतः] अयमागतोस्मि ।

शिष्यः—उपाध्याय ! अयं श्रेष्ठी चन्दनदासः ।

चन्दनदासः—(उपसृत्य) । जेदु जेदु अज्जो (जयतु जयत्वार्यः ।)

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य) भो श्रेष्ठिन् ! स्वागतम् । इदमासन-
मास्थताम् ।

चन्दनदासः—(प्रणम्य) अत्र 'सहिदअस्स' इत्यधिकपाठे—'सह-

'भोः श्रेष्ठिन् ! स्वागत'मित्याद्यारभ्य 'कथं न ज्ञायते नामे'त्याद्यन्तं यत्प्रश्न-
प्रतिप्रश्नादि तत्तु प्रतिमुखसन्धेरङ्गं प्रगमनं नाम । प्रगमनस्य लक्षणं यथा—'प्रगमः
प्रतिवाक्श्रेणिरिति । मुखसन्धौ निश्चितं राक्षसवशीकारोपायादिरूपं यद्बीजं तदेव
चन्दनहासनिग्रहादिना प्रतिमुखेऽत्र समुद्घाटितं चाणक्यस्य प्रयत्नपरिचायकत्वे-
नाऽवस्थितमिति निपुणमुद्भावनीयं सुधीभिरिति ।

मैं कह चुका हूँ कि अमात्य राक्षस का कुटुम्ब, जब कभी इस दुष्ट चाणक्य द्वारा घर-
घर-तलाशी हो, सावधानी के साथ, कहीं और हटा दिया जाय । मुझ पर जो बीते,
बीत जाय ।

शिष्य—इधर, सेठ जी ! इधर ।

चन्दनदास—आया, आया । (दोनों चलते हैं)

शिष्य—उपाध्याय । सेठ चन्दनदास आये हैं ।

चन्दनदास—(पास पहुँच कर) जय हो महाराज !

चाणक्य—(विचित्र ढंग से देखते हुए) अरे । सेठ जी ! आइये, आइये, यहाँ इस
आसन पर विराजिये ।

चन्दनदास (प्रणाम करके) महाराज ! मैं यह सब कुछ जानते ही हैं कि

दयस्य' इति संस्कृतम् । किं ण जाणादि अज्जो, जहा अणुचिदो उब-
आरो परिहवादोवि महन्तं दुःखमुप्पादेदि, ता इह ज्जेव्व अहं उचिदाए
भूमीए उबविसामि । (किं न जानाति आर्यः, यथाऽनुचित उपचारः
परिभवादपि महद्दुःखमुत्पादयति, तद् इहैव अहमुचितायां भूमावु-
पविशामि ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! मा मैवम्, उचितमेवैतत् अस्मद्विधैः सह
भवतः, तदुपविश्यतामासन एव ।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) उपलक्षिदमणेण किम्पि (प्रकाशम्)
जं अज्जो आणवेदि त्ति । (उपविष्टः) (उपलक्षितमनेन किमपि । यदार्थ
आज्ञापयति इति ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! चन्दनदास ! अपि प्रचीयन्ते सव्यवहाराणां
वृद्धिलाभा वः ?

चन्दनदासः—(स्वगतम्) अच्छादरो संकणीओ अज्ज ! (प्रकाशम्)
अध इं, अज्जस्स पसाएण, अखण्डिदा मे वाणिज्जा । (अत्यादरः शङ्कनीयः ।
(आर्य ! अथ किम्, आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वाणिज्या ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! अपि कदाचित् चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्त-
पार्थिवगुणान् अधुना स्मारयन्ति प्रकृतीः ?

मेरा यह सत्कार मेरे उचित नहीं और इसलिये मुझे यह सब तिरस्कार से भी बढ़ कर
बुरा लग रहा है । मेरे बैठने योग्य तो यह धरती है मुझे यहीं बैठने दिया जाय ।

चाणक्य—नहीं नहीं, सेठ जी ! ऐसा न कहिये । आसन पर ही विराजिये । हमारे
साथ तो आप का आसन पर ही विराजना ठीक लगता है ।

चन्दनदास—(स्वगत) इसने कुछ ताड़ लिया है । (सुनाकर) जो आज्ञा
महाराज ! (बैठ जाता है)

चाणक्य—कहिये सेठ चन्दनदास ! आपके वाणिज्य-व्यवसाय तो बढ़ती पर हैं न ।

चन्दनदास—(स्वगत) इतना आदर-सत्कार ! कोईने कोई अनिष्ट होने वाला
है । (सुनाकर) हाँ महाराज ! महाराज की कृपा से वाणिज्य-व्यापार ठीक ठीक ही चल
रहा है ।

चाणक्य—क्यों सेठ जी ! क्या कभी २ प्रजाओं को चन्द्रगुप्त की इष्टियां दिवंगत
महाराज के गुणों का स्मरण नहीं कराती ।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावं । सारअणिसासमुधादेण विअ पुण्णिमाचन्देण चन्दसिरिणा अधिअं णंदन्ति पइदिओ । (शान्तं पापम्, शारदनिशासमुद्गतेनेव पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रश्रियाऽधिकं नन्दन्ति प्रकृतयः ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् । यद्येवं, प्रीताभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रियमिच्छन्ति राजानः ।

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो । 'किं कित्तिअं वा अत्थजादं इमादो इच्छीअदि ति । (आज्ञापयतु आर्यः किं अर्थजातमस्माज्जनादिष्यत इति)।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्तराज्यमिदम् न नन्दराज्यम्, यतो नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति, चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव ।

चन्दनदासः—(सहर्षम्) अज्ज ! अणुगहीदोहि । (आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! स चापरिक्लेशः कथमाविर्भवतीति न पुनः प्रष्टव्याः स्मो भवता ?

चन्दनदास—(कानों पर हाथ रख कर) नहीं नहीं, ऐसा न कहें महाराज ! प्रजायें तो सम्राट् चन्द्रगुप्त को देख कर ऐसा प्रसन्न हो रही हैं जैसा शरत् पूर्णिमा के चन्द्र को देख कर प्रसन्न हुआ करती हैं ।

चाणक्य—सेठ जी ! यदि ऐसी बात है तब तो राजा लोग भी अपनी प्रसन्न प्रजाओं से कुछ आशायें रखा करते हैं !

चन्दनदास—आज्ञा हो महाराज ! इस दास से क्या और कितनी सेवा चाहिये ?

चाणक्य—सेठ चन्दनदास ! यह राज्य चन्द्रगुप्त का है, नन्द का नहीं । धन-लुब्ध नन्द को धन से प्रसन्न किया जा सकता होगा, चन्द्रगुप्त को तो आप की सुख-समृद्धि से ही प्रसन्नता है ।

चन्दनदास—(प्रसन्न होकर) महाराज ! यह तो आप की कृपा है ।

चाणक्य—हे सेठ जी ! किन्तु आपने यह पूछा नहीं कि आप को किस प्रकार सुखी और समृद्ध बने रहना चाहिये !

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो । (आज्ञापयत्वार्यः ।)

चाणक्यः—संक्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिर्वर्तितव्यम् ।

चन्दनदासः—अज्ज ! को उण अधण्णो, अज्जोण अवगच्छीआदि (आर्य ! कः पुनरधन्य आर्येणावगम्यते ? 'जो राअरुद्धोत्ति' इति पाठे 'यो राजविरुद्धः' इति । 'राअ' इत्यत्र 'राणि', 'राणा' इति च कचित् पाठौ । 'राज्जि' = राजविषये 'राज्जा' सह वा इति संस्कृतम्)

चाणक्यः—भवान् एव तावत् प्रथमः ।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पाबं, सन्तं पाबं, कीदिसो तिणाणं अग्निणा सह विरोहो । (शान्तं पापं, शान्तं पापं, कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः ?)

चाणक्यः—अयमीदृशो विरोधो, यत् त्वमद्यापि राजापथ्यकारिणोऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि ।

चन्दनदासः—अज्ज ! अलीअं एदं केणावि अणज्जेण अज्जस्स णिवेदिदं । (आर्य ! अलीकमेतत्, केनापि अनार्येण आर्यस्य निवेदितम् ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ? अलमाशङ्क्या, भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौरा-

चन्दनदास—महाराज ही आज्ञा दें ।

चाणक्य—बस मुझे तो केवल इतना ही कहना है कि राजा के साथ उलटा-पुलटा व्यवहार न होना चाहिये ।

चन्दनदास—महाराज ! ऐसा कौन अभाग है जो आप की दृष्टि में राजा का विरोध कर रहा है ।

चाणक्य—सब से पहले तो तुम्हीं हो ।

चन्दनदास—(कान पर हाथ रख कर) ऐसा न कहें महाराज ! भला तिनके का आग से क्या वैर !

चाणक्य—तुम अभी भी राज-विद्रोही अमात्य राक्षस के परिवार को अपने घर में छिपाये हुए हो—यही वैर है ।

चन्दनदास—महाराज ! पता नहीं किस नीच ने आप से ऐसा कह दिया । यह सब झूठ है ।

चाणक्य—तब चन्दनदास ! ज़रो मत । बात ऐसी है कि जब के इन्तज़ाम राजसेवक,

णामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य देशान्तरं व्रजन्ति, ततस्तत्प्र-
च्छदानमेव दोषमुत्पादयति ।

चन्दनदासः—एवं ण्णेदं । तस्मिं समये आसी अह्मघरे अमच्चरक्ख-
सस्स घरअणो । (एवं नु इदम् । तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमा-
त्यराक्षसस्य गृहजनः ।)

चाणक्यः—‘प्रथमम् अनृतम्, इदानीम् आसीदि’ति परस्परविरो-
धिनी वचने ।

चन्दनदासः—एतिअं ज्जेव अत्थि मे वाआच्चलं । (एतावदेवास्ति मे
वाक्छलम् ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्ते राजनि न परिग्रहः छलानां, तत्
समर्पय राक्षसस्य गृहजनमच्छलं भवतु भवतः ।

चन्दनदासः—अज्ज ! णं विण्णवेमि—‘तस्मिं समय आसी अह्मघरे
अमच्चरक्खसस्स घरअणो’त्ति । (आर्य ! ननु विज्ञापयामि—‘तस्मिन्
समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन’ इति ।)

चाणक्यः—अथ इदानीं क्व गतः ?

नागरिकों को इच्छा के विरुद्ध भी, उनके घरों में अपने परिवार छोड़ कर
इधर-उधर भागे फिर रहे हैं । इसमें तुम्हारा अपराध इतना ही है कि तुम उन्हें छिपा
रहे हो ।

चन्दनदास—ठीक है महाराज ! पहले मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था ।

चाणक्य—चन्दनदास ! पहले तुम झूठ बोले—‘नहीं छिपा था’ अब कहते हो
‘छिपा था’ । ऐसी उलटी-पुलटी बातों का क्या अर्थ ।

चन्दनदास—महाराज ! कहने में भूल हो गई ।

चाणक्य—चन्दनदास ! ध्यान रखो, चन्द्रगुप्त के राजा रहते हुये, छल-बल से काम
नहीं चल सकेगा । यह भूल-चूक तभी दूर हो सकेगी, जब हमें राक्षस का परिवार
सौंप दो ।

चन्दनदास—महाराज ! मैंने पहले कह दिया कि पहले कभी अमात्य राक्षस का
परिवार मेरे घर में था ।

चाणक्य—अब कहें गयी

चन्दनदासः—ण जाणामि कहिं गदो ? त्ति (न जानामि कुत्र गत ? इति)

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) कथं न ज्ञायते नाम ? भोः श्रेष्ठिन् ! शिरसि फणी दूरे तत्प्रतीकारः । अन्यच्च नन्दमिव विष्णुगुप्तः—
(अर्द्धोक्तौ लज्जां नाटयति)

चन्दनदासः—(स्वगतम्)—

उवरि घणं घरणरड्डिअं दूरे दइया किमेददावड्डिअम् ।
हिमवाद् दिव्वोसद्विओ सीस्से सप्पो समाविट्ठो ॥ २२ ॥

(उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम् ?
हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥ २२ ॥)

चाणक्यं फणिनमिव शिरसि निपतन्तं तत्प्रतीकारञ्च कमपि न पश्यतश्चन्दन-
दासस्योक्तिरियम्—उपरि घनमिति ।

उपर्यूर्ध्वं घनं नितरां सान्द्रं यथा स्यात्तथा घनरटितं मेघगर्जनं वियोगिजनासङ्गं,
दयिता च विरहप्रशमनौषधिकी दूरे कचनान्यत्र देश इति यदाभाणकं जनानां
किमेतत्तदेवाऽपतितं मम मयैवास्य दृष्टान्तेन भाव्यं किम् ? उत शीर्षे सर्पः समा-
विष्टश्शिरसि फणी तिष्ठति, तत्प्रतीकारक्षमाश्च दिव्यौषधयो हिमवति प्राप्या इति
यथा चाणक्येन साभिप्रायं भणितं तदेव ममापतितमिति न ज्ञायते किं मे
भविष्यतीति ॥ २२ ॥

चन्दनदास—मुझे पता नहीं कहाँ चला गया ।

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) अभी पता चल जायगा ! सेठ जी ? यह समझ रखो,
साँप तुम्हारे सिर पर सवार है और बचने का उपाय कोसों दूर । और सुनो, क्या यह
समझ रहा है कि जैसे चाणक्य ने नन्द को..... (आधी बात कह कर लज्जा का भाव
प्रदर्शित करते हुये रुक जाता है)

चन्दनदास—(स्वगत) 'सिर पर साँप सवार हो और संजीवनी बूटी हिमालय
पर हो; ऊपर मेघ-गर्जन हो रहा हो और प्रियतमा पड़ी हो कोसों दूर ! मेरी दुर्दशा
अब अ-पि-हूँ-ही-भा-र-हूँ-गी'

चाणक्यः—चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः ।

पश्य—

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीवक्रनासादिभि-
नन्दे जीवति, या तदा न गदिता स्थैर्यं चक्षन्ती मुहुः ।

तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्तीं जगत्
कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत् पृथक् ? ॥ २३ ॥

अपि च—('आस्वादिते'त्यादि प्रागुक्तं [अं० १ श्लो० ८] पठति) ।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) फलेण संपादितं सोहृदि दे विकथितं ।
(फलेन सम्पादितं शोभते ते विकथितम् ।)

चाणक्यश्चन्दनदासं साधिचेपं तर्जयन्नाह विक्रान्तैरिति । चन्दनदास ! राक्षस-
श्चन्द्रगुप्तं समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः । कुत इति चेत् । तथाहि—या श्रीः राज-
लक्ष्मीस्तदा तस्मिन्नेश्वर्यमये समये विक्रान्तैर्विक्रमशालिभिर्नयज्ञैर्नीतिनिपुणैर्वा
सुसचिवैः राजसेवासक्तैरमात्यैश्श्रीवक्रनासादिभिर्वक्रनासप्रभृतिभिरपि जीवति नन्दे
धरमाणे नन्दमहाराजे तदन्वये वा कस्मिंश्चिस्थैर्यं न गमिता निश्चलस्थितिं न प्रापि-
ताऽथ च मुहुर्वारं वारं चलन्ती चलायमाना एव सती स्थिता, तामद्य समुद्योत-
माने चन्द्रगुप्तविभवे प्रनष्टे च नन्दैश्वर्यं कोऽस्ति स साहसिको यश्चन्द्रगुप्तनृपतावेक-
त्वमुपागतां मञ्जीतिशक्त्याऽभिन्नावस्थानेन स्थापितामत एव च हेतोर्जगत् प्रह्लाद-
यन्तीं प्रजाजनमनोरञ्जनकारिणीं, चन्द्राच्चन्द्रमसस्तदभिन्नां द्युतिं कौमुदीमिव जग-
दानन्दकरीं चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक्कर्तुं दूरस्थां विधातुं व्यवस्येत् शक्नुयादिति न
कोऽपीति शेष इति भावः ॥ २३ ॥

चाणक्य—यह न समझना कि अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त का कुछ विगाड़ सकेगा ।
देखो—

जो राजलक्ष्मी, नन्द के जीते-जागते, वक्रनास जैसे पराक्रमी राजनीतिज्ञ महामात्यों
द्वारा नन्द में स्थिर न की जा सकी और चन्द्रगुप्त में, चन्द्रमा में चांदनी की भाँति, स्थिर
हो चुकी है, उसे चन्द्रगुप्त से अलग करने का किसे साहस है ? ॥ २३ ॥

सुन लो—'कौन है जो सोकर उठे हुये, जैसाई लेते हुये सिंह के मुँह से उसकी
दाढ़ी को..... इत्यादि । (८ वें श्लोक को दुहराते हुये)'

चन्दनदास—(स्वगतम्) यह सब हीन नही, बिल्कुल सच है । by eGangotri

(नेपथ्ये कलकलः)

चाणक्यः—शाङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ?

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्याज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वास्यते ।

चाणक्यः—क्षपणकः ? अहह !! अथवा अनुभवतु, राजापथ्यकारित्वस्य फलम् । भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! एवमयं राजापथ्यकारिपु तीक्ष्णदण्डो राजा, तत् क्रियतां पथ्यं सुहृद्वचः समर्प्यतां राक्षसगृहजनः, चिरमनुभूयन्तां विचित्रा राजप्रसादाः ।

चन्दनदासः—णत्थि मे गेहे अमच्चरक्खसघरअणो । (नास्ति मे गेहे अमात्यराक्षसगृहजनः ।)

(नेपथ्ये पुनः कलकलः)

टिप्पणी—अत्र प्रतिमुखसन्धेरङ्गं वज्राख्यं प्रत्यक्षकर्कशवचस्संचरचरूपं निबद्धं नाटककृता । वचसोऽस्य चन्दनदासविषयकसान्त्वप्रयोगानुष्ठानस्य प्रध्वंसकत्वाद्वज्रत्वमिति । वज्रेणानेन नायकप्रयत्नस्य समुद्घाटनं मन्त्रयुद्धविषयकोत्साहस्य च प्रकाशीकरणं निपुणं संपन्नमिति मन्तव्यं सुधीभिः ।

(नेपथ्य में कोलाहल मचता है)

चाणक्य—शाङ्गरव ! पता लगाओ, कैसा हल्ला है !

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर आकर और पुनः प्रवेश कर) उपाध्याय ! सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राजविद्रोही क्षपणक जीवसिद्धि का देशनिकाला हो रहा है और उसे भला-बुरा कहा-सुना जा रहा है ।

चाणक्य—ओह ! क्षपणक ! अच्छा राजविद्रोह का फल इसे मिलना ही चाहिये देख लो, सेठ चन्दन दास ! राजविद्रोह का कैसा कठोर दण्ड राजा द्वारा दिया जा रहा है । अभी भी मौका है, तुम्हारे मित्र होने के नाते तुम्हारी भलाई की ही बात कह रहा हूँ—सौंप दो राक्षस का परिवार, सम्राट् प्रसन्न हो जायगा और तुम मुँह मोंगा फल पाओगे ।

चन्दनदास—मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार नहीं है ।

(नेपथ्य में पुनः कोलाहल)

चाणक्यः—शाङ्गरव ! ज्ञायतां, पुनः किमेतत् ?

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! असौ राजाऽऽज्ञया राजाऽपध्यकारी कायस्थः शकटदासः शूल-मारोपयितुं नीयते ।

चाणक्यः—स्वकर्म फलभाक् भवतु । भोः श्रेष्ठिन् ! एवमयं राजाऽपध्य-कारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा, न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादनं भवतः, तद् राक्ष परकलत्रेणात्मनः कलत्रं जीवितञ्च ।

चन्दनदासः—अज्ज ! किं मे भअं दंसेसि ? सन्तं वि गेहे अमच्चरक्ख-सस्स घरअणं ण समप्पेमि, किं उण असन्तं । (आर्य ! किं मे भयं दर्शयसि ? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम् ।)

चाणक्यः—चन्दनदास ! एष ते निश्चयः ?

चन्दनदासः—बाढं, ऐसो मे स्थिरो णिच्चओ । (बाढम्, एष मे स्थिरो निश्चयः ।)

चाणक्य—शाङ्गरव ! जाओ, पता लगाओ, क्या बात है ।

शिष्य—जैसी आज्ञा, उपाध्याय ! सम्राट् की आज्ञा से राजद्रोही कायस्थ शकटदास को फाँसी पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा है ।

चाणक्य—बहुत अच्छी बात है, यह भी अपने किये का फल भोग ले ! देखो, सेठ जी ! यह राजा राज-विद्रोहियों को कैसा कठोर दण्ड देता है । राक्षस के परिवार को छिपा रखने का तुम्हारा अपराध वह कभी भी सहन नहीं कर सकता ! यदि अपने और बाल-वच्चों को जीने देना चाहते हो तो दूसरे का परिवार सौंप दो ।

चन्दनदास—महाराज मुझे क्या डर दिखाते हैं । मेरे घर में यदि राक्षस का परिवार हो, तो मैं उसे कभी नहीं सौंपूँगा, और जब नहीं है तब उसे सौंपने की क्या बात है !

चाणक्य—चन्दनदास ! फिर सोच लो, क्या कह रहे हो ।

चन्दनदास—जी सोचना था सोच चुका !

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु चन्दनदास ! साधु—

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जनः ।

क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना विना ॥ २४ ॥

(प्रकाशम्) चन्दनदास ! एष ते निश्चयः ?

चाणक्यः—(सक्रोधम्) दुरात्मन् दुष्टवणिक् ! अनुभूयतां तर्हि राजकोपः ।

चन्दनदासः—(बाहू प्रसार्य) सज्जोहि, अणुचिट्ठदु अज्जो अत्तणो अहिआरस्स अनुरुअं । (सज्जोऽस्मि, अनुतिष्ठत्वार्थं आत्मनोऽधिकारस्यानुरूपम् । 'सारिम्' इति पाठे—सदृशम् ।)

चन्दनदासं 'सन्तमपि गेहेऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्त' मिति निर्भयं वदन्तं निभृतं श्लाघमानस्वगतमाह चाणक्यः—सुलभेष्विति । साधु चन्दनदास साधु ! शिविना विना कृतात्मदानं शिविं राजानं विहाय त्वदन्यः कोऽस्ति सः यः खलु परसंवेदने परस्य स्वभिन्नस्य राक्षसकलत्रादेरर्थस्य संवेदने निर्यातने समर्पणे वाऽर्थलाभेषु राजप्रसादादिरूपेषु समीहितसिद्ध्यादिषु सुलभेषु सुप्रापेषु सत्स्वपीदं दुष्करं स्वजीवनस्य संशयापादनादिरूपं परोपकारकृत्यं राक्षसकलत्ररक्षणादि कुर्यात् कर्तुं शक्नुयान्न कोऽपीति भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—चाणक्यस्यात्र परगुणप्रशंसनं किमपि तद्गतवीरभावस्य प्रकाशनमेवेति मन्तव्यम् ।

अनुभूयतां तर्हि राजकोप इति । अत्र चन्दनदासस्य यद्वण्डादि तत्तस्यामित्रोत्साहकत्वरूपमपराधमनुसृत्य यथाऽर्थशास्त्रमुपनिबद्धम् ।

चाणक्य—(स्वगत) धन्य हो ! चन्दनदास । 'सत्ययुग के महाराज शिवि की बात तो और है, किन्तु इस युग में तुम्हारे अतिरिक्त भला और कौन है जो अनायास, अपने स्वार्थ के सिद्ध हो सकने पर भी, पराये की रक्षा के लिए अपने प्राण देने पर उतारू हो रहा है ॥ २४ ॥

(सुनाकर) फिर सोच लो चन्दनदास !

चन्दनदास—सोच चुका !

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) अरे नीच बनिये ! तब फिर राजकोप का फल भोगो ।

चन्दनदास—(हाथ फैला कर) तैयार हूँ, महाराज ! आप अपने अधिकार के अनुरूप कुछ भी उठा सकते हैं ।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) शार्ङ्गरव ! उच्यतामस्मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च—‘शीघ्रमयं दुष्टवणिक् निगृह्यताम्’, अथवा—तिष्ठतु, उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च—‘गृहीतगृहसारमेनं सपुत्रं-कलत्रं संयम्य रक्ष तावत्, यावत् मया वृषलाय कथ्यते, स एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति, ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः श्रेष्ठिन् ! इत इतः ।

चन्दनदासः—(उत्थाय) अज्ज ! अअमाअच्छामि । दिट्ठिआ मित्तकज्जेण मे विणासो जणिदो, ण उण पुरिसदोसेण । (आर्य ! अयमागच्छामि ! (स्वगतम्) दिष्टया मित्रकार्येण मे विनाशो जनितः न पुनः पुरुषदोषेण ।) (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—(सहर्षम्) हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः । कुतः ?

त्यजत्यप्रियवत् प्राणान् यथा तस्यायमापदि ।

तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥ २५ ॥

चाणक्यश्चन्दनदासं हस्तगतं पश्यन् राक्षसमपि हस्तगतमेव विभृशन्नाह—
त्यजत्यप्रियवदिति । यथाऽयं चन्दनदासो दुष्करं मित्ररहस्यगोपनरूपं किमप्यतिमा-

चाणक्य—(और भी क्रुद्ध होकर) शार्ङ्गरव ! जाओ और कालपाशिक और दण्डपाशिक से अभी मेरी ओर से कहो कि इस नीच बनिये को अभी पकड़ लिया जाय और, नहीं, नहीं, ठहरो, दुर्गपाल और विजयपाल से कहो, कि जब तक, मेरे कहने पर, इसे राजा के द्वारा प्राणदण्ड न दिया जाय तब तक इसकी सारी सम्पत्ति छीन कर, बालवच्चों के साथ, इसे कारागार में बन्द कर दिया जाय ।

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! इधर आओ सेठ जी, इधर !

चन्दनदास—(उठते हुए) आ ही रहा हूँ । (स्वगत) मेरा तो सौभाग्य है कि किसी अपने किये अपराध में नहीं किन्तु मित्र-स्नेह के निभाने में प्राण दे रहा हूँ ।

चाणक्य—(हर्ष के साथ) अब राक्षस कहाँ बच कर जायगा ! क्योंकि—

‘उस पर संकट पड़ने पर, जब यह, अपने प्राणों का मोह छोड़ इस प्रकार अपना बलिदान करने पर इतना है तब इससे संकट से बच भी अपने प्राणों की ओर-ममता, उसी प्रकार छोड़ देगा’ ॥ २५ ॥

(नेपथ्ये कलकलः)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—ज्ञायतां किमेतत् ?

शिष्यः—(निष्क्रम्य विभाव्य पुनः प्रविश्य सम्भ्रान्तः) उपाध्याय !
एष खलु शकटदासं वाध्यमानं वध्यभूमेरादाय समपक्रान्तः सिद्धार्थकः ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु सिद्धार्थक ! साधु, कृतः कार्यारम्भः ।
(प्रकाशम्) प्रसह्य किमपक्रान्तः ? (सक्रोधम्) वत्स ! उच्यतां भागुरा-
यणो यथा 'त्वरितमेनं सम्भावये'दिति ।

नुप्यकमाचरंस्तस्य राक्षसस्यापदि संकटे समुपस्थिते प्राणान् स्वजीवितं सर्वाधि-
कप्रियवस्त्वप्रियवत् त्यजति तृणाय मत्वाऽनिष्टमिव किमपि हातुं प्रवर्तते तथैव
नूनं निश्चितमेवेदं यदस्य चन्दनदासस्यापदि विपत्तिकाले तस्य राक्षसस्यापि प्राणाः
न प्रियाः, जीवनं नाऽभिलषणीयं सम्पत्स्यत इति । अर्थाच्चन्दनदासं मोचयितुं
राक्षसोऽप्यवश्यमेवाऽत्मानमर्पयिष्यतीति भावः ॥ २५ ॥

साधु सिद्धार्थक ! कृतः कार्यारम्भ इति । अत्र 'कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपदे-
शकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्र' इति यदाज्ञातं
कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे तस्य प्रथमाङ्गस्य कर्मारम्भस्यात्र प्रस्तावो निपुणं विहित इव
तर्क्यते ।

(नेपथ्य में कोलाहल)

चाणक्य—शार्ङ्गरव !

शिष्य—(भीतर प्रवेश करते हुए) उपाध्याय ! क्या आज्ञा है !

चाणक्य—पता लगाओ यह सब क्या हो रहा है ?

शिष्य—(बाहर निकल कर और पता लगाने पर घबड़ाये हुए भीतर आकर) अनर्थ
हो गया उपाध्याय ! वध किये जाने वाले शकटदाश को वध्य भूमि से हटा कर सिद्धार्थक
कहीं भाग निकला ।

चाणक्य—(स्वगत) बड़ा अच्छा हुआ ! सिद्धार्थक का काम प्रारम्भ हो चुका
(सुनाकर) क्या जवर्दस्ती भाग निकला ! (क्रोध होकर) शार्ङ्गरव ! भागुरायण से जाकर
कहो—शार्ङ्गातिशोभि इस पकड़ने का प्रबन्ध करो ।

शिष्यः—(पुनस्तथा कृत्वा प्रविश्य सविषादम्) उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम्, अपक्रान्तो भागुरायणोऽपि ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) ब्रजतु कार्येसिद्धये । (प्रकाशं सक्रोधमिव) वत्स ! कृतं विषादेन, उच्यन्तामस्मद्वचनाद् भद्रभट-पुरुषदत्त-हिङ्गुरात-बलगुप्त-राजसेन-रोहिताक्ष-विजयवर्माणः शीघ्रमुपसृत्य गृह्यतां दुरात्मा भागुरायणः ।

शिष्यः—इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सविषादम् (यदानीपयत्युपाध्यायः ।) उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम्, सर्वमेव तन्त्रमाकुलीभूतम्, तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथममुषस्येवापक्रान्ताः ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) सर्वेषामेव शिवाः पन्थानः सन्तु । (प्रकाशम्) वत्स ! अलं विषादेन । पश्य—

ये याताः किमपि प्रघाट्य हृदये, पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति, भवन्तु तेऽपि गमनैः कामं प्रकामोद्यमाः ।

चाणक्यः परमं प्रसादमन्तरनुभवन् कमपि व्याजकोपं कुर्वन् स्वशिष्यव्यञ्जनं प्रणिधिप्रधानमाह—ये याता इत्यादि । वत्स ! ये भागुरायणप्रभृतयः किमपि स्वाभीप्सितं—वस्तुतस्त्वस्मदभीप्सितम् हृदये प्रघाट्य याताः अस्मत्पक्षं विहाय परपक्षे पतित्वास्ते पूर्वमेव गताः प्रागेव प्रयाता इत्यलं तद्विषयकचिन्तनाभिरिति शेषः । ये

शिष्य—(बाहर आकर और फिर घबड़ाये हुए भीतर पहुँच कर) बहुत बड़ा अनर्थ हुआ उपाध्याय ! भागुरायण का कहीं पता नहीं !

चाणक्य—(स्वगत) जाने दो, वह अपना काम बनाए । (सुनाकर क्रुद्ध सा होकर) शार्ङ्गरव ! घबड़ाता क्या है ! जाओ और मेरी ओर से भद्रभट, पुरुषदत्त, हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा इत्यादि को कहो—शीघ्रातिशीघ्र इस दुष्ट भागुरायण का पीछा करें और पकड़ कर यहाँ ले आवें ।

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर जाकर, फिर भीतर आते हुये खेद के साथ) उपाध्याय अनर्थ हो गया, पूरे राजतन्त्र में गड़बड़ मच गयी । भद्रभट इत्यादि प्रातः काल में ही भाग गये ।

चाणक्य—(स्वगत) सब का मंगल हो । (सुना कर) शार्ङ्गरव ! दुःख मनाने की आवश्यकता नहीं ।

स्व-के-सब-बले-जयें ! जो अपने मन में कुछ सोच कर पहुँचे हैं बल गये वे तो

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका

नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥ २६ ॥

(उत्थाय प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं वद्ध्वा) एष खलु दुरात्मनो भद्रम-
टप्रभृतीनाहरामि । (आत्मगतम्) दुरात्मन् राक्षस ! केदानीं यास्यसि ?
एषोऽहमचिरात् भवन्तम्—

च तदतिरिक्ता अस्मत्पक्षस्थास्तिष्ठन्ति तेऽपि गमनेऽस्मत्पक्षं विहाय स्वाभिलषित-
साधनाय वस्तुतस्त्वस्मदभिलषितसाधनाय परपक्षस्याश्रयणे कामं शृशं प्रकामो-
द्यमा विपुलोत्साहवन्तो भवन्त्विति कोऽवकाशः खेदस्येति शेषः । केवलं नन्दोन्मू-
लनदृष्टवीर्यमहिमा नन्दस्य सान्त्वयस्य नन्दनृपतेरुन्मूलनेन दृष्टस्सर्वैः प्रत्यक्षीकृतो
वीर्यस्य शक्त्युत्कर्षस्य महिमा प्रभावो यस्यास्तथाभूतैका सहायमनपेक्षमाणैका-
किन्येव विराजमाना किन्त्वर्थसाधनविधावर्थस्य समस्तस्यापि राज्यतन्त्रस्य साध-
नविधौ सम्पादनकर्मणि सेनाशतेभ्योऽधिका अशक्यगणनेभ्यश्चतुरङ्गबलेभ्योऽप्य-
धिकसामर्थ्या मम बुद्धिर्मन्नीतिः मा गात् मां विहाय शत्रून् कथमपि न भजतादिति
सर्वं तयैव साधयिष्यते चतुरस्रमिति शेष इति भावः ॥ २६ ॥

टिप्पणी—(१) चाणक्योऽत्र मन्त्रयुद्धे स्वोत्कर्षं ससंरम्भं प्रख्यापयन् वर्णितो
नाटककृता । मन्त्रयुद्धौपयिकी कार्यारम्भावस्था च प्रयत्नदशापरिवृंहिता सम्यक्
चित्रितैव । वीजञ्च तत्तदितिवृत्तार्थौपयिकं यत्पूर्वं निगूढमुपक्षिप्तं तदपि विन्दु-
रूपेण चन्दनदासवन्धनादिवृत्तान्तेनोद्घाटितमेवाङ्कुरीभवनस्तम्बकरितादिप्रयोजनाय ।
सर्वत्र तत्तद्विशेषैर्विवर्तमान उत्साहरूपस्थायी च धारादिरूढस्सूक्ष्ममभिव्यञ्जित
एवेति सर्वं महते रसविलासाय सम्पन्नं सहृदयानामिति ।

(२) अत्र प्रतिमुखस्याङ्गं वर्णसंहाराख्यम् । किन्तु ब्राह्मणादिचतुर्वर्णान्तः-
पातिनीनां प्रकृतीनां ये याता इत्यादिना निर्वर्गनास्तिदर्शनाद् वर्णसंहार इति यत्तन्न
किञ्चित् । वस्तुतस्तु पात्राणामोघरूपः कार्यार्थं सम्मेलनं वर्णयत इति रूपोऽत्र वर्ण-
संहारस्साधीयान् यथोक्तं नाट्यदर्पणकृता 'पात्रौघो वर्णसंहृतिरिति ।

गये हीं, किन्तु जो नहीं गये, वे भी चले जायें ! मेरी वह बुद्धि, केवल मुझे छोड़ कर न
जाय जिसकी शक्ति की महिमा नन्दवंश के विध्वंस में देखी जा चुकी है और कार्य की
सिद्धि में अगणित सेनाओं से भी, जो बढ़ी बढ़ी है ॥ २६ ॥

(उठते हुये, आकाश की ओर एकटक देखते हुये) अभी भद्रमट प्रभृति दुष्टों को
पकड़ मारता हूँ । (उल्लास के साथ)

**स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-
मुत्सेकिना बलमदेन विगाहमानम् ।**

चाणक्यः प्रतीकारभावनाप्रागल्भ्याद्वाञ्छितं पुर इव तस्थिवांसं पश्यंस्तं बद्धं निरुद्धसर्वस्वाच्छन्द्यञ्च कर्तुं संनह्यन्निवाह—स्वच्छन्दमिति । राक्षस ! एषोऽहमचिरादेव भवन्तं स्वच्छन्दं निरङ्कुशमिव प्रगल्भमानमेकमेकचरं स्वयूथेषु प्रधानतयाऽवस्थितमत एव चैकाकिनमेवास्मदुच्छेदकृत्ये प्रवर्तमानमुज्ज्वलदानशक्तिमस्मत्पक्षोपजापार्थ तत्तत्तीक्ष्णरसदानादिनियोजने बहुधनव्ययकारिणमथ चोत्सेकिना शृशमुद्रित्तेन प्रवर्द्धमानेन वा बलमदेन सैन्यादिसंचयाभिमानेन विगाहमानं चन्द्रगुप्ताभिमर्षणाय चेष्टमानं त्वां कञ्चनैवंगुणोपेतमारुह्यकं वन्यं गजमिव दन्तावलं व्यालमिव वृषपलस्य कृते प्रियदर्शिनश्चन्द्रगुप्तस्य कारणाय तस्यैव क्रियायां साचिव्यस्वयंप्रहणरूपायां बुद्ध्या नीत्यैव न संग्रामादिनाऽऽडम्बरेण निगृह्य संयस्य प्रगुणीकरोमि वशीकरोमीति भावः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र श्लेषोत्थापिताया उपमाया अस्ति किमपि स्वारस्यं यद्विचार्यमाणं स्वदृते सहृदयेभ्यः । राक्षसस्य प्रकृतस्याऽप्रकृतेनारण्यकगजेन यत्साधर्म्यं तत्तु राक्षसचाणक्ययोर्मन्त्रिप्रवरयोरान्तरं वैधर्म्यं गृहमुद्भावयति यत्कृतोऽयं नाटककृतः प्रसङ्गान्तरे वाग्विलासः—

‘उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रो-
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥’ इति ।

अन्यच्च नाटकमिदं स्थूलबुद्धिप्रतिनायकं सा भूदिति निपुणं चिन्तयन् कविर्यत्तद्विश्लेषशब्दिबन्धनद्वारा राक्षसं वन्यगजेनोपमिनोति तदपि किमपि नाटककारकृत्यमेव । उपमायाः विना शब्दश्लेषसमुत्थापने वक्ष्यमाणायाः—

‘गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः ।
चिरमायासिता सेना वृषपलस्य मतिश्च मे ॥’

इति वाचोयुक्तेः कोऽवकाश इति चतुरचेतोहरत्वं श्लेषोच्चामिताया उपमाया विभाज्यमत्रेति ।

जंगली हाथी के समान इस प्रकार मनमाना करने वाले, निरङ्कुश, राज-विप्लव के लिये धन का भ्रामक उपयोग करने वाले और सैन्य-सामर्थ्य-समाधान के लिये अतिष्ठ करने

बुद्ध्या निगृह्य, वृषलस्य कृते, क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥ २७ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

अत्र विभाव्यमत्रेति । अत्र मुद्रालाभनामनि प्रथमाङ्के प्रारम्भप्रयत्नाख्ये ये अवस्थे
वीजविन्दु-निक्षेपोद्घाटनविधानविषयैकग्राहमहमिकयाऽवस्थिते यत्सुष्ठु समुद्रकृति
तत्तु किमपि नाटकद्वयमेव व्यनक्ति । चाणक्य आरभते राक्षसवशीकाररूपं
स्वनीतिकृत्यम्, प्रयत्नते च तदर्थं तत्तद्विधाने, चाणक्यकरिष्यमाणे च कर्मणि
चाणक्य एव प्रजापतिर्नान्यस्य कस्यचनोऽपि साहायकं मात्रयाप्यपेक्षितम् । इदमेव
तन्निवन्धनं यदेकस्मिन्नेवाङ्के सुखप्रतिमुखसन्ध्योर्निविडं सन्धानसंविधानकमिति ।
अङ्कपार्थक्येन सन्धिद्वयसंग्रहने प्रयोजनविशेषस्य पूर्वोक्तस्याऽलाभाद् वीररसस्य
च धाराविरोहत्वरयाः निरोधाच्चेति ।

इति प्रथमोऽङ्क इति । चाणक्यनायकस्य प्रारम्भप्रयत्नावस्थाद्वयसमाप्तौ नाटकी-
येतिवृत्तप्रपञ्चलोपायभूतयोः नायकचरितयन्त्रितत्तद्वृत्तार्थविस्तारणौपयिकयोश्च
विन्दुवीजयोः परिसमापने समाप्तोऽयमङ्क इति । अङ्क इति किम् ?

‘अवस्थायाः समाप्तिर्वा च्छेदो वा कार्ययोगतः ।

अङ्कः सविन्दुर्दृश्यार्थश्रुत्यामो मुहूर्त्ततः’ ॥

इति यथाभाषितः नाटकस्य समुच्छेद इति । अत्राङ्के नाटकस्यास्य नायक-
चरितोपभोगास्सर्वत्र रञ्जका रसपरीवाहप्रवणाः सामाजिकसाक्षात्काराय निबन्धाः
कामपि प्रीतिं जनयन्तो दृश्यन्तेऽथ चाभिनयनमप्यस्य न घटिकाद्वयमितं होराद्ध-
परिमाणं वा समयमतिक्रामतीति सुन्दरकृतोऽयमङ्क इति विभावनीयं नाटकसमी-
चकैरिति सर्वमवदातम् ।

इति मुद्रालाभस्यः प्रथमोऽङ्कः ।

वाले तुन्हें चन्द्रगुप्त का काम करने के लिये अपनी बुद्धि से ही कैसे पकड़
मंगाता हूँ ॥ २६ ॥

(सभी पात्र रङ्गमञ्च से चले जाते हैं)

प्रथम अङ्क समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याहितुण्डिकः)

आहितुण्डिकः—

जाणंति तन्तजुत्ति जहट्टिठअं मंडलं अहिलिहंति ।

जे मन्तरक्खणपरास्ते सप्पणराहिवे उबचरंति ॥ १ ॥

ततः प्रविशतीति । प्रथमाङ्कस्य परिसमाप्तिर्निरूपितपूर्वा । तदनन्तरमयं द्वितीयोऽङ्कः प्रारम्भित इति प्रथमाङ्कवर्तिनां पात्राणां निष्क्राम एवानन्तर्यवचनोऽस्य प्रत्येतव्यः आपाततः । किंतु सूक्ष्मदृष्टिकयाऽत्रान्यपरमप्यानन्तर्यमभिप्रेतम् । तत्तु वस्तु-वृत्त-रसानां मुखप्रतिमुखसन्धिरूपतया समुद्रङ्कितानां सामाजिकधियि सङ्क्रान्ततत्तद्विशेषाणां नैरन्तर्येण पुनः पुनरपरामशोत्सुकं विरामरूपं कार्यान्तरस्य गर्भसन्धेरवकाशप्रदानप्रयोजनकमिति ।

आहितुण्डिक इति । अहिस्पर्शस्तस्य तुण्डं मुखं तेन दीव्यतीत्याहितुण्डिकस्पर्श-क्रीडोपजीवी । वस्तुतस्त्वाहितुण्डिकव्यञ्जनः विराधगुप्ताख्यो राजसचर एवेति । चारज्ञानाय बहुविधव्यञ्जनानां गुप्तचराणां नियोजनं कौटिलीये राजतन्त्रशास्त्रे निपुणं वर्णितम् । तथाहि तत्रत्यं सूत्रम्—‘सूदारालिक-स्नापकसंवाहकास्तरककल्प-कप्रसाधकोदकपरिचारका रसदाः कुब्जवासनकिरातमूकवधिरजडान्धच्छद्धानो नटनर्तकगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवाः स्त्रियश्चाभ्यन्तरं चारं विदध्युरिति । अत्र विराधगुप्तरसर्पग्राहसर्पक्रीडादिच्छद्वा राजसप्रणिधिः प्रविशति रङ्गस्थानमित्यावेदयति नाटककविरिति ।

अत्र द्वितीयस्याङ्कस्य प्रारम्भो गर्भसन्धेरुपक्रमकरो यदुपसंहारस्तृतीयचतुर्थाङ्कयोरङ्कनविषयः । अत्र गर्भसन्धौ नायकचरितस्य स्वाभिलषितसिद्ध्यै तत्तदारम्भवतस्तत्तत्प्रयत्नप्रवणस्य च काय-वाङ्-मनसां व्यापृतिरूपा प्राप्त्याशा निबन्धनीया । प्राप्त्याशालक्षणन्तु—

‘फलसंभावना किञ्चित्प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः’ इति । कस्येयं प्राप्त्याशेति चेत् ? प्रधाननायकस्येति । कुत इति चेत् ? न जगत्यस्मिन् कस्यापि समीहितसिद्धिर्नि-

(एक संपेरे के वेप में राक्षस का गुप्तचर-विराधगुप्त)

संपेरा—जो लोग ‘तन्त्रयुक्ति’ विपौषधि-प्रयोग तथा राजतन्त्र-संचालन) के जानकारी हैं, यथाविधि-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection Digitized by eGangotri

विधेनेति हेतोर्नायकचरितमपि महारम्भ—महाप्रयत्नप्रबलं प्रतिनायककृतारम्भयत्ना-
दिना विधितप्रसरमेव चर्चितं चेत् स्वाभाविकं मानवचरितं भवत्सामाजिकैस्साधा-
रणीकरणद्वारा स्वीकर्तुमलमिति हेतोः गर्भसन्धिरस्य नाटकस्य द्वितीय-तृतीय-
चतुर्थाङ्कपरिच्छेदीति प्राप्स्याशाऽप्युपक्रमोपसंहाराभ्यां विशदं वर्णनीयेति तथा
वर्णिता । वीररसात्मनि नाटके यथाऽस्मिन्नायकप्रतिनायक-तत्तत्सहायकादीनामह-
महमिकया प्रार्थमाने स्व-स्वाभिलषितफले परस्परमाशा—निराशाद्वन्द्वस्यैव वर्णनं
लोकस्वभावानुसार्यभिनयनमिति तत्प्रपञ्च एव सुतरां करणीय इति तथैव कृतो
नाटककविनेति विचारणीयं सुधीभिः ।

अत्र श्रीदुर्गिराजव्यासयज्वभिस्तद्गतानुगतिकैरन्यैरपि टीकाकर्तृभिर्यदुक्तम्—
'अथ राक्षसकृतोपायवृत्तान्तकथनाय प्राप्स्याशा-पताकासम्बन्धरूपो गर्भसन्धिद्वि-
तीयेनाङ्केनारभ्यते । 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेपणं मुहुरि'ति लक्षणात् । पूर्वाङ्के
दृष्टस्यात्र राक्षसाहितुण्डिकसंवादरूपया व्यापिन्या कथया पताकाख्यया नष्टस्यादृ-
ष्टस्य चाणक्यनीतिरूपस्य बीजस्याग्रे मुहुरन्वेपणा'दित्यादि तत्तु न विचारमणीयं
नाट्याभिप्रायानवगाहि चेति नादर्त्तव्यम् । वस्तुतस्तु गर्भसन्धिरत्र नाटके न द्विती-
याङ्कपरिमितोऽपि तु तृतीयचतुर्थयोरप्यङ्कयोस्समन्वेति । दृष्टस्य पूर्वाङ्के समुपक्षेप-
समुद्घाटनभ्यां प्रतीतिपथमानीतस्य बीजस्यान्वेपणमत्र गर्भसन्धाविति तु निर्विवा-
दम् । किन्तु राक्षसाहितुण्डिकसंवादरूपायाः व्यापिन्याः कथायाः यत्पताकात्वमुक्तं
तत्तु पताकास्वरूपानभिज्ञानरूपमेव पर्यवसितम् । वस्तुतस्तु नाटकेषु यद् वृत्तं
पताकोपममिति कृत्वा रचितं पताकेत्याख्यायते तत्प्रासङ्गिकस्यैव वृत्तस्य नामान्त-
रम् । पताकाख्यानमस्य प्रासङ्गिकस्य वृत्तस्य यत्कृतं तत्त्वस्य प्रधानवृत्तोपकारकत्वं
रूपं पारार्थ्यमेव । तथा चोक्तं नाट्यपारदृश्वभिरभिनवगुप्तपादाचार्यैः—'यद्वृत्तं हि
परार्थं स्यात् प्रधानस्योपकारकम् । प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिते'ति
नाट्यशास्त्रवचनं व्याचिख्यासुभिः—'यस्य सम्बन्धि वृत्तं संविदनुसंधानं परस्य प्रयो-
जनसंपत्तये भवदपि स्वप्रयोजनं संपादयति, अत एवाह—प्रधानवच्च कल्प्येतेति ।
सचेतनानुसंधाना पताकासिद्धिः प्रधानस्योपकारिणी'त्यादि । इदं पारार्थ्यं राक्षसा-
हितुण्डिकसंवादरूपायाः कथायाः कथमपि न भवितुमलं तस्याः स्वार्थप्रयोजनपर-
त्वस्यैव निर्विवादसिद्धत्वात् । वस्तुतस्त्वत्र खलु नाटके पताकैव न निबद्धा कविना,
चरितनायकस्य चाणक्यस्य स्वपराक्रमबहुमानशालिनस्साहाय्यापेक्षाया एवानपे-
क्षणात् । राक्षसाहितुण्डिकौ चाणक्यस्य साहायकमाचरत इति तु न कोऽपि सचेताः
वक्तुमलम् । नाट्यतत्त्वदर्शिनां प्राचात्माचार्याणामिदमेव पताकागतं रहस्यदर्शनं
यथोक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः—

(जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति ।

ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥ १ ॥)

(आकाशे) (अज्ज ! किं भणसि को तुमं त्ति ? अज्ज ! अहं वसु
आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम ! किं भणसि अहंवि अहिणा खेलिदुं

‘सर्वत्र प्रारम्भादिवत् सर्वा अर्थप्रकृतोऽपि तु यस्य नायकस्य येनार्थप्रकृति-
विशेषेण-प्रयोजनसंस्पर्शितरक्षिका तदेव प्रधानमन्यत्तु भवदपि गुणभूतमसत्कल्पम् ।
यथा स्वपराक्रमबहुमानशालिनां पताकाप्रकर्याविवक्षिते-एव । बीजविन्दुकायाणि
तु सर्वत्रानपायीनी’ति ।

आहितुण्डिकव्यञ्जनो विराधगुप्तस्वस्य राजोपजीवनकौशलं श्लिष्टया वाचो-
युक्त्या प्रकाशयन्नाह—जानन्तीत्यादि ।

ये जनास्तन्त्रयुक्तिं तन्त्रस्य विषौपधविशेषस्य युक्तिः प्रयोगस्तं जानन्ति विदन्ति
मण्डलं मण्डलाकारतया लेख्यं साहेन्द्रादिदेवतं च यथास्थितं याथातथ्येनाभिलि-
खन्ति सर्पग्रहणवशीकरणाद्यर्थं निर्मान्ति, अथ च ‘मन्त्ररक्षणपराः मन्त्राणां गारु-
डादिमन्त्राणां सर्पविपनिर्हारकाणां रक्षणपराः योग्याऽयोग्यसम्प्रदानाऽसम्प्रदाना-
दिकर्मनिपुणास्त एव सर्पनराधिपमुपचरन्ति कालभुजगं सेवितुमर्हन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र वक्तु—बोद्धव्यवैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुपस्सामाजिकाः अर्थान्तरं
प्रतीयन्ति तच्च वक्तुः किसप्यनन्यसाधारणं चारज्ञानं तन्निवेदननैपुण्यञ्चेति ।

(२) अत्र टीकाकृतां श्रीदुण्डिराजादीनां रूपकोपमादिरूपालङ्कृतिचिन्तनं
नाटककवेरस्य न हार्दविष्कारि न च प्रसङ्गौपयिकमिति नादरास्पदम् ।

आकाश इति । आकाशभाषणमिदमिति संकेताभिप्रायः । वाचिकाभिनयदृष्ट्या
नाटकीयवृत्तवस्तुनः प्रकारोऽयमाकाशोक्तिरूपः । तल्लक्षणं तु—‘आकाशोक्तिः स्वयं
प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रक’मिति । आकाशे पात्राभावात् शून्ये कृता, उच्यत इत्युक्तिः
प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थ इति तात्पर्यम् । अत्र विराधगुप्तः स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायाया
परकीयं प्रश्नं करोति, ‘स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायाया परकीयमुत्तरमपि ददातीत्यु-
भयप्रकाराऽत्राकाशोक्तिरिति ।

राजमण्डल.) की कल्पना कर सकते हैं और ‘मन्त्र’ (गारुडप्रभृति सर्पमन्त्र तथा राजकीय
मन्त्रणाओं) के रक्षण में तत्पर रहते हैं, वे ही सर्प और राजा की सेवा कर सकते हैं ॥१॥

(आकाश में) अरे ! क्या कह रहे हो मैं कौन हूँ ? अरे मुझे ‘जीर्णविष’ नाम का संपेरा
कहते हैं ।

इच्छामि त्ति ? अथ कदरं उण अज्जो वित्ति उवजीवदि ? किं भणासि राअउलसेवओ त्ति ? णं खलदि ज्जेव्व अज्जो अहिणा । किं भणासि कथं त्ति ? अमंतोसहिक्कुशलो बालग्गाही, अगिहीदङ्कुसो मत्तगअवरारोही, लद्धाहिआरो जिदकासी राअसेवओ त्ति, एतण्णि अवस्सं विणासमणु-होति ! कथं दिट्ठमत्तो अदिक्कंतो एसो । अज्ज तुमं पुण किं भणासि— किं एदेसु पेडासमुग्गकेसु त्ति ? अज्ज ! अप्पजीविआसम्पादआ सप्पा । किं भणासि पेक्खिदुमिच्छामि त्ति ? प्पसीददु प्पसीददु अज्जो । अत्थानं क्खु एदं, ता जइ दे कोदूहलं ता एहि एदस्मि आवासे दंसेमि । किं भणासि एदं क्खु भट्ठिणो अमच्चरक्खसस्स गेहं णत्थि इध अहोरिसाणं प्पवेसो त्ति ? तेण हि गच्छदु अज्जो । जीविआए प्पसादेण अत्थि एत्थ मम प्पवेसो त्ति । कथं एसो वि आदिक्कन्तो । (आर्य ! किं भणसि कस्त्वमिति ? आर्य ! अहं खलु आदितुण्डिको जीर्णविपो नाम । (पुनराकाशे) किं भणसि अहमप्यहिना खेलितुमिच्छामीति ? अथ कतरां पुनरार्यो वृत्तिमुपजीवति ? (पुनराकाशे) किं भणसि 'राजकुलसेवक' इति ? ननु खेलत्येव आर्योऽहिना । किं भणसि कथमिति ? 'अमन्त्रौ-पथिकुशलो व्यालप्राही, अगृहीताङ्कुशो मत्तगजवरारोही, लब्धाधिकारो जितकाशी राजसेवक' इति; एते त्रयोऽवश्यं विनाशमनुभवन्ति । कथं दृष्टमात्रोऽतिक्रान्त एषः । (पुनराकाशे) आर्य ! त्वं पुनः किं भणसि— 'किमेतेषु पेटकसमुद्गकेषु' इति ? आर्य ! आत्मजीविकासम्पादकाः सर्पाः । (पुनराकाशे) किं भणसि— 'प्रेक्षितुमिच्छामी'ति प्रसीदतु आर्यः । अस्थानं खलु एतत्, तद्यदि ते कौतूहलं, तदेहि एतस्मिन्नावसे दर्शयामि ।

क्या कहते हो—मैं भी सांप से खेलना चाहता हूँ ।

अच्छा, तुम्हारी जीविका क्या है ! (आकाश में ही पुनः) क्या कहते हो—तुम राजकुल के सेवक हो ? तब तो सांप से ही खेल रहे हो ! तुमने क्या पूछा—कैसे ? विना मन्त्र और ओपथि जानने वाले संपेरे, विना अंकुश के मतवाले हाथी पर चढ़ने वाले हाथीवान और अधिकार पाकर अहंकार में चूर राजकर्मचारी इन तीनों का नाश अवश्यंभावी है । अरे ! अभी अभी दिखाई दिये और पता नहीं कहां चले गये । (आकाश में ही) अरे ! क्या यह पूछ रहे हो कि इन पिटारों में क्या है ? भाई ! ये मेरी जीविका चलाने वाले सांप हैं । (पुनः आकाश में ही) अभी अभी मैंने देखा कि सांपों ने आपस में चूँचल करीब यहाँ दिखा देने की

(पुनराकाशे) किं भणसि—‘इदं खलु भर्तुरमात्यराक्षसस्य गृहम्, नास्तीह अस्मादृशानां प्रवेश’ इति ? ‘तेन हि गच्छत्वार्यः, जीविकायाः प्रसादे-
नास्त्यत्र मम प्रवेश’ इति । कथमेषोऽप्यतिक्रान्तः ?)

(दिशोऽवलोक्य संस्कृतमाश्रित्य स्वगतम्) अहो ! आश्चर्यम् ।
मतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि ।
राक्षसमतिपरिगृहीतञ्च मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्र-
गुप्तमवगच्छामि । तथा हि—

कौटिल्यधीरञ्जुनिबद्धमूर्तिं मन्ये स्थिरां मौर्यकुलस्य लक्ष्मीम् ।

स्वगतमिति—स्वगतमित्यपि नाटकीयवृत्तस्याभिनयदृष्ट्या कृतो भेदः । स्वहृदि
स्थितं यद् वृत्तं पात्रान्तराणामज्ञाप्य—सामाजिकानां तु ज्ञाप्यमेवेति न सन्देहः—
तद् वृत्तं स्वगतमिति ।

अहो आश्चर्यमित्यादि—अत्रेदृशीं वाचोयुक्तिमुपन्यस्तवता नाटककविना प्रधान-
नायकस्य प्राप्त्याशावस्था कयाचन भङ्ग्या ससुन्मीलिता । चाणक्यस्तु स्वलोकजी-
वनस्य कश्चन लोकोत्तरः पुरुषः स्वारम्भ-यत्नयोः कदापि नैष्फल्यं न चिन्तितवा-
निति निपुणं विमृश्य कविर्नाटकं तच्चरितचर्चहितोः प्राप्त्याशां तस्यापि निवध्नाति
किन्तु न साक्षादपि तु राक्षसकृतारम्भयत्न—प्राप्त्याशादिपरिशीलन—तदन्यथाभ-
वनादिप्रपञ्चनद्वारेति निपुणं विचारणीयं सुधीभिः ।

विराधगुप्तस्वपक्ष-परपक्षयोः प्रावत्यदौर्वत्ये विचिन्तयन्नाह—कौटिल्यधीरञ्जु-

जगह नहीं । यदि देखने की वड़ी इच्छा है तो आओ, इस आवास में दिखाता हूँ ?
(आकाश में ही) अरे ! तुमने कहा कि यह घर हमारे स्वामी महामन्त्री राक्षस का है !
हमारे सरोखे लोगों का यहां प्रवेश नहीं ।

अच्छा तो तुम जा सकते हो । अपनी जीविका की कृपा से यहाँ मेरा प्रवेश है ।
अरे ! यह भी कहीं खिसक गया ।

(चारों ओर देख कर—स्वगत संस्कृत में)

कैसा आश्चर्य है ! एक ओर जब चाणक्य की कूटनीति का अनुसरण करते हुये
चन्द्रगुप्त को देखता हूँ तो ऐसा लगता है मानो राक्षस के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो रहे हैं
और दूसरी ओर जब राक्षस की राजनीति का अनुगमन करते हुये मलयकेतु को देखता
हूँ तो ऐसा लगता है जैसे चन्द्रगुप्त के पैर साम्राज्य से उखड़ चले हों ! क्योंकि—

मुझे तो ऐसा लगता है कि एक ओर तो चाणक्य की कूटनीति की स्ति मे

मौर्यवंश

उपायहस्तैरपि राक्षसेन विकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥ २ ॥

तदेवमनयोः सुनयशालिनोः सचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुल-
लक्ष्मीर्लक्ष्यते । कुतः ?—

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययोर्महावनै वनगजयोरिवान्तरे ।

निबद्धमूर्तिमित्यादि । परपक्षस्तु प्रबलतरः प्रतिभाति यतो हि मौर्यकुलस्य मौर्यवंशस्य सम्राजश्चन्द्रगुप्तस्येति यावत्, लक्ष्मीं राज्यश्रियं कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं कौटिल्यस्य कुटिलनयमूर्तेश्चाणक्यस्य धी राजनीतिरेव रज्जुस्तया निबद्धा सुदृढं नियन्त्रिता मूर्तिराकृतिर्यस्यास्तां तथाभूतां सतीं स्थिरां निश्चलावस्थानतया चतुरस्रशोभिनीं मन्ये सम्भावयामीति यावत् । चाणक्ये जाग्रति तस्मिन् च व्याप्रियमाणायां चन्द्रगुप्तोच्छेदोऽशक्यक्रिय इति न सन्देहलवोऽपि कश्चेति भावः । किन्तु स्वपक्षोऽपि दृढाध्यवसायवानेव यतो हि स्थिरां तथा निश्चलीकृतामपि मौर्यश्रियं राक्षसेन महामात्येनोपायहस्तैरुपायास्साम-दाम-दण्ड-भेदास्त एव हस्तास्तैर्विकृष्यमाणामिव बलात् कृतशल्यबन्धनामिव लक्षयामि तर्कयामीत्यर्थः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अत्र 'मौर्यकुलस्य लक्ष्मीं स्थिरां मन्ये, राक्षसेन चाणक्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं तां विकृष्यमाणामिव लक्षयामी'त्यभिधानो विराधगुप्तश्चाणक्यस्य प्राप्त्याशामेव सूचयति । 'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्ताशाकार्यसंभव' इति लक्षणस्य संगतत्वात् । उपायशङ्कायाः 'स्थिरां मन्ये' इति दाढ्यविवक्षया, अपायशङ्कायास्तु 'विकृष्यमाणामिव लक्षयामी'ति शैथिल्यसंभावनया चाणक्यनायकस्य कार्यसंभवो निश्चितकल्प इति तात्पर्यम् ।

मन्त्रिमुख्ययोः चाणक्यराक्षसयोर्नीतियुद्धं वर्णयन् विराधगुप्तो वक्ति—विरुद्धयोरित्यादि । इह मगधराज्ये चन्द्रगुप्तराज्यस्थैर्यापादनतदुच्छेदनात्मके वा द्वन्द्वे शृशं विरुद्धयोः प्रकामं विरोधेन वर्तिनोर्व्यवहरतोश्च मन्त्रिमुख्ययोः प्रधानामात्ययोश्चाण-

की राज्यलक्ष्मी को कसकर बांध दिया है और दूसरी ओर राक्षस की चालें राजनीति के लम्बे हाथों से उसे बलपूर्वक अपनी ओर धसीट रही है ! ॥ २ ॥

इन दो महानौतिज्ञ महामन्त्रियों की आपस की मुठभेड़ में नन्दवंश की राजलक्ष्मी संशय में पड़ गयी है ।

क्योंकि—

'जैसे किसी बड़े जंगलमें दो जंगली हाथियों के एक दूसरे से झगड़ पड़ने पर, कोई हथिनी, दोनों में से किसीकी ओर भागती है उसी प्रकार राजनीतिज्ञ चाणक्य और विरुद्धयोरित्यादि ।

अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया गतागतैर्भृशमिव खिद्यते श्रिया ॥३॥

तद्यावत् अहममात्यराक्षसं पश्यामि (इति परिक्रम्य स्थितः)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमानः

सचिन्तो राक्षसः)

व्यराक्षसयोरन्तरे मध्ये श्रिया राजलक्ष्म्या महावने दुर्गमकानने कस्मिंश्चिद् भृशं विरुद्धयोर्हस्तिनीसेकां स्ववशां विधातुमामरं युध्यतोर्वनगजयोरन्तरे मध्ये गजवशयेव करिष्येव भीतया त्रस्तया सत्याऽनिश्चयादन्यतरविजयाऽनिर्धारणतो गतागतैरेकदा चाणक्यं प्रति गतं गमनमन्यदा तत आगतं तं विहाय राक्षसं प्रत्युपसर्पगमित्येवंरूपं यद् गतागतं गमनाऽगमनपारस्पर्यं तैः कृत्वा भृशं खिद्यत इवात्यन्तं क्लिश्यत इवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र मन्त्रिद्वय-गजद्वययोरसाधर्म्यप्रदर्शनादुपमालङ्कारः राजलक्ष्म्याः खेदसंभावनादुत्प्रेक्षा चेत्युपमानुप्राणितोत्प्रेक्षालङ्कार इति विचारितं टीकाकृद्भिः । किन्तु 'राक्षसचाणक्यौ परस्परं प्रतिमानभूतौ निःसङ्गयोगिनौ कावपि महापुरुषावि'तिरूपो यो नाटकानुकूलो ध्वनिरत्रोन्मिषति तस्य तु स्वरूपमेव तैर्न दृष्टम् । वस्तुतस्तु ध्वनिरयमेवान्न कविहृदयसंरम्भविषयः । अत्रोपमायाः आपातरम्यत्वादुत्प्रेक्षायाश्च कवि-निबद्धवक्तृतात्पर्यभूताया अपि कवितात्पर्य-सर्वस्वायमानत्वाभावात् ।

तद्यावदमात्यराक्षसं पश्यामीति—अत्र प्रवेशक-विष्कम्भकसूचनां विनैव राक्षसस्य यः प्रवेशो विवक्षितो येन खलु द्वितीयोऽयमङ्कोऽवतार्यते सोऽयमङ्कावतारोऽत्र नाटककृता निबद्धो दृश्यते । अङ्कावतारस्य लक्षणं 'सोऽङ्कावतारो यत् पान्त्रैरङ्कान्तरमसूचनमिति । राक्षसः कार्यान्तराभिनिविष्टः सा ज्ञायि सामाजिकैरिति न

के कारण कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास आती-जाती केवल खिन्न होती दिखाई देती है वैसे ही इस साम्राज्य में, इन दोनों परस्पर-विरुद्ध महामन्त्रियों के बीच, किसी एक की भी हार-जीत का निर्णय न कर पाने के कारण, राजलक्ष्मी भी, कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास डरती हुई आती और जाती केवल दुःख उठा रही है' ॥३॥

देखें क्या होता है ! मुझे अमात्य राक्षस से मिलना है ।

(श्वर-उधर घूमते हुए खड़ा हो जाता है)

अङ्कावतार

(अपने भवन में, आसन पर बैठा, चिन्तामग्न राक्षस, एक अनुचर के साथ दिखाई देता है)

राक्षसः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सचापम्) कष्टं भोः ! कष्टम्—

वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां
नन्दानां विपुले कुलेऽकरुणया नीते नियत्या क्षयम् ।

चिन्ताऽऽवेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिधं जाग्रतः
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते ॥ ४ ॥

प्रवेशकादिना तस्य प्रवेशोऽत्र कृतोपि त्वङ्कावतारेण, तत एव तस्य चाणक्यविज-
यचिन्तैकपरत्वादेः प्रकाशनादिति ।

राक्षसो वृषं ग्रयतमानोऽपि फलाफलचिन्तादोलान्दोलितमानसस्त्वहृदयेन संल-
पन्नाह—वृष्णीनामिति । अहो ! किं क्रियताम्, तथाहि—वृष्णीनामिव तथा प्रसिद्धानां
यदूनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां नीतिर्मन्त्रशक्तिविक्रमः प्रभुशक्तिगुणाः
स्वास्थ्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रसम्पदः व्यापारास्तन्त्रावापादयश्च तैस्समस्तैः
कृत्वा शान्ताः प्रशमितोपद्रवास्संजाता द्विपरशत्रवो जेषां तथाविधानां नन्दानां
विपुले कुले महोदारे महाराजवंशेऽकरुणया नियत्या दारुणेन दुर्भाग्यदुर्विलसितेन
क्षयं नीते प्रणाशं प्रापिते सति, चिन्तावेशसमाकुलेन तथाकृतं शत्रुभिः कथं वा प्रति-
विधातव्यमित्यादिरूपाणां चिन्तानां य आवेशा आघातास्तैः कृत्वा समाकुलेनात्यर्थ-
सुद्विग्नेन मनसाऽन्तःकरणेन हेतुना रात्रिन्दिधं जाग्रतो विगतनिद्रमहर्निशं तत्त-
त्संकल्पगतो विकल्पयतश्च मम सा एव इयं चित्रकर्मरचना चित्रकर्मणः चित्रस्य
रचनेव चित्रागामाश्रयकारिणां कर्मणः तन्त्रावापादीनां संविधानप्रतिभा या हि
पुरा नन्देषु जीवत्सु किं तद् यत्र कृतवती किंतु विनष्टेषु तेष्वधुना भित्तिं विना
निराधारं चित्रवद् वर्तते, कर्तुमसमर्था सती हृदय एवावसीदतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—(१) राक्षसहृदयस्य करुणमुच्छ्वसितमग्नं सामाजिकानां हृदयं स्पृ-
शति । करुणरसस्यापूर्वाऽयमुपनिबन्धो नाटककृतो नवमेव रसनिर्माणकौशलमुद्गा-
वयति । राक्षसस्य शोकोऽत्र दैवकृतेन स्वपुत्रपकारलुप्यतश्चिन्तनेन लब्धजन्मा स्वौ-
पधिकविभावादभिव्यक्तस्सहृदयहृदये रसीभवति ।

राक्षस—(ऊपर की ओर देख, आंसू भरी आँखों से) ओह ! कितना कष्ट है !

यदुर्वंशिओं की भाँति अपने नीति-पराक्रम राजतन्त्र आदि के प्रभाव से शत्रुओं को
शान्त कर देने वाले नन्दवंशियों के विशाल कुल के दुर्भाग्यवश नष्टभ्रष्ट हो जाने पर,
चिन्ता के आवेश से मन के निरन्तर व्याकुल रहते रात-दिन जागते हुये मेरे द्वारा किये
गये सभी (राज-कार्य, चित्रकर्म) की विना विनष्टजरा के सामान्य प्रतिफल रहे हैं।

अथवा—

नैदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यापारमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीक्ष्णा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना ।
अत्यर्थं परदास्यमेत्य निपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रवधेनाराधितः स्यादिति ॥ ५ ॥

(२) टीकाकृद्भिरत्र विभावना-विशेषोक्ति-तत्संसृष्टादीनां चिन्ताभिर्यन्मनः कदर्थितं तत्तु किमप्यसमीचीनमिव प्रतिभाति । 'सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना 'वर्त्तत' इति या वाचोयुक्तिस्सा तु टीकाकृद्भिरदृष्टरामणीयकासहृदयानेव सरभसं रमयितुमुत्सुका तिष्ठति । अत्र हि कस्यचन चित्रकरस्य चित्रकर्मरचनया पूर्वप्रदर्शिततत्तदालेख्यसंविधानकयाऽमात्यराक्षस्य विचित्रराज्यतन्त्रसंचालनसमर्थस्य राजनीतिप्रतिभायाः यदध्यवसानं तदेव चेतश्चमत्कारि किमप्यर्थतत्त्वम् । कविरयं राजनयनिपुणराक्षसं चित्रकरेण राजनीतिं च चित्रकलयाऽध्यवस्यन्नुभयत्र यमाहार्याभेदनिश्चयं करोति तेनैव राक्षसशोकस्य धाराधिरोहो भवितुमर्ह इति विगलितविचिकित्सं मन्तव्यं सहृदयैरिति ।

स्वस्य राजनयाभिनिवेशः किं सेवाभावेन किंवा स्वार्थभावनयेति मनसि विकल्पयन्नाह राक्षसः—नैदं विस्मृतभक्तिनेत्यादि । अत्यर्थं काय-वाङ्मनसां प्रगुणीभावेन परदास्यमेत्य परस्यापि यथा मलयकेतोरेव वशवर्तितां स्वकृत्य मया राक्षसेन नीतौ शत्रुपराजयाय सामादिप्रयोगे यन्निपुणं साभिनियोगं मनो दीयते तत्तत् संकल्प्यते विकल्प्यते वा तदिदं सर्वं न विस्मृतभक्तिना न नन्दभक्तिं विस्मृत्य स्वार्थसिद्धिं वा पुरस्कृत्य, मया क्रियते, न विषयव्यापारमूढात्मना न वा विषयाणां तत्तदुपभोगसाधनानां ये व्यापाराः मनसः रागविक्षेपादिकरणाध्यवसायास्तैर्मूढस्सं-सुग्ध आत्मा स्वान्तं चित्तं वा यस्य तेन तथाविधेन सता मया क्रियते, न प्राणप्रच्यु-

अथवा,

'दूसरे (अर्थात् मलयकेतु) की दासता स्वीकार करके भी, राजनीति के दाँव-पेंचों में मैं इसीलिये पड़ा हुआ हूँ जिसमें दिवंगत महाराज नन्द, मेरे द्वारा किये गये अपने शत्रुओं के वध से संतुष्ट हो सकें । मैं इसलिये यह सब नहीं कर रहा कि मैं अपनी नन्द-भक्ति भूल चुका हूँ अथवा राजसुखभोग की आसक्ति से मोह में पड़ गया हूँ अथवा अपने प्राणनाश से भयभीत हो गया हूँ और न इसलिये कि मुझे अपना भूतपूर्व गौरव मिल जाय ।'

(आकाशमवलोकयन् साक्षम्) भगवति कमलालये ! भृशम् अगुण-
ज्ञाऽसि । कुतः ?

आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं
रक्ताऽसि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे ? ।
दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे
तत्रैव किं न चपले ! प्रलयं गताऽसि ? ॥ ६ ॥

तिभीरुणा न वा परिरक्षणीयाः स्वस्य प्रियाः प्राणा इति समरमुखाद् भीतत्र-
स्तेन मया क्रियते, नचात्मप्रतिष्ठार्थिना न च पुनरप्यात्मानं महामात्यपदे प्रतिष्ठाप-
येयमिति वा मनसिकृत्य मया किन्तु स्वर्गगतोऽपि देवः स्मृतिशेषोऽपि महाराजो
नन्दश्शात्रववधेन मत्संकल्पितेन शत्रुसमालम्भनेनाऽराधितः स्यात् परितुष्यतु
प्रीयतामिति हेतोरेव सर्वमिदं क्रियत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अत्र श्रीदुण्डिराजपण्डितैर्गर्मसन्धेरङ्गं मार्गरूपं यद् गवेपितं तत्तु यत्कि-
ञ्चिदेव । यद्यपि तत्त्वार्थशंसनं वा मार्गस्य लक्षणं किन्तु मार्गत्वमेतादृशस्य नाटक-
वाग्बिलासस्य तदैवं संघटते यदा वचनमिदं सामान्येनोच्यमानं सत् प्रकृतार्थेन
संबध्यते । वस्तुतस्तु तत्त्वार्थशंसनमिदं साक्षादेव प्रकृतार्थभूतमिति न मार्गस्य मार्ग-
णावकाशः कोऽपीति ।

राक्षसो राजलक्ष्मीमेवागुणज्ञां सकलस्य स्वप्रयत्ननैष्कल्यस्य निदानभूतामधि-
क्षिपन्नाह—आनन्दहेतुमित्यादि । अयि चपले ! अष्टपातिव्रत्ये ! स्वैरिणि ! कथय किं
किमर्थं कथं वाऽऽनन्दहेतुमपि सर्वविधसुखसंभोगप्रदातारमपि देवं महाराजं नन्दम-
पास्य परित्यज्य वैरिणि मौर्यपुत्रे नन्दशत्रौ चन्द्रगुप्ते रक्ताऽसि प्रणयपरायणा संजा-
ताऽसि ? अये ! गन्धगजस्य नाशे मृते गन्धहस्तिनि दानाम्बुराजिरिव तदीयमदधा-
रेव तत्रैव नष्टे नन्द एव किं प्रलयं न गतासि ? तेन सहैव कथं न मृताऽसी-
त्यर्थः । पत्युर्मरणमनुमरणस्य कथैव काऽपरमेवोपपत्तिमभिसर्त्तुमुपक्रान्ताऽसीत्यभि-
प्रायः ॥ ६ ॥

(शून्य की ओर देखते हुये, आंखों में आंसू भरे)

अरी लक्ष्मी ! तू बड़ी विवेकहीन है अपने एकमात्र आनन्ददायक महाराज नन्द को
छोड़ कर, तू उनके ही बैरी मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रेम में पड़ गयी ! अरी ! तुझे, अपने
महाराज के साथ, वैसे ही मर जाना चाहिये था जैसे मतवाले हाथी के मर जाने पर उसकी
मददारा उसके साथ ही मर जाया करती है ॥ ६ ॥

अपि च अनभिजाते !

पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः

पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ? ।

प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला

पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र नन्द-राजलक्ष्यादेः प्राकरणिकस्य भाग्यजमदधारादेरप्राकरणि-
कस्य च यत्साधर्म्यं वर्णयति कविस्तस्यास्ति किमपि स्वारस्यम् । सर्वथा संज्ञाशू-
न्याऽपि मदधारा यदि गन्धहस्तिनि स्वाश्रये समुत्सन्ने समुत्सीदति सुतरां संज्ञा-
नवत्या लक्ष्या नन्दे भर्तारि सृते मर्त्यमेव । यथाहि नानया तथाचरितम् तथा
नास्ति पापायाः कोऽपि निस्तारमार्ग इति ।

एतावताऽधिद्वेषेण मनसः स्वास्थ्यमलभमानोऽमात्यराक्षसः पुनरपि लक्ष्मीमेव
निन्दन्नाह—पृथिव्यामित्यादि । अधि पापे ! पापाचारे ! पृथिव्यां विपुलेऽस्मिन्
विश्वे प्रथितकुलजाः विपुलेषु महत्सु प्रसिद्धेषु वा राजवंशेषु जाताः भूमिपतयो
राजानः किं दग्धाः विनष्टाः । यत् कुलहीनं दुःकुलं मौर्यं चन्द्रगुप्त पतिं वृतवती
असि स्वाभित्वेन स्वीकृत्य रन्तुमुत्सुकीभवसि ! चन्द्रगुप्तवरणं केवलं पापफलकमेवा-
न्यकारणकमिति भावः । वाऽथवा पुरन्ध्रीणां रमणीनां प्रज्ञा बुद्धिः प्रकृत्या स्वभा-
वत एव काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला काशात्मवो यस्य तस्य कुसुमस्य निर्गुणस्य
काशपुष्पस्य प्रान्तोऽग्रभाग इव चपला चलायमाना पुरुषगुणविज्ञानविमुखी पुरु-
षाणां यद्गुणविज्ञानं सत्कुलत्वदुःकुलत्वादिविवेचनं तत्र विमुखी नितरां निरपेक्षा
खलु भवतीति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) काशकुसुमेति वक्तव्ये काशप्रभवकुसुमेतिवचनसधिकपद-
त्वदोषवदपि यत्कविना स्वीकृतं तत्त्वर्थविशेषस्याविकरणाथैव । कोऽसावर्थविशेष
इति चेत् ? कर्मधारयेण काशप्रभवेतिविशेषणपदार्थस्य कुसुमेति विशेष्य पदार्थं
समानाधिकरणतया बुद्ध्युपारोहणे चापल्यस्याप्युभयत्र संगतत्वावगतिरिति ।

अरो ! कुलटे !

क्या इतनी बड़ी धरतीपर, प्रतिष्ठित राजवंश वाले राजा महाराजा लोग जल मरे थे जो
तूने कुलहीन मौर्य को पति चुन लिया ! अथवा, तुम्हारा भी क्या दोष ! काश से निकले
फूल को छोर की भांति चञ्चल स्त्रियों की बुद्धि, पुरुष के गुण और अवगुण के विवेक से
विमुख रहा करती है ॥ ७ ॥

अपि च । अविनीते ! तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमि ।
(विचिन्त्य) मया तावत् सुदृढतमस्य चन्दनदासस्य गृहे गृहजनं निश्चिप्य
नगरान्निर्गच्छता न्याय्यमनुष्ठितम् । किं कारणमिति ? कुसुमपुराभियोगं
प्रति अनुदासीनो राक्षस इति, तत्रस्थानामस्माभिः सह एककार्याणां
देवपादोपजीविनां नोद्यमः शिथिलीभविष्यतीति । चन्द्रगुप्तशरीरमभि-
द्रोघुमस्मप्रत्युक्तानां तीक्ष्णरसदायिनामुपसंग्रहार्थं परकृत्योपजापार्थञ्च
महता कोशसञ्चयेन स्थापितः शकटदासः । प्रतिक्षणमरातिवृत्तान्तोप-

(२) अत्र 'भगवति ! कसलालये !' इत्याद्यारभ्य 'पुरन्ध्रीणां प्रजा पुरुषगुणवि-
ज्ञानविशुद्धी' त्यन्तो यो वाग्त्रिलासो दैवात्मलक्ष्मीनिन्दनादिरूपः शोकानुगुणस्स
तु यद्यपि राक्षसगतस्य 'निपुणं नीतो मनो दीयत' इत्यादिना पूर्ववचसा कियद्विज-
स्मितस्थोत्साहस्थायिनो विरोधी तथापि तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमी'
त्यादिना वीरानुभावेन लक्ष्म्यादेशाक्षेपेणाऽपोपितशोकपोष एव पर्यवसित इति
चातुर्यमेव रसपाकचतुरस्य कवेराविष्करोतीत्यलं सहृदयेषु बहु विकल्प्येति ।

परकृत्योपजापार्थमिति—परस्य शत्रोश्शत्रुविषयस्य वा ये कृत्याः क्रुद्ध-भीत-लुब्ध-
मानिवर्गाः पुरुषाः कृत्यपक्षीया इति यावत् (कौटिलीयमर्थशास्त्रम् १. १४. १०.)
तेषां य उपजापो भेदनमात्मपक्षसाहाय्याचरणाय प्रेरणं तदर्थमित्यर्थः । उक्तं चार्थ-
शास्त्रे दुर्गलम्भोपायाधिकरणे—

‘तथेति प्रतिपक्षेषु द्रव्यधान्यपरिग्रहैः ।

साचिच्यं कार्यमित्येतदुपजापाद्भुतं महदि’ति ॥

अरो ! उद्दण्ड लक्ष्मी ! तुम्हारे अवलम्ब (राक्षस) का उन्मूलन करके तुम्हारे
मनोरथ मिट्टी में मिला दूंगा । (सोचते हुये)

पाटलिपुत्र छोड़ते हुये, मैंने अपने परममित्र चन्दनदास के घर में अपना परिवार
रखकर अच्छा ही किया । क्योंकि हमारे कंधे से कंधा मिलानेवाले, महाराज नन्द के भक्त
प्रजाजनों का प्रयत्न यह जानकर कि पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने में राक्षस उदासीन
नहीं हुआ है, शिथिल नहीं पड़ेगा । इसीलिये मैंने, चन्द्रगुप्त को हत्या करने के लिये तीक्ष्ण
और रसद पुरुषों (विप देने वालों) के संग्रह के निमित्त तथा शत्रुपक्ष में फूट पैदा
करने के उद्देश्य से, शकटदास को, पर्याप्त धन सामग्री के साथ, पाटलिपुत्र में, रख छोड़ा

लब्धये तत्संहतिभेदाय च व्यापारिताः सुहृदो जीवसिद्धिप्रभृतयस्तत् किमत्र बहुना ?—\

इष्टात्मजः सपदि सान्वय एव देवः

शार्दूलपोतमिव यं परिपुष्य नष्टः ।

तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनदिम मर्म

वर्माभवेद्यदि न दैवमदृश्यमानम् ॥ ८ ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

किमत्र बहुनेत्यादि । अत्र राक्षसस्य प्रतिनायकस्य प्रारम्भ-प्रयत्नावस्थे चाणक्यनायकस्य प्राप्याशांसूचयन्त्यावुपनिबद्धे इति नाट्यनिर्माणकौशलं कवेः किमपि ।

राक्षसः स्वनीतिप्रयोगं मनसि चिन्तयन्नाह—इष्टात्मज इत्यादि । इष्टात्मजः इष्टा आत्मजा यस्येति प्रियसुतो देवो नन्दो यं चन्द्रगुप्तं शार्दूलपोतमिव सिंहशावकमिव परिपुष्य परिपाल्य सान्वय एव सर्वंश एव सपदि नष्टः 'पालितेन येन कृतघ्नाचारेण विनाशमवाप्तस्तस्यैव दुराचारस्य मौर्यस्य मर्म मर्मस्थानीयं मन्त्राधिकारिणं चाणक्यमिति यावत् । बुद्धिविशिखेन दारुणेन कूटनीतिव्यापारेण भिनन्नि विदारयामि यदि हन्त ! अदृश्यमानं दैवमनालक्ष्यं मौर्यस्य भाग्यमस्मद्भाग्यं वा न वर्माभवेत् न तस्य रक्तकं स्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र टीकाकृद्भिर्श्रीदुण्डिराजप्रभृतिभिः 'मया तावदित्यारभ्यादृश्यमानमित्यन्तेन राक्षसस्योपायापायशङ्के' इति यदुक्तं तत् पूर्वोक्तविमर्शनाऽऽसमीचीनमिति नादरणीयम् ।

कञ्चुकीति—कञ्चुकिलक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।

सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥' इति ।

है । साथ ही साथ, प्रतिक्षण, शत्रुपक्ष के समाचार जानने और उनके संघ में फूट पैदा करने के लिये जीवसिद्धि प्रभृति मित्रों को भी लगा रखा है । अधिक क्या कहूँ—

यदि अदृष्ट दुर्भाग्य कवच का काम न करे, तो, अपने बुद्धिवाण से, मैं उस चन्द्रगुप्त का मर्म-भेदन कर दूँगा जिसे पुत्रप्रेमी महाराज नन्द ने बाघ के बच्चे की भांति पाला पोसा और जिसके द्वारा अन्त में, अपने वंश के साथ, नाश में मिल गये ॥ ८ ॥

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव, क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि ।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते, जेतुं न शक्नोति च ॥ ९ ॥

(दृष्ट्वा) अयममात्यराक्षसः (परिक्रम्य उपसृत्य च) इदममात्य-

जाजलिनामधेयः मलयकेतुकञ्चुकी स्वहृदये प्रवर्त्तमानं धर्म-लोभद्वन्द्वं चाण-
क्य-राक्षससंघर्षमिव चिन्तयन्निर्विण्णमना आह-कामं नन्दमिवेत्यादि । यथा चाण-
क्यनीत्या चाणक्यस्य कूटनयनैपुण्या नन्दं प्रमथ्य परिभूय नगरे पाटलिपुत्रे यो-
ऽयं मौर्यश्चन्द्रगुप्तः क्रमेण सन्धिविग्रहादिना निग्रहानुग्रहपौर्वापर्यपरम्परया समस्तं
राजमण्डलं वशीकृत्य प्रतिष्ठां नीतः प्रतिष्ठापितः सम्राड्रूपत्वेनेति शेषः, तथैव
जरया वृद्धावस्थयाऽनया कामं विषयाभिनिवेशं मदीयं प्रमथ्य सम्मर्द्य मयि सदन-
करणे योऽयं धर्मः विषयाभिपङ्गविमुखीभावः क्रमेण श्रवण-मननाद्विपरिपाठ्या
प्रतिष्ठापितोऽनुष्ठानसर्वस्वरूपत्वेनेति शेषः, तं मौर्यमिव धर्मं सम्प्रत्युपचीयमानमपि
चाणक्यनयसाफल्येनेव कालानुगुण्येन समयेऽस्मिन् वर्द्धिष्णुमपि सन्तं राक्षसवत्
मे लोभो राक्षस इव मदीयो विषयाभिलाषसेवया राक्षसपक्षे मलयकेतुकृतया
तत्संभावनया कञ्चुकिपक्षे च स्वकृतया मलयकेतुपरिचर्ययेति भावः, लब्धान्तरः
संप्राप्तसंधिभेद इवेति शेषः, प्राप्तहृदयावकाशः जयाय जेतुं (तुमर्थाच्च भाववचना-
दिति चतुर्थी) यतते प्रयत्नमारचयति किन्तु जेतुं च न शक्नोति पराभवितुं न
शक्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) यत्र चाणक्यस्य प्राप्त्याशाऽन्यथैव भङ्गया सूचिता कविना ।

(२) प्राकरणिकानां काम-जरा-धर्म-हृदय-लोभ-जयानां विचित्रैरप्राकरणि-
कैर्यत्साधस्य कल्पितं कविना तत्तु काव्यौपयिकं भवतु मा वा भूत् । नाटकौपयिक-
मत्र नितरामेव संजातमिति संतोष्यं सुधीभिः ।

कञ्चुकी—चाणक्यनीति की भांति वृद्धावस्था में, महाराज नन्द की भांति कामभाव
का नाश कर, पाटलिपुत्र की भांति मुझ में, मौर्यचन्द्रगुप्त की भांति जिस धर्मभाव की
क्रमशः प्रतिष्ठा की थी उस उत्तरोत्तर बढ़ते धर्मभाव को, अब, लोग राजसेवा के कारण
अवसर पाये राक्षस की भांति, जीतने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु जीत नहीं सकता ॥९॥

(देख कर) ये असाध्य राक्षस हैं । (घुसने लगे समीक जाकर) यह असुखराक्षस

राक्षसस्य गृहं प्रविशामि । (प्रविश्यावलोक्य च) अमात्य ! स्वस्ति भवते ।

राक्षसः—आर्य जाजले ! अभिवादये । प्रियंवदक आसनम् अत्र भवत उपनय ।

पुरुषः—एदं आसनं उवविसदु अज्जो (इदमासनम्, उपविशत्यार्यः ।)

कञ्चुकी—(नाचेनोपविश्य) अमात्य ! कुमारो मलयकेतुरमात्यं विज्ञापयति—‘चिरात्प्रभृत्यार्यः परित्यक्तोचितशरीरसंस्कार’ इति पीडयते मे हृदयम् । यद्यपि स्वामिगुणाः सहसा न शक्यन्ते विस्मर्त्तुम्, तथापि मद्भिज्ञापनां मानयितुमर्हत्यार्यैः’ (इत्याभरणानि दर्शयित्वा) अमात्य ! इमान्याभरणानि कुमारेण स्वशरीरादवतार्य प्रेषितानि, धारयितुमर्हत्यार्यः ।

राक्षसः—आर्य ! जाजले विज्ञाप्यतां मद्वचनात् कुमारः—विस्मृता मया स्वामिगुणा भवद्गुणपक्षपातेन । किन्तु—

का घर है । (भीतर चलें) । (भीतर पहुँचकर देखते हुये) अमात्य ! कल्याण हो ।

राक्षस—आर्य ! जाजले ! प्रणाम करता हूँ । (सेवक से) प्रियंवदक !! आर्य जाजलि के लिये आसन लाओ ।

पुरुष—यह आसन रहा । आप विराजें ।

कञ्चुकी—(अभिनय-पूर्वक बैठते हुये) अमात्य ! कुमार मलयकेतु का निवेदन है कि उन्हें इस बात का हार्दिक दुःख है कि आपने बहुत दिनों से अपने शरीरोचित वेष-भूषा आदि का ध्यान छोड़ दिया है । यद्यपि दिवंगत महाराज नन्द के गुणों का अकस्मात् भूलना संभव नहीं किन्तु मेरी यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार की जाय । (आभरणों को दिखाते हुये) अमात्य ! कुमार ने इन आभरणों को, अपने शरीर से उतार कर, आपके लिये भेजे हैं । कृपया इन्हें धारण करें ।

राक्षस—आर्य जाजले ! मेरी ओर से कुमार को यह निवेदन कर दिया जाय कि मैंने उनके गुणों के प्रति अनुराग के कारण महाराज नन्द के गुणों को भूलना दिया है । किन्तु—

न तावन्निर्वीर्यैः परपरिभवाक्रान्तिकृपणै-
र्वहाम्यङ्गैरेभिः प्रतनुमपि संस्काररचनाम् ।

न यावन्निःशेषक्षपितरिपुचक्रम्यं निहितं
सुगाङ्गे हेमाङ्कं नृवर ! तव सिंहासनमिदम् ॥ १० ॥

कञ्चुकी—अमात्य ! त्वयि नेतरि सुलभमेतत् कुमारस्य, तत् प्रतिमा-
न्यतो कुमारस्य प्रथमः प्रणयः ।

राक्षसः—आर्य ! कुमार इवानतिक्रमणीयवचनो भवानपि, तदनुष्ठी-
यते कुमारस्याज्ञा ।

राक्षसः मलयकेतुकृतां स्वस्य संभावनां शत्रुसमुच्छेदेन प्रतिसमर्पयितुं प्रतिजा-
नान आह—न तावन्निर्वीर्यैरित्यादि । आर्य जाजले ! विज्ञाप्यतामस्मद्वचनात्कुमार-
मलयकेतुः—हे नृवर ! नरश्रेष्ठ ! यावत् यत्कालपर्यन्तं निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य
निःशेषं यथा स्यात्तथा क्षपितं विनाशितं रिपुचक्रं शत्रुसामस्त्यं यस्य तस्य तवेदं
मद्बृहदयस्थं हेमाङ्कं सिंहासनं हिरण्मयं राजासनं सुगाङ्गे महाराजस्य नन्दस्य गङ्गा-
याः परिसरवर्तितात्तन्नाममहनीये तद्गुणरमणीये च प्रासादे न निहितं न प्रतिष्ठा-
पितं मयेति शेषः, तावत्तत्कालपर्यन्तं परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः परैः शत्रुभिः कृता
या परिभवाक्रान्तिरस्मत्तिरस्क्रियारूपमाक्रमणं तेन कृपणैर्दीनैरत एव निर्वीर्यैर्निस्ते-
जस्कैरेभिरङ्गैर्मदीयैश्शरीरावयवैः प्रतनुमपि संस्काररचनां स्वरूपमप्यलङ्कारविकल्पं
न वहामि नैव धारयिष्यामीत्यर्थः ॥ १० ॥

टिप्पणी—अत्र राक्षसचरितस्य प्रभावातिशयस्तथा विवक्षितो यथा करुणवीरयो-
रङ्गभूतयोस्स्वपुष्टिमलभमानयोनृपसमीपस्थाततायिद्वयवन्न घात्यघातकभावो भवि-
तुमर्ह इति रसयोगः कोऽपि कवेश्चमत्करोति चेत् इति ।

जब तक समस्त शत्रु-संघ के संहारक कुमार का स्वर्ण-सिंहासन सुगाङ्ग प्रासाद में
स्थापित नहीं हो जाता, तब तक निर्वीर्य किंवा शत्रुकृत अपमानों के आघात से दीन-हीन
अपने शरीर पर, कोई भी अलंकार धारण नहीं करेगा ॥ १० ॥

कञ्चुकी—अमात्य ! आपके नेता रहते हुए कुमार के लिये यह सब बायें हाथ का
खेल है । इसलिये कुमार की यह पहले प्रार्थना मान लें ।

राक्षस—आर्य ! कुमार की आज्ञा मान ली ।
राक्षस—आर्य ! कुमार की आज्ञा मान ली ।
राक्षस—आर्य ! कुमार की आज्ञा मान ली ।

कञ्चुकी—(नाट्येन भूषणानि परिधाप्य) स्वस्ति भवते, साध-
याम्यहम् ।

राक्षसः—आर्य ! अभिवादये । (कञ्चुकी निष्क्रान्तः) प्रियंवदक !
ज्ञायतां कोऽयमस्मद्दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठति ?

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । णं अज्ज ! को तुमं (परि-
त्रम्याहितुण्डिकं दृष्ट्वा) (यदार्य आज्ञापयतीति । ननु आर्य ! कस्वम् ?)

आहितुण्डिकः—भद्र ! अहं क्खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम ।
इच्छामि अमच्चरवखसस्स पुरदो सप्पेहिं खेलिटुं (भद्र ! अहं खत्वा-
हितुण्डिको जीर्णविषो नाम । इच्छाम्यमात्यराक्षसस्य पुरतः सपैः
खेलितुम् ।)

प्रियंवदकः—चिट्ठ, जाव अमच्चस्स णिवेदेमि । अज्ज ! एसो क्खु
सप्पोवजीवी इच्छदि सप्पेहिं अमच्चस्स पुरदो खेलिटुं (तिष्ठ, यावदमा-
त्यस्य निवेदयामि । (राक्षसमुपसृत्य) । आर्य ! एष खलु सर्पापजीवी
इच्छति सपैरमात्यस्य पुरतः खेलितुम्)

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा आत्मगतम्) कथं प्रथममेव

कथं प्रथममेव सर्पदर्शनमित्यादि—राक्षसः शकुनाऽपशकुनयोः मुख्यन् दुःख्यन् वा
यद्वर्णितः ततः चाणव्यचरितान्तच्चरितस्य भेदो लक्ष्यते ।

कञ्चुकी—(आभूषणों को पहनाने का अभिनय करते हुये) मङ्गल हो अमात्य !
मैं चलता हूँ ।

राक्षस—आर्य ! प्रणाम करता हूँ (कञ्चुकी चला जाता है) प्रियंवदक !! पता
लगाओ, कौन है जो मुझ से मिलने के लिये द्वार पर खड़ा है ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा महाराज ! (घूम घूम कर, सँपेरे को देख कर) अरे, कौन
हो तुम !

सँपेरा—भाई ! मैं सँपेरा जीर्णविष हूँ । अमात्य राक्षस के सामने साँप के खेल दिखाना
चाहता हूँ ।

प्रियंवदक—ठहरो ! अमात्य से पूछने दो । (राक्षस के पास जाकर) आर्य ! यह
सँपेरा आपके सामने साँप के खेल दिखाना चाहता है ।

राक्षस—(बाई ओर को फट्कना देख कर, स्वगत) ओह ! पहले ही सर्पदर्शन !

सर्पदर्शनम् ? (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! न नः कुतूहलमस्ति सर्पदर्शने, तत् परितोष्य विसर्जयैनम् ।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदि । भद्द ! एसो क्खु दे अमच्चो अदंसणेण प्पसादं करेदि, ण उण दंसणेण (यदार्य आज्ञापयति । (परि-
क्रम्याहितुण्डिकमुपसृत्य) भद्द ! एष खलु ते अमात्योऽदर्शनेन प्रसादं करोति, न पुनर्दर्शनेन)

आहितुण्डिकः—भद्द विण्णव्वेदि मम वअणेण अमच्चं—‘ण केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं वाचेदुं प्पसीददु’ त्ति (भद्द ! विज्ञापय मम वचनेनामात्यं—‘न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहम्, तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु’) (पत्रमर्पयति)

प्रियंवदकः—(पत्रं गृहीत्वा राक्षसमुपसृत्य) अमच्च ! एसो क्खु आहि-
तुण्डिओ विण्णव्वेदि—‘ण केवलं अहं सप्पोवजीवी’ पाउअकवी क्खु अहं, मा जइ मे दंसणेण अमच्चं प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं वाचे-
दुं प्पसीददु’ त्ति (अमात्य ! एष खलु आहितुण्डिको विज्ञापयति—‘न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहम्, तस्माद् यदि मे दर्शनेना-
मात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु’ इति)

(सुना कर) प्रियंवदक ! साँप के खेल देखने की मेरी इच्छा नहीं । इसे पुरस्कार देकर विदा कर दो !

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा महाराज ! (चलते हुये, सँपेरे के पास पहुँच कर) भाई ! तुम से बिना मिले ही अमात्य तुम पर प्रसन्न हैं ।

सँपेरा—अरे भाई ! मेरे कहने से अमात्य से निवेदन कर दो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं प्राकृत का कवि भी हूँ । इसलिये यदि दर्शन देकर अमात्य कृपा न करें, तो, कम से कम, इस पत्र को पढ़ने की कृपा करें ।

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास पहुँचते हुये) अमात्य ! इस सँपेरे का कहना है कि वह केवल सँपेरा ही नहीं प्राकृत का कवि भी है और यदि अमात्य दर्शन देने की कृपा नहीं करते तो इस पत्र को पढ़ने की कृपा करें । Digitized by eGangotri

राक्षसः—(पत्रं गृहीत्वा वाचयति)—

पाऊण गिरवसेसं कुसुमरसं अत्तणो कुसलदाए ।

जं उग्गिरेइ भमरो तं अण्णाणं कुणइ कज्जं ॥ ११ ॥

(पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया ।

यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्येषां करोति कार्यम् ॥ ११ ॥)

राक्षसः—(आत्मगतम्) अये ! कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञोऽहं भवत्प्रणिधि-
श्चेति गाथार्थः । आः कार्यव्यग्रत्वान्मनसः, प्रभूतत्वाच्च प्रणिधीनां
विस्मृतम् ; इदानीं स्मृतिरुपलब्धा । व्यक्तम्, आहितुण्डिकच्छद्धानां
कुसुमपुरादागतेन विराधगुप्तेनानेन भवितव्यम् (प्रकाशम्) प्रियंवदक !

विराधगुप्तलिखितं पत्रं वाचयति राक्षसः—पीत्वेत्यादि । भ्रमर इतस्तत्स्ववर्त्र
च गन्ता दूतः आत्मनः कुशलतया तत्तच्छ्रद्धमादिधारणादिनैपुण्येन निरवशेषं यथा
स्यात्तथा सामस्त्येन कृत्याकृत्यपक्षीय-तत्तदुपजापादिकार्यसाकस्येनेति यावत्,
कुसुमरसं कुसुमपुरस्य पाटलिपुत्रस्य वोदन्तसारं पीत्वा हृदयेऽवस्थाप्य निर्धार्य
वा यदुद्गिरति यद्वक्ति वचयतीति भावस्तदन्येषां मन्त्रि-प्रवराणां केपाञ्चन कार्यं
करोति शत्रुविजयादिरूपं प्रयोजनं सम्पादयिष्यतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अत्र प्रकरणेन प्रयुक्तानां भ्रमरादिशब्दानामर्थान्तराभिधायकत्वे निय-
न्त्रितेऽपि सामाजिकानां सहृदयानां चेतसि मधुरकरकर्तृकपुष्परसपान-मधूद्गिरण-
दैवपैतृककार्यसम्पादनादिरूपो योऽयमर्थ उद्भासते यश्च प्राकरणिकाप्राकरणिकयो-
रूपमानोपमेयभावोऽपि परिस्फुरति सोऽयं व्यञ्जनाविभव इति मन्तव्यं सुधीभिः ।

कार्यव्यग्रत्वान्मनस इत्यादि—कार्यव्यग्रत्वे राक्षसस्य विस्मरणशीलतां यथाऽत्र,

राक्षस—(पत्र लेकर पढ़ता है)—

अपनी कुसलता से कुसुमरस (पुष्पमधु तथा पाटलिपुत्र के रहस्य) का निःशेष
रूप से पान कर, भ्रमर (गुप्तचर भी) जो कुछ उगलता है वह दूसरों के काम
आता है ॥ ११ ॥

(आत्मगत) अरे ! इस गाथा का, यह अर्थ है कि, 'मैं (सैंपेरा) कुसुमपुर (पाटलि
पुत्र) का वृत्तान्त जानता हूँ । ओह ! कार्यों से मन की व्यग्रता के कारण और गुप्तचरों की
भी अधिकता के कारण, भूल हो गया था । अब स्मरण आया । स्पष्ट है कि सैंपेरे के वेष
में पाटलिपुत्र से आया यह विराधगुप्त है । (प्रकट) प्रियंवदक ! भीतर आने दो इसे (यह
सुकवि है, इससे कविता सुनभी है ।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदिं त्ति । (आहितुण्डिकमुपसृत्य) उप-
सप्पदु अज्जो (यदार्य आज्ञापयतीति । उपसर्पत्वार्यः)

आहितुण्डिकः—(नाट्येनोपसृत्यावलोक्य च संस्कृतमाश्रित्य स्व-
गतम्)

अये ! अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । स एषः—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्नहितयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः ।

गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी

मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं धीः स्तनम् ॥ १२ ॥

चाणक्यस्य च दुःशीलतां यथा पूर्वत्र वर्णयन् कविस्तयोर्वैधर्म्यं निपुणमुन्नावयितुं
प्रवीण इति प्रतिभाति ।

विराधगुप्तस्सचिन्तस्य राक्षसस्य चाणक्यविजयोद्योगपरत्वमनुमिमान आह—
वामां बाहुलतामित्यादि । अये ! महोद्यमशीलोऽयममात्यराक्षसो यस्योद्यमाशङ्किनी
यस्य सन्धिविग्रहादिप्रयत्नत्रस्ता सती श्रीलक्ष्मीः वामां बाहुलतां स्वीयां वामभुज-
वर्द्धीं कण्ठे चन्द्रगुप्तस्येति शेषः, शिथिलं यथा स्यात्तथा यथाकथञ्चिन्नानुरागभरसंर-
म्भेणेति यावत् निवेश्य संस्थाप्यापि निवृत्तानना मुखं परावृत्त्यैव तिष्ठन्ती तत्कामिना
चन्द्रगुप्तेन च बलाद्वलपूर्वकमेव न स्वेच्छाप्रावृत्त्येन दक्षिणे स्वस्य (चन्द्रगुप्तस्येति)
स्कन्धे निहितया स्थापितयाऽपि मुहुवारं वारमङ्के लक्ष्म्या एव वक्षस आभोगे पत-
न्त्या स्खलितया दक्षिणया भुजलतयेति शेषः, उपलक्षिता सती मौर्यस्य चन्द्रगुप्त-
स्योरसि वक्षःस्थलेऽधुनापि वामेतरं दक्षिणं स्तनं गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यथा
स्यात्तथा न कुरुते निबिडाङ्गपालीनिर्भरं नैवार्पयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

प्रियंवदकः—जैसी आज्ञा महाराज ! (सैंपेरे के पास जाकर) आप आइये ।

सैंपेरा—(अभिनय के साथ समीप आकर संस्कृत में स्वगत) अरे ! ये अमात्य राक्षस
विराजमान हैं । ये ही वे हैं—

जिनके (नन्द-वंश की पुनः प्रतिष्ठा के लिये किये गये विजयोद्योगों से आशंकित
राजलक्ष्मी, मौर्य चन्द्रगुप्त के गले में अपनी बायीं बाहुलता धीरे से डालकर भी, मुंह फेर
लेती हैं और कन्धे पर जवर्दस्ती डाली गयी, अपनी दाहिनी बाहुलता को अपनी गोद
में गिर जाने देती है, आज भी मौर्य चन्द्रगुप्त के वक्षःस्थल पर प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गन के
आनन्दानुभव के साथ, अपना दाहिना स्तन नहीं रख सकी हैं ॥ १२ ॥

(प्रकाशम्) जअदु जअदु, अमच्चो (जयतु जयत्वमात्यः)

राक्षसः—(विलोक्य) 'अये विराध' (इत्यर्द्धोक्ते त्रिरूढस्मृतिः)
प्रियंवदक ! भुजङ्गैः इदानीं विनोदयामः, तद् विश्रम्यतां परिजनेन,
त्वमपि स्वमधिकारमशून्यं कुरु ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति (यदमात्य आज्ञापयतीति)
(सपरिवारो निष्क्रान्तः)

राक्षसः—सखे ! विराधगुप्त ! इदमासनमास्यताम् ।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्य इति (नाट्यनोपविष्टः)

राक्षसः—(सखेदं निर्वर्ण्य) अहो ! देवपादपद्मोपजीविनो जनस्येय-
मवस्था ? (इति रोदिति) ।

टिप्पणी—अत्र रतिभयाभाससंबलितः यः काव्यार्थस्तेन राक्षसविषयको नाटक-
कवेः प्रीत्युत्कर्षस्तुतरामभिव्यक्तस्सहृदयं चमत्करोतीति विभावनीयं विचक्षणैः ।

देवपादपद्मोपजीविन इत्यादि—अनया वाचोयुक्त्या राक्षसस्य चाणक्यात्मिकमपि
वैशिष्ट्यं प्रत्याख्यते । द्वावपि वीरौ किन्तु राक्षसो भावार्द्रहृदयः कविश्चाणक्यश्च
कर्मयोगीति ।

अस्ति तावदित्यारभ्य कुसुमपुरमितिपर्यन्तं यत्समस्तपञ्चपदा संघटना तथा
वक्तु-बोद्धव्ययोर्भावसंरम्भोऽपि सूक्ष्मं प्रकाशयते ।

(सुनाकर) जय हो अमात्य ! जय हो ।

राक्षस—(देख कर) अरे ! विराध ! (इतना कहते हुये, स्मरण हो आने पर)
प्रियंवदक ! अब हमें सोंपों से कुछ मन बहलाना है । परिजन विश्राम करें, तुम भी अपने
काम पर चले जाओ ।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा अमात्य !

(परिजनों के साथ बाहर निकल जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! इस आसन पर बैठो ।

विराधगुप्त—जो आज्ञा अमात्य ! (बैठने का अभिनय करते हुये) ।

राक्षस—(देख कर, खेद के साथ) ओह ! महाराज नन्द के चरणों के सेवक की ऐसी
दुर्दशा ! (होने लगता है)

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलं शोकेन, नातिचिरादमात्योऽस्मान् नूनं पुरातनीमवस्थामारोपयिष्यति ।

राक्षसः—सखे ! विराधगुप्त ! वर्णय इदानीं कुसुमपुरवृत्तान्तम् ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! विस्तीर्णः कुसुमपुरवृत्तान्तः, तदाज्ञापय—कुतः प्रभृति कथयामि ?

राक्षसः—सखे ! चन्द्रगुप्तस्य तावत् नागरप्रवेशात्प्रभृति अस्मत्प्रयुक्तैस्तीक्ष्णरसदायिभिः किमनुष्ठितमित्यादितः श्रोतुमिच्छामि ।

विराधगुप्तः—एष कथयामि । अस्ति तावत् शक-यवन-किरात-काम्बोज-पारसीक-बाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिगृहीतैश्चन्द्रगुप्त-पर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव, प्रलयकालचलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम् ।

राक्षसः—(शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रमम्) मयि स्थिते कः कुसुमपुरमुपरोत्स्यति ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! क्षिप्रमिदानीम्—

उपरुद्धमिति—परिचितमित्यर्थः । समन्तादुपरोधस्य सर्वतः प्रतिरुद्धबीजधासार-प्रसाररूपः परिज्ञेय एवार्थः कौटिलीये भाषितः (व्यसनाधिकारिकेऽधिकरणे) ।

प्रवीरकेति । साहसिकसैनिकानामन्यतमस्य संबोधनम् । न तु श्रीदुर्गिद्वाराजेन

विराधगुप्तः—आमात्य ! दुःखी न हों । अब बहुत शीघ्र अमात्य हमें हमारी पुरानी अवस्था में पहुँचा देंगे ।

राक्षसः—मित्र, विराधगुप्त ! अब पाटलिपुत्र का वृत्तान्त सुनाओ ।

विराधगुप्तः—पाटलिपुत्र का वृत्तान्त बड़ा विस्तीर्ण है । आज्ञा दें—कहाँ से कहूँ ।

राक्षसः—मित्र मुझे तो वहाँ से सुनने की इच्छा है जहाँ से, पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त के प्रवेश कर चुकने पर, हमारे द्वारा लगाये हुये तीक्ष्ण और रसद पुरुषों का कार्यारम्भ हुआ ।

विराधगुप्तः—चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सम्मिलित सेनाओं ने जिनमें चाणक्य की नीति से एकत्र की गयी शक-यवन-काम्बोज पारसीक तथा बाह्लीक प्रभृति जातिओं और देशों की सेनाएँ भी थीं, प्रलय-काल में विक्षुब्ध समुद्र की जलराशि की भाँति पाटलिपुत्र को घेर लिया ।

राक्षसः—(तलवार खींच कर, उत्तेजना के साथ) कौन है जो मेरे रहते पाटलिपुत्र घेर सकता है ! प्रवीरक ! प्रवीरक ! अबिलम्ब, तुरन्त प्राकार पर चारों ओर धनुर्धर

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम् ।
मुक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्वले दुर्वले
ते निर्यान्तु, मया सहैकमनसो, येषामभीष्टं यशः ॥ १३ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलमावेगेन । वृत्तमिदं वर्ण्यते ।

राक्षसः—(निःश्वस्य) कष्टं वृत्तमिदम् ? मया पुनर्ज्ञातं 'स एव कालो

व्याख्यातस्तदानीन्तनस्सन्निहितोऽनुचरः कश्चनान्न संबोध्यते । बलव्यसनेषु कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे यदुक्तं—'प्रतिहतहताग्रवेगयोः प्रतिहतमुग्रपातभग्नं प्रवीरपुरुषसंहतं युध्येत न हताग्रवेगमग्रपातहतप्रवीरमि'ति तदत्र स्मरणीयं सुधीभिः ।

प्राकारमिति । राक्षसः कुसुमपुरोपरोध इति श्रुतिमात्रेण समरोत्साहसंज्जुभितमानसः प्रवीरपुरुषानाह्वयन्नाह—शरासनधरैर्धानुकैः सैनिकैः क्षिप्रं सत्वरं यथा स्यात्तथा प्राकारं दुर्गस्येति शेषः, परितः समन्तात् परिक्रम्यताम् सशरासारवर्षं सञ्चर्यताम्, द्वारेषु कुसुमपुरस्येति शेषः, प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः प्रतिद्विपघटानां दुर्गावस्कन्दनायायान्तीनां शत्रुहस्तिसेनानां भेदे विघाते संहारे वा क्षमैः शक्तैर्द्विरदैरस्मदन्तावलैः स्थीयताम् द्वारसंरक्षणाय संनह्यताम्, अथ च मृत्युभयं मुक्त्वा शत्रोर्दुर्वले बले प्रहर्तुमनसः परित्यक्तस्वदेहभङ्गभयाः शत्रुबलं च तृणाय मत्वा तदुच्छेदं कर्तुकामा एकमनसो विरतान्यभावाश्शत्रुभिर्नाशकपरायणास्ते प्रवीरपुरुषा मया सह निर्यान्तु बहिर्दुर्गमायोधनाय चलन्तु येषां यशोऽभीष्टं वीरगतिरेवकाम्येत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र राक्षसहृदयावेगो विराधगुप्तवर्णिताऽमनोज्ञश्रवणजन्मा तथा वर्णितो यथा सहृदयानां चेतसि वीररसं संचारयन् कोऽपि मनोज्ञो नाट्यार्थ इवाऽत्र प्रतिभाति ।

कष्टं वृत्तमिदमित्यादि—राक्षसस्यावेगो वीरव्यभिचारी तस्य स्मृतिलोपेन करुणानुभावेनाऽहृतवेगो यदत्र वर्ण्यते तदपि नाटकहार्दमेवाविष्करोति ।

वीर सैनिक चक्र लगावें । नगर-द्वारों पर शत्रुओं की गज-सेना के संहारक हमारे गजराज खड़े कर दिये जायें, और दुर्बल शत्रुदल पर, मौत का डर छोड़, मेरे साथ एकमन होकर, प्रहार करने के लिये वे लोग बाहर निकल पड़ें जो वीर-यश के इच्छुक हैं ॥ १३ ॥

विराधगुप्त—अमात्य ! उत्तेजित न हों ! ये बीती-हुई बातें हैं ।

राक्षस—(सांस खींच कर) ओह ! यह बीती बात है । मैंने समझा वही समय है ।

वर्त्तत' इति (शस्त्रमुत्सृज्य सास्त्रम्) हा देव नन्द ! स्मरामि ते राक्षसम्प्रति-
प्रसादातिशयम् । यस्तु एवंविधकाले—

यत्रैषा मेघनीला चलति गजघटा, राक्षसस्तत्र याया-
देतत् पारिप्लवाम्भःप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन ।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां सहस्रम् ॥ १४ ॥

राक्षसो विस्मृतवृत्तवर्त्तमानभेदस्सावेगं सशोकञ्चात्मानं परामृशन्नाह—यत्रैपेति ।
हा देव नन्द ! पुरा कुसुमपुरोपरोपरोधप्रसङ्गेषु यत्र यस्मिन्समरमुखे मेघनीला मेघ-
मेदुरैषा यथा प्रत्यक्षं विभाव्यमाना गजघटा हस्तिसेना शत्रूणामिति शेषः, चलति
तत्र राक्षसो यायात् तां प्रमर्दयितुं राक्षसः प्रतिष्ठताम्, एतत् संग्रामभूमौ प्रत्यक्षं
दृश्यमानं पारिप्लवाम्भःप्लुति पारिप्लवं तरलं चञ्चलं वा यदम्भः जलं गिरिप्रस्रव-
णादेस्तस्य या प्लुतिर्द्रुतगतिस्तादृशी प्लुतिर्द्रुतगतिर्यस्यैवंभूतं तुरगबलमश्वसैन्यं
शत्रूणामिति शेषः, राक्षसेन वार्यताम्, पत्तीनां पदातीनां शत्रुसंवन्धिनीनामेवेति
शेषः, बलं सांग्रामिकं पराक्रमं राक्षस एवान्तं नयतु नाशयतु, इत्येवं रीत्या मह्यमाज्ञां
प्रेषयन् मामेव तत्र तत्र सर्वत्र नियोजयन् स्नेहयोगात् स्नेहसम्बन्धादेव हेतोरिह
नगरे पाटलिपुत्रे स्थितं विराजमानं राक्षसानां सहस्रमज्ञासीः सर्वविधकार्यसम्पादकं
सामेवामंस्था इत्यर्थः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अत्र वीर-करुणयोरैकाग्रये परस्परं विरुद्धयोरपि वृत्त-वर्त्तमानदशा-
भेदेन भिन्नप्रक्रमतयाऽवस्थितयोरविरोध एव चमत्कारास्पदम् । तथा चैतेन राक्ष-
सहृदये विरुद्धयोर्भावयोरायोधनं तथात्वेऽपि च राक्षसस्य प्रारब्धनिर्वाहप्रवणत्वं
सुसूक्ष्ममुद्भाव्यमानमन्यदेव चारुत्वं नाटकस्येति सर्वमवदातम् ।

(तलवार फेंक कर-आँखों में आँसू लिये) हा देव ! नन्द ! राक्षस को अपने प्रति आप के
स्नेह का स्मरण है । आप की आज्ञा होती थी कि जहाँ कहीं भी शत्रुओं की गज-सेना काले
बादलों की भाँति बढ़ती आ रही हो, राक्षस उसका सामना करे; जहाँ कहीं भी शत्रुओं की
अश्व-सेना समुद्र की लहरों की भाँति लहरा रही हो, राक्षस ही उसे बढ़ने से रोके; जहाँ
कहीं भी शत्रुओं की पदाति-सेना सन्नद्ध दिखायी दे, राक्षस ही उसे मार भगावे ! इस
प्रकार मेरे प्रति स्नेहाधिक्य के कारण आप यही सोचते थे कि नगर में एक नहीं हजार
राक्षस हैं ॥ १४ ॥

ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः समन्तादुपरुद्धं पुष्पपुरमवलोक्य बहुदिवसप्रभृति महदुपरोधवैशसमुपरि पौराणां परिवर्तमानमसहमाने, तस्यामवस्थायां, पौरजनापेक्षया सुरङ्गामुपेत्यापक्रान्ते तपोवनाय देवे सर्वार्थसिद्धौ, स्वामि-
विरहात् सुशिक्षितलीकृतप्रयत्नेषु युष्मद्वलेषु जयघोषणाव्याघातादिसा-
हसानुमितान्तर्नगरवासिषु; पुनरपि नन्दराज्यप्रत्यानयनाय सुरङ्गया बहि-
रपगतेषु युष्मासु, चन्द्रगुप्तनिधनाय युष्मत्प्रयुक्तया विषकन्यया घातिते
तपस्विनि पर्वतेश्वरे—

राक्षसः—सखे ! पश्याश्चर्यम्—

कर्णेनैव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता
हन्तुं शक्तिरिवाज्जुनं बलवती, या चन्द्रगुप्तं मया ।

बहुदिवसप्रभृतीत्यादि—अत्राग्रेऽपि च विराधगुप्तवचसि 'यस्य च भावेन भाव-
लक्ष्ण'मिति सप्तम्यन्तेषु पदेषु प्रयुज्यमानेषु समासतस्तत्तदर्थप्रत्यायनमेव न प्रयो-
जनं कवेरपि तु परस्परं पौर्वापर्येण बुद्धिस्थानामर्थानां कार्यकारणपरम्पराऽपि
प्रकाशमाना चमत्कृतिभूरेवेति ।

राक्षसस्त्वदुर्भाग्यविलसितमेव सविस्मयं चिन्तयन्नाह—कर्णेनैवेत्यादि । अहो !

आगे कहो ।

विराधगुप्तः—उसके बाद, जब कि पाटलिपुत्र को चारों ओर से घिरा देख, महाराज
सर्वार्थसिद्धि अपनी प्रजापर पड़ी बहुत दिनों तक चलने वाली घेरे की दारुण विपत्ति न सह
सकने के कारण, नागरिकों की सुरक्षा की दृष्टि से उस दुर्दशा में ही, सुरङ्ग के रास्ते, तपोवन
में भाग निकले; महाराज की अनुपस्थिति में आपकी सेनाओं के युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्न ढीले
पड़ गये; चन्द्रगुप्त की विजय की घोषणा में किये गये साहसिक उपद्रवों से अपने समर्थक
नागरिकों का राजधानी में रहना जानकर, नन्दराज्य के पुनः प्रतिष्ठापन के लिये आप
भी सुरङ्ग-मार्ग से नगर के बाहर निकल आये और जब कि चन्द्रगुप्त को मारने के लिये
आप के द्वारा निवृत्त विषकन्या से बेचारा पर्वतेश्वर (पर्वतक) मार डाला गया—

राक्षसः—मित्र ! आश्चर्य की बात देखो—

मैंने विषकन्या को, एक ही व्यक्ति अर्थात् चन्द्रगुप्त को मारने के लिए, उसी प्रकार
रख छोड़ा था जिस प्रकार कर्ण ने, अर्जुन को मारने के लिये, अपने प्रबल अंश

सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहृत्कस्यात्यन्तिकश्रेयसे
हैडिम्बेयमिवैत्य पर्वतनृपं तद्वध्यमेवावधीत् ॥ १५ ॥

तुदैवाश्चर्यम् ? मया कर्णेनेव चन्द्रगुप्तमर्जुनमिव हन्तुं व्यापादयितुं या बलवती
समर्था तथा चैकपुरुषव्यापादिनी प्रधानतमपुरुषहन्त्री विपाङ्गना विपकन्या शक्ति-
रिव शक्रप्रदत्तहेतिरिव रक्षिता महता मनोरथेन निपुणं निगूढं स्थापिता सा खलु
विष्णुगुप्तहृत्कस्य चाणक्यघटोर्विष्णोरिवात्यन्तिकश्रेयसे महते कल्याणाय चाणक्य-
पक्षे परिपणितराज्यार्द्धाप्रदानाय कृष्णपक्षे चाऽर्जुनरक्षणाय तद्वध्यं चाणक्यघात्य-
मेव पर्वतनृपं पर्वतकं हैडिम्बेयमिव घटोत्कचमिवैत्य प्राप्यावधीत् विनाशितवती-
त्यर्थः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र चाणक्यस्य प्राप्त्याशा राक्षसप्राप्त्याशाभङ्गद्वारा सूच्यते
नाटककृता ।

(२) अत्र यद्यपि राक्षसकर्णादीनां प्राकरणिकाऽप्राकरणिकानां परस्परं साधर्म्यं
वर्ण्यमाने पूर्णोपमालङ्कारः सिद्ध एव किन्तु राक्षसोऽत्र कविनिबद्धवक्ता कथं चाण-
क्यहृत्कं विष्णुनोपमातुमिच्छतीति भवति किञ्चिद्वैधट्यं राक्षसचरितस्य । समाधानं
त्वत्रैवम्—न प्रत्येकं प्राकरणिकपदार्थाऽप्राकरणिकपदार्थयोस्साधर्म्यमत्र विवक्षित-
मपि तु प्राकरणिकवृत्ताऽप्राकरणिकवृत्तयोरेव तत्तच्चरितसंगतयोरिति ।

ततः पितृवधत्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरादित्यारभ्य ज्वलनमुपगता उपरताश्चेत्य-
न्तो यस्सन्दर्भस्तत्र राक्षसचाणक्ययोः परस्परविजिगीषापरायणयोर्मन्त्रद्वन्द्वं कयाचन
महत्याऽहमहमिकया प्रवर्त्तमानं यद् वर्णयति कविर्यच्चान्न नगररोध-यन्त्र-सुरङ्गा-
दिव्यापारांश्चोपनिबध्नाति तत्सर्वं नारक्षकमपि तु निकाममेव रक्षकमिति नाङ्का-
निबन्धनीयत्वाशङ्कावसरः कश्चन । नाटककविना रसनीयत्वेन विवक्षिता द्वेऽर्थौ
अत एव न विष्कम्भकादिनैषामुपपादनमत्रेति निरूपणीयं मतिमद्भिः । प्रयोजना-
न्तरञ्चास्य—तच्च राक्षसाशाविधातपूर्वकं चाणक्याशाविजयप्रदर्शनमिति । कवे-
रप्यत्र राजनयप्रयोक्तृत्वं स्पष्टं प्रतीयन्ति सन्तः । नायं नाटककविर्माधवमहाकविरिव-

विरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव ब्रजम् ।

उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विपः ॥

‘शक्ति’ को रस छोड़ा था । किन्तु उस विपकन्या ने, उसी प्रकार दुष्ट चाणक्य के
आत्यन्तिक कल्याण के लिए, चाणक्य के द्वारा मारे जाने वाले पर्वतेश्वर को मार
डाला, जिस प्रकार कर्ण की शक्ति ने, कृष्ण के आत्यन्तिक कल्याण के लिये, कृष्ण के
द्वारा मारे जाने वाले हैडिम्बेय अर्थात् घटोत्कच को मार डाला ॥ १५ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! देवस्यात्र कामचारः किमत्र क्रियते ?

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः पितृवधपरित्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरात् कुमार मलयकेतौ, विश्वासिते च पर्वतकभ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते च चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशे, चाणक्यहतकेनाहूयाभिहिताः कुसुमपुरनिवासिनः सर्वे एव सूत्रधाराः—‘यथा सांवत्सरिकवचनादद्यैवार्धरात्रसमये एवाभिमतः चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति, ततः प्रथमद्वारात्प्रभृति संस्क्रियतां राजभवनम्’ इति । ततः सूत्रधारैरभिहितम्—‘आर्य ! प्रथममेव देवस्य चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशमुपलभ्य सूत्रधारेण दारुवर्मणा कनकतोरणन्यासादिभिः संस्कारविशेषैः संस्कृतं प्रथमराजद्वारम् । इदानीमस्माभिरभ्यन्तरे संस्कारो विधेयः’ इति । ततश्चाण-

इतिरूपां कौटिलीयार्थशास्त्राचाराभ्यासवैदग्धीं प्रकाशयत्यपि तु निपुणं स्वस्य परेषां वा स्वकालवर्तिनां मन्त्रयोधानां मन्त्रयोधनं ध्यायं ध्यायं तद् वक्ति यत्प्रतिभाविशेषप्रसृतं सदसपरिपोषपेशलमिव भवति ।

विराधगुप्त—यह तो भाग्य की विडम्बना है, अमात्य ! हम-आप इसमें क्या कर सकते हैं ।

राक्षस—आगे क्या हुआ ?

विराधगुप्त—जब कि अपने पिता (पर्वतेश्वर) की हत्या से घबड़ा कर, कुमार मलयकेतु पाटलिपुत्र से भाग खड़ा हुआ, पर्वतक का भाई वैरोचक शत्रुओं के द्वारा समझा-भुशाकर शान्त कर दिया गया, और सम्राट् नन्द के राजभवन में चन्द्रगुप्त के गृह-प्रवेश से सभी सूचित कर दिये गये । दुष्ट चाणक्य ने ज्योतिषियों की गणना के अनुसार, आधी रात के समय नन्दभवन में चन्द्रगुप्त के गृह-प्रवेश के उपलक्ष्य में, प्रथम द्वार से आरम्भ कर अन्त तक राजद्वार की सजावट के लिए पाटलिपुत्र के सभी कारीगरों को आज्ञा दे दी ।

तब कारीगरों ने कहा—‘आर्य ! महाराज चन्द्रगुप्त के नन्दभवन में प्रवेश का समाचार जान, कारीगर दारुवर्मा ने, पहले से ही, स्वर्ण-तोरण-निर्माण प्रभृति की विशेष सज्जियों से प्रथम सजावट की सजावट की है । अब द्वारों के भीतर भागों में सजावट करने वाले हैं’ । इसके बाद दुष्ट चाणक्य ने ‘विना मेरे आदेश के ही दारुवर्मा

क्यवदुना 'अनादिष्टेनैव दारुवर्मणा संस्कृतं राजभवनद्वारमिति परितुष्टेन, दारुवर्मणः सुचिरं दाक्ष्यमभिनन्द्याभिहितम्—'अचिरादस्य दाक्ष्यस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि दारुवर्मन् !'

राक्षसः—(सोद्वेगम्) सखे ! कुतश्चाणक्यवटोः परितोषः ? । अफल-मनिष्टफलं वा दारुवर्मणः प्रयत्नमवगच्छामि । यदनेन बुद्धिमोहादथवा राजभक्तिप्रकर्षान्नियोगकालमप्रतीक्षमाणेन सञ्जनितश्चाणक्यवटोश्चेतसि बलवान् विकल्पः । ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततश्चाणक्यहृत्केन अनुकूललभ्यवशादद्यार्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति शिल्पिनः पौरांश्च गृहीतार्थान् कृत्वा तस्मिन्नेव क्षणे पर्वतेश्वरभ्रातरं वैरोचकमेकासने चन्द्रगुप्तेन सहोपवेश्य कृतः पृथ्वीराज्यार्द्धभागः ।

राक्षसः—किमतिसृष्टं पर्वतेश्वरभ्रात्रे वैरोचकाय पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यार्द्धम् ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

ने राजभवन का द्वार सजा दिया'—यह सोच कर, मन ही मन, प्रसन्न होते हुए दारुवर्मा के कलाकौशल की बड़ी देर तक प्रशंसा की और कहा—'दारुवर्मा ! बहुत शीघ्र तुम्हें इस कलाकौशल के योग्य फल मिल जायगा ।'

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) मित्र ! इससे, चाणक्य क्यों कर प्रसन्न होने लगा । मुझे तो लगता है कि दारुवर्मा के प्रयत्न निरर्थक अथवा अनर्थकर हुए, क्योंकि मूर्खतावश अथवा राजभक्ति के आवेश में, दारुवर्मा ने निर्दिष्ट समय की प्रतीक्षा न करके, दुष्ट चाणक्य के मन में बड़ा भारी सन्देह उत्पन्न किया । आगे क्या हुआ ?

विराधगुप्त—उसके बाद दुष्ट चाणक्य के द्वारा, सभी नागरिक कलाकार इस बात से अवगत करा दिये गये कि शुभ लग्न के अनुसार, आधी रात के समय नन्द-भवन में चन्द्रगुप्त का गृहप्रवेश होगा और पर्वतक के भाई वैरोचन को, चन्द्रगुप्त के साथ, एक ही राजसिंहासन पर बैठाकर, साम्राज्य के दो भाग कर दिये गये ।

राक्षस—तो क्या, पर्वतक के भाई वैरोचक को, पहली सन्धि के अनुसार, आध राज्य दे दिया ।

विराधगुप्त—और क्या ?

राक्षसः—(आत्मगतम्) नियतमतिधूर्तवदुना तस्यापि तपस्विनः कमप्युपांशुवधमाकलय्य पर्वतेश्वरविनाशजनितस्यायशसः परिहारार्थमेवा लोकप्रतिपत्तिरुपचरिता । (प्रकाशम्) ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः प्रथममेव प्रकाशिते चन्द्रगुप्तस्यार्धरात्रे नन्दभवनप्रवेशे, कृताभिषेके च वैरोचके, विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितचित्रपटवारबाणप्रच्छादितशरीरे, मणिमयमुकुटनिविडनियतरुचिरतरमौलौ, सुरभिकुसुमदामवैकक्षिकावभासितविपुलवक्षःस्थले, परिचिततमैरप्यनभिज्ञायमानाकृतौ चाणक्यहतकादेशाच्चन्द्रगुप्तोपवाह्यां चन्द्रलेखाभिधानां गजवशामारुह्य, चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेन अनुगम्यमाने, जवेन देवस्य नन्दस्य भवनं प्रविशति वैरोचके, युष्मत्प्रयुक्तेन सूत्रधारेण दारुवर्मणा, चन्द्रगुप्तोऽयमिति मन्यमानेन वैरोचकस्योपरि निपातनाय सज्जीकृतं यन्त्रतोरणम् । अत्रान्तरे बहिर्निगृहीतवाहनेषु स्थितेषु चन्द्रगुप्तानुयायिषु भूमिपालेषु, युष्मत्प्रयुक्तेनैव चन्द्रगुप्तनिषादिना वन्वरेकेण, कनक-

राक्षस—(स्वगत) अवश्य ही, महादुष्ट चाणक्य ने, उस बेचारे के लिये भी कोई गुप्तवध सोच कर, पर्वतेश्वर के वध से उत्पन्न अपयश के परिहार के उद्देश्य से, लोगों पर विश्वास जमाने के लिए राज्य के विभाजन की चाल चली । (प्रकट में) आगे कहो ।

विराधगुप्त—जब कि सब लोग अर्द्धरात्रि में ही चन्द्रगुप्त के नन्द भवन-प्रवेश की बात से अवगत करा दिये गये, वैरोचक का बनावटी राज्याभिषेक कर दिया गया और वैरोचक जिसका शरीर निर्मल मौक्तिकों की लम्बी लटकती मालाओं से खचित रंग-विरंगे चोले वाले कवच से ढका था, जिसका मस्तक मणियों से बने मुकुट से कस कर बँधे होने से बड़ा सुन्दर लग रहा था, जिसका विशाल वक्षःस्थल सुगन्धित पुष्प-मालाओं से बने वैकक्षक अर्थात् दोनों कन्धों से तिरछा लटकने वाले पुष्पहार से सुशोभित था और जिसकी आकृति अत्यन्त परिचित लोग भी नहीं पश्चान पा रहे थे, जब कि दुष्ट चाणक्य के आदेश से, चन्द्रगुप्त की खास हथिनी चन्द्रलेखा पर बैठकर चन्द्रगुप्त के ही पृष्ठगामी राजगण के आगे-आगे चलते नन्द-भवन में शीघ्रता से प्रवेश करने लगा और आपके द्वारा नियुक्त शिल्पकार दारुवर्मा ने उसे ही चन्द्रगुप्त समझ कर, उस पर गिराने के लिये, स्वर्णतोरण का घातक यन्त्र संभाला और ऐसा देख चन्द्रगुप्त के आगामी राजगण ने अपने-अपने बाह्य बाहर ही रुक लिये और आपके द्वारा नियुक्त चन्द्रगुप्त के हाथीवान

दण्डान्तर्निहितामसिपुत्रिकामाकृष्टकामेन अवलम्बिता करेण कनकशृ-
ङ्खलावलम्बिनी कनकदण्डिका ।

राक्षसः—उभयोरप्यस्थाने यत्नः । ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—अथ जघनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा राजवधूपतिजवनतया
गत्यन्तरमारुढवती । ततः प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन प्रभ्रष्टलक्ष्यं
पतता यन्त्रतोरणेनाकृष्टकृपाणोन्मथपाणिरत्नासादयन्नेव चन्द्रगुप्तप्रत्या-
शया वैरोचकं, दारुवर्मणा हतस्तपस्वी वर्वरकः । ततो दारुवर्मणा,
यन्त्रतोरणनिपातनादात्मवधमाकलय्य शीघ्रमेवोत्तुङ्गतोरणस्थानमारुढेन
यन्त्रघट्टनवीजलोहकीलमादाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचकः ।

राक्षसः—कष्टम् ! अनर्थद्वयमापतितम् ; न हतश्चन्द्रगुप्तोऽसौ, हतौ
वैरोचकवर्वरकौ ! (सावेगमात्मगतम्) न तावुमौ हतौ, दैवेन वयमेव
हताः । (प्रकाशम्) अथ स सूत्रधारो दारुवर्मा क ?

विराधगुप्तः—वैरोचकपुरःसरेण पदातिलोकेन लोष्टघातं हतः ।

वर्वरक ने, सोने की छड़ी के भीतर छिपी कटार निकालने के लिये, सोने की जंजीर से
लटकती सोने की छड़ी की मूँठ पकड़ ली । और.....

राक्षस—दोनों ने बेमौके काम किये । आगे चलो ।

विराधगुप्त—इसके बाद अपनी आँखों पर चोट पड़ने की आशङ्का से, उस हथिनी
ने बहुत शीघ्रता से, अपनी चाल बढ़ायी । और दारुवर्मा ने उसकी पहली चाल के
अनुमान से उस पर गिराये गये उस स्वर्ण-तोरण के यन्त्र से ठीक निशाना चूक जाने
के कारण चन्द्रगुप्त समझे हुये वैरोचक को न पाकर, कटार पकड़ने में दोनों हाथ
फंसाये बेचारे वर्वरक को ही मार डाला । तब दारुवर्मा ने तोरण-यन्त्र के गिराने के
अपराध में अपने लिये प्राणदण्ड की अवश्यंभाविता देख, शीघ्रता के साथ ऊँचे तोरण के
ऊपर पहुँचकर उसकी जड़ में लगी लोहे की कील उखाड़ कर उसीसे हाथी पर बैठे
बेचारे वैरोचक को मार दिया ।

राक्षस—बड़े, दुःख की बात है ! दो-दो अनर्थ हो गये ! चन्द्रगुप्त मारा नहीं गया,
उल्टे वैरोचक और वर्वरक मरे ! (स्वगत, आवेग के साथ) ये दोनों नहीं मारे गये,
दुर्भाग्य ने हमें ही मार डाला (सुनाकर) अब, वह शिल्पकार दारुवर्मा कहाँ है ?

विराधगुप्त—वैरोचक के पीछे पैदल चलने वाले लोगों ने ही उसे ढेले मार मार कर
मार दिया ।

राक्षसः—(सास्त्रम्) कष्टम् ! अहो ! वत्सलेन सुहृदा दारुवर्मणा
वियुक्ताः स्मः । अथ तत्रत्येन भिषजाऽभयदत्तेन किमनुष्ठितम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! सर्वमनुष्ठितम् ।

राक्षसः—(सहर्षम्) किं हतो दुरात्मा चन्द्रगुप्तः ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! दैवान्न हतः ।

राक्षसः—(सविषादम्) ततः किमिदानीं कथयसि परितुष्टः—
'सर्वमनुष्ठितम्' इति ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! कल्पितमनेन विषचूर्णमिश्रमौषधं चन्द्रगुप्ताय ।
तच्च प्रत्यक्षीकुर्वता चाणक्यहतकेन कनकभाजने वर्णान्तरमुपगतमुप-
लभ्याभिहितश्चन्द्रगुप्तः—'वृषल ! सविषमिवौषधं न पातव्यम्' इति ।

राक्षसः—शठः खल्वसौ वटुः । अथ स वैद्यः कथम् ?

विराधगुप्तः—स खलु वैद्यस्तदेवौषधं पायित उपरतश्च ।

राक्षसः—(सविषादम्) अहह ! महान् विज्ञानराशिरुपरतः । भद्र !
अथ तस्य शयनाधिकृतस्य प्रमोदकस्य किं वृत्तम् ?

राक्षस—(आँसू भरी आँखों से) बड़े दुःख की बात है ! ओह ! परम स्नेही दारुवर्मा
से भी हम विछुड़ गये ! अच्छा, वहीं विद्यमान वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्त—अमात्य ! सब कुछ किया ।

राक्षस—(प्रसन्न होकर) क्या नाँच चन्द्रगुप्त मार डाला गया !

विराधगुप्त—अमात्य, अपने भाग्यवश नहीं मारा गया !

राक्षस—(दुःखित होकर) तब क्या प्रसन्न होकर कह रहे हो कि सब कुछ किया !

विराधगुप्त—अमात्य ! चन्द्रगुप्त को मारने के लिये इसने विष मिली औषध बनायी
थी, किन्तु दुष्ट चाणक्य ने, सोने के बर्तन में उसका रंग बदलता देख कर, चन्द्रगुप्त से
कहा ?—वृषल ! विष मिली सी यह औषध है इसे न पीना ।

राक्षस—बड़ा दुष्ट है चाणक्य ! बताओ, उस वैद्य पर क्या वीती ?

विराधगुप्त—उसे वह औषध पीनी पड़ी और जान से हाथ धोना पड़ा ।

राक्षस—(विषण्णता के साथ) ओह ! इतना बड़ा वैज्ञानिक मर गया । अच्छा
भाई ! यह बताओ कि शयन-कक्ष में, चन्द्रगुप्त को मारने के लिये नियुक्त प्रमोदक का
क्या हाल रहा ?

विराधगुप्तः—आत्मविनाशः ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमिव ?

विराधगुप्तः—स खलु मूर्खस्तं युष्माभिरतिस्रष्टुं महान्तमर्थराशिम-
वाप्य महतो व्ययेनोपभोक्तुमारब्धवान् । ततः 'कुतोऽयं भूयान् धनाग-
मस्तव' इति प्रच्छद्यमानोऽयं यदा वाक्यभेदान् बहूनकथयत्, तदा
चाणक्यहतकदेशाद् विचित्रेण वधेन व्यापादितः ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमत्रापि वयमेवोपहता दैवेन ? अथ शा-
तस्य चन्द्रगुप्तस्य शरीरे प्रहर्तुमस्मत्प्रयुक्तानां नरपतिशयनगृहस्यान्त-
सुरङ्गायां निवसतां बीभत्सकादीनां को वृत्तान्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! दारुणो वृत्तान्तः ।

राक्षसः—(सावेगम्) कथं दारुणो वृत्तान्तः, न खलु विदिताः ते
तत्र निवसन्तः चाणक्यहतकेन ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षसः—कथमिव ?

विराधगुप्त—आत्मविनाशः ।

राक्षस—(उद्वेग में आकर) ऐं ! कैसे ?

विराधगुप्त—वह ऐसा मूर्ख निकला कि जो भी धनराशि आपसे उसे मिलती गयी कि
वह उसे लुटाने लगा और मौज उड़ाने लगा और जब उससे यह पूछा जाने लगा कि
इतना धन कहाँ से आया, तो उलटी-सीधी बातें बनाने लगा और तब दुष्ट चाणक्य के
उपदेश से, उसे विचित्र ढंग से मार डाला गया ।

राक्षस—(उद्विग्न होते हुए) ओह ! यहाँ भी दुर्भाग्य ने हमें ही मार डाला ।
अच्छा, सोते में चन्द्रगुप्त को मारने के लिये हमारे द्वारा नियुक्त बीभत्सक आदि का क्या
हाल है जो शयनागार की भीतरी सुरंग में छिपे थे ।

विराधगुप्त—उनका बुरा हाल हुआ, अमात्य ।

राक्षस—(आवेश में आकर) क्योंकर बुरा हाल हुआ ! क्या इत्यारे चाणक्य ने वहाँ
छिपे हुए भी उन्हें देख लिया ?

विराधगुप्त—ऐसा ही हुआ ।

राक्षस—कैसे ?

विराधगुप्तः—प्राक् चन्द्रगुप्तप्रवेशात् प्रविष्टमात्रेणैव शयनगृहे चाणक्येन दुरात्मना समन्तादवलोकितः, ततस्तु एकस्माद् भित्तिच्छिद्राद्-गृहीतभक्तावयवां निष्क्रामन्तीं पिपीलिकापङ्क्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद्-गृहमिति गृहीतार्थेन दाहितं तदन्तःशयनगृहम् । तस्मिंश्च दह्यमाने धूमावरुद्धदृष्टयः प्रथममपिहितनिर्गमनमार्गमनधिगम्य सर्वे एव बीभत्सकादयस्तत्रैव ज्वलनमुपगता उपरताश्च ।

राक्षसः—(सास्रम्) सखे ! पश्य, चन्द्रगुप्तस्य दैवसम्पदा सर्व एव उपरताः (सचिन्तम्) सखे ! दैवसम्पदं पश्य दुरात्मनश्चन्द्रगुप्तहत-कस्य । कुतः ?

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात् पर्वतकस्तया विनिहता यस्तस्य राज्यार्द्धभाक् ।

राक्षसः स्वमन्त्रप्रयोगवैयर्थ्यं मुहुः पर्यालोचयन् दैवमेवाधिष्णिपन्नाह—कन्येत्यादि । हन्त ! दुर्भाग्यं ममातः परं किं भविता, यत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य वधायोपांशु-घाताय या विषमयी कन्या मया गूढं प्रयुक्ता व्यापारिता तथा दैवात् चन्द्रगुप्तस्य सौभाग्यान्मम दौर्भाग्याद्वा स पर्वतकः विनिहता व्यापादितो यस्तस्य सौर्यस्य राज्यार्द्धभाक् यथासन्धिपरिपणं राज्यार्द्धग्रहीताऽर्द्धराज्याधिकारीति वा यावत् ।

विराधगुप्त—ऐसे कि चन्द्रगुप्त के प्रवेश करने के पहले ही दुष्ट चाणक्यने शयनागार में प्रवेश किया और इधर-उधर देखा । वस, जैसे ही दीवार के एक छेद से चावल के कणों को दोती हुई चीटियों की बाहर निकलती कतार पर उसकी दृष्टि पड़ी, उसने ताड़ लिया कि कुछ लोग वहाँ छिपे हुये हैं और उसे शयनागार के भीतर आग लगा दी । उसके जल उठने पर, बीभत्सक प्रभृति सभी लोग, धुएँ से भरी आंखें लिये, पहले से बाहर निकलने का खुला रास्ता न पाकर, आग में जल गये और मर गये ।

राक्षस—(आँसू भरी आंखों से) विराधगुप्त ! देखो चन्द्रगुप्त की भाग्यसम्पत्ति से सब के सब मारे गये ! (कुछ चिन्तित होते हुए) मित्र दुष्ट चन्द्रगुप्त की भाग्य सम्पत्ति देखो—

जिस विषकन्या को, इतने रहस्यमय ढंग से, मँने, उसे मारने के लिये लगाया था, उससे उस पर्वतक का ही प्राण गया जिसे आधे राज्य का अधिकारी होना था ! और जो जो लोग जिन-जिन धातक यन्त्रों और धातक रसों के प्रयोग से, उसे मारने के लिये लगे

ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्ते रसिज्ञे ग्राहिता

मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रयांसि मे नीतव्यः ॥ १६ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! तथापि प्रारब्धमपरित्याज्यमेव । पश्यतु—

प्रारब्धते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विध्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विग्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः

प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥ १५ ॥

अपि च—

किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि ? क्षमां न क्षिपत्येष यत् ,

अन्यच्च हन्त ! ये गूढपुरुषाः शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहिताः सौर्यघाताय तेषु तेषूपायेषु
नियोजितास्ते तैरवोपायैर्विपर्यस्तैस्सन्निर्घातिता विनाशिताः, दैवादेवेति शेषः, मे
नीतयः मदीयाः कूटप्रयोगाः मन्त्रयुद्धप्रयोगा वा सौर्यस्यैव विविधश्रेयांसि भूयांसि
भूयोविधानि च मङ्गलानि फलन्तीति पश्य त्वमिति शेष इत्यर्थः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अत्र विपादः प्रतिकूलदैवचिन्तनादिजन्यो यद्यपि वीररसस्य विरोधी तथापि विचार्य विनिवेशितस्तत्पारतन्त्र्यमेव भजमानः किमप्यौत्सुक्यं तदौपयिक-मुद्राट्यतीति सर्वमवदातम् ।

प्रारम्भ इत्यादि—श्लोकार्थस्तु निगदव्याख्यातः । किन्त्वनया वाचोयुक्त्या
राक्षसस्य नीतिविषयकोत्साहमुत्तेजयति कविरयमिति न विस्मर्त्तव्यं सुधीभिः ॥

विराधगुप्तः राज्ञसं भूयोऽभियोगायोत्साहयन्नाह—किं शेषस्येत्यादि । किं शेषस्य

रहे, उन की उन्हीं-उन्हीं से जान गयी ! ऐसा लगता है, मानो मेरी सभी चालें चन्द्रगुप्त का ही कल्याण कर रही हैं ॥ १६ ॥

विराधगुप्त—अमात्य ! अब चाहे जो कुछ भी हो, जिस काम को आपने हाथ में लिया है उसे आपको पूरा ही करना है क्योंकि—

‘आप सरीखे महापुरुष जिस काम को हाथ में लेते हैं उसे, विघ्न-बाधाओं के पड़ते रहने पर भी पूरा करके ही छोड़ते हैं ! वे लोग गध्यम श्रेणी के होते हैं जो प्रारम्भ किये काम को विघ्नबाधा पड़ते ही, छोड़ देते हैं। और वे लोग, जो विघ्नबाधा के डर से काम ही नहीं आरम्भ करते, नीच कहे जाते हैं ॥ १७ ॥

और भी,

क्या पृथिवी के भार-वहजन से शेषनाग का शरीर व्यथित नहीं होता कि वह उसे उतार नहीं लेता? क्या विशाल-गतिशील रहने में सूर्य को परेशान नहीं होता कि

किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेः ? आस्ते न यन्निश्चलः ।

किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन् कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते,
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥ १८ ॥

राक्षसः—सखे ! प्रारब्धमपरित्याज्यमिति प्रत्यक्षमेवैतद्भवताम् ।
ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः प्रभृति चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्तस्य शरीरे सहस्रगुण-
मप्रमत्तः एभ्य एव ईदृशं भवतीत्यन्विष्य निगृहीतवान् कुसुमपुरनिवा-
सिनो युष्मदीयानाप्तपुरुषान् ।

भूभारस्य धारयितुर्नागराजस्य वपुषि शरीराभोगे भरव्यथा भूभारधारणजन्या क्लान्तिर्न भवति यदेयः क्षमां न क्षिपति पृथ्वीं न पातयति ? किं वा दिनपतेस्सूर्यस्य लोकत्रयसन्तमसस्य निवारयितुः परिश्रमो नास्ति यत्स निश्चलो नास्ते विरता-
यासो न भवितुमिच्छति ? वस्तुतस्तु भवत्येव शेषस्य भूभारवहनव्यथा, सूर्यस्य च संतमसनिवारणायासः, किन्तु प्रतिपन्नवस्तुषु कर्त्तव्येषु कार्येषु निर्वाहोऽङ्गीकारपरि-
पालनं यदेतद्धि, सतां, न लब्धजन्मनामपि तु जन्म सफल्यतां महतां गोत्रव्रतम् कुलधर्मः कुलक्रमागताचारो वा । अत एव श्लाघ्यो जनः सफलजन्मा मानवोऽङ्गीकृतं कर्त्तव्यत्वेन स्वीकृतं यत्किञ्चन कृपणवत् प्राकृतजनवदुत्सृजन् निर्वाहन् लज्जतेऽपन्न-
पत एवेति भावः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—अत्र सतामेतद्धि गोत्रव्रतमित्यस्य प्रकृतस्य समर्थनार्हस्य सामान्यस्य किं शेषस्येत्यादिना समर्थकेन विशेषेण समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो योऽयमुपनिबद्ध-
स्तेन राक्षसः शेषवत्सूर्यवद्वा प्रतिपन्नं वस्तु यथापूर्वमुवाह तथैवाग्रेऽपि बोधैवेति वस्तु व्यज्यते ।

वह निश्चल नहीं बैठ जाता ! किन्तु श्लाघ्यचरित व्यक्ति, हाथ में लिये काम को, नाँच लोगों की भाँति, अधूरा छोड़ने में लज्जित होता है क्योंकि आरम्भ किये गये कार्य का निभाना ही महापुरुषों का कुलक्रमागत धर्म है ॥ १८ ॥

राक्षस—मित्र ! तुम तो जानते ही हो कि मैंने जो काम हाथ में ले रखा है उसे छोड़ नहीं रहा । आगे क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तभी से लेकर, दुष्ट चाणक्य, चन्द्रगुप्त की शरीर-रक्षा से अत्यधिक सतर्क बन गया है और इन-इन लोगों से ऐसा-येसा कार्य हो सकता है इसका पता लगा कर अग्रे विचारणा पाटलिपुत्र के आचार्य की ओर कर रहा है ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) वयस्य ! कथय, कथय के के निगृहीताः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! आदावेव तावत् क्षपणको जीवसिद्धिः सन्नि-
कारं नगरान्निर्वासितः ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) एतावत् सङ्घं, न निष्परिग्रहं स्थानपरिभ्रंशः
पीडयिष्यति । (प्रकाशम्) सखे ! कमपराधमुद्दिश्य निर्वासित एषः ?

विराधगुप्तः—‘एष दुरात्मा राक्षसप्रयुक्तया विपकन्यया पर्वतेश्वरं
घातितवान्’ इति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु कौटिल्य ! साधु ।

स्वस्मिन् परिहृतमयशः पातितमस्मासु घातितोऽर्धराज्यद्वरः ।

एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥ १९ ॥

राक्षसस्सवैलक्ष्यं साभ्यसूयञ्च चाणक्यं सफलनयं शृण्वन् तत्पराभवं च निपुणं
मनसि चिन्तयन्भावनारूढं तमेव सम्बोधयन्नाह—परिहृतमित्यादि । अये कौटिल्य !
यस्य तवैकमपि नीतिबीजं मत्प्रयुक्तविपकन्योपजापरूपं बहुफलतां बहूनि मौर्य-
रक्षण-पर्वतकवध-प्रतिश्रुतराज्याद्धाऽप्रदानादिरूपाणि फलानि यस्य तस्य भाव-
स्तत्ता तां फलाढ्यतामित्यर्थः, एति प्राप्नोति तेन त्वयाऽस्मास्वयशः पर्वतकवात-
कत्वरूपमिति यावत्, पातितं पङ्कप्रक्षेपणमिव प्रक्षिप्तम् । स्वस्मिन् वस्तुतः पापाचारे

राक्षस—(उद्विग्न होते हुये) विराधगुप्त ! बताओ, किन-किन को पकड़ा है !

विराधगुप्त—अमात्य ! सब से पहले तो क्षपणक जीवसिद्धि है जिसे अपमान के साथ
पाटलिपुत्र से निर्वासित कर दिया गया है ।

राक्षस—(स्वगत) इतना तो सहन किया जा सकता है क्योंकि देशनिर्वासनसे,
जीवसिद्धि को, जिसके बाल-बच्चे नहीं, बहुत कष्ट नहीं होगा । (सुनाकर) मित्र ! किस
अपराध में उसे देशनिर्वासन का दण्ड दिया गया है ?

विराधगुप्त—इस अपराध में कि इसी ने राक्षस द्वारा प्रयुक्त विपकन्या से पर्वतेश्वर
की हत्या करायी है ।

राक्षस—(स्वगत) वाह कौटिल्य वाह ! एक ओर तो तुमने बड़ी सफाई से अपने
सिर पर से हत्या का कलङ्क हटाया और दूसरी ओर सारा पाप मुझ पर लाद दिया !
आधे राज्य का अधिकारी, अलग, मारा गया ! तुम्हारी नीति के एक ही बीज से अनेकों
फल निकल आये ॥ १९ ॥

(प्रकाशम्) ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः 'चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमनेन व्यापारिता दारुव-
मार्दव्य' इति नगरे प्रख्याप्य शकटदासः शूलमारोपितः ।

राक्षसः—(साक्षम्) हा सखे ! शकटदास ! अयुक्तस्तवायमीदृशो
मृत्युः !! अथवा, स्वाम्यर्थमुपरतो न शोच्यस्त्वमसि ; वयमेवात्र शोच्याः,
ये नन्दकुलविनाशोऽपि जीवितुमिच्छामः ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्वाम्यर्थ एव साधयितव्यः इति प्रयतसे ।

राक्षसः—सखे !—

स्वात्मनि तदयशः पर्वतकवयरूपमेवेति यावत्, परिहृतं निवारितम् । अथ चार्द्ध-
राज्यहरः भवत्प्रतिश्रुतराज्यार्द्धभाक् पर्वतकोऽपि यातितः मारित एव । भवतु,
भवतु तथापि मैवं मंस्था राक्षसो वशीकृत इति शेष इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अत्र तैस्तैर्व्याख्याकर्तृभिर्विना रसभावविमर्शं योऽचरार्थोऽभिहितस्स
तु कविहृदयवाह्य इति न खण्डनायोद्धृतः । अत्र स्वगतं चाणक्यसाफल्यं चिन्त-
यितुः राक्षसस्योत्साहपरिपोषकचिन्ताख्यो व्यभिचारी स्मृतिसंवलित एव वर्णितो
न चाणक्यप्रशंसनमत्र विवक्षितमिति निपुणमुन्नेयं सहृदयैः । नाटकमिदमभिनय-
चतुष्टयजीवितं न वाक्यकदम्बकमात्रमिति कथं विस्मृतं टीकाकृद्भिरिति न जानीम
इत्यलं गुरुजनानां सुचरितेतरचिन्तनैरिति ।

(सुनाकर) आगे कहो ।

विराधगुप्त—इसके बाद, शकटदास को, पाटलिपुत्र भर में यह प्रसिद्धि करा कर कि
चन्द्रगुप्त को मारने के लिये दारुवर्मा इत्यादि को ठीक करना इसी का काम था, सूली पर
चढ़ा दिया गया ।

राक्षस—(आँसू भरी आँखों से) हाय ! शकटदास ! ऐसी मृत्यु के योग्य तुम न थे
अथवा अपने महाराज के लिये आत्मोत्सर्ग करने वाले तुम पर क्यों शोक मनाऊं । मैं तो
अपने ऊपर शोक मना रहा हूँ जो नन्दवंश के विनाश में भी जीवित रहना चाहता है ।

विराधगुप्त—अमात्य ! आप महाराज के लिये ही सब कुछ कर रहे हैं ।

राक्षस—मित्र !

अस्माभिरमुमेवार्थमालम्ब्य न जिजीविषाम् ।

परलोकगतो देवः कृतघ्नैर्नानुगम्यते ॥ २० ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! नैतदेवम् (अस्माभिरमुमेवार्थमित्यादि पुनः पठति) ।

राक्षसः—सखे ! कथ्यतामपरस्यापि सुहृद्व्यसनस्य श्रवणे सज्जोऽस्मि ।

विराधगुप्तः—तत एतदुपलभ्य, चन्दनदासेनोपारूढसाध्वसेनापवाहितममात्यकलत्रम् ।

राक्षसः—सखे ! क्रूरस्य चाणक्यबटोर्विरुद्धमयुक्तमनुष्ठितं चन्दनदासेन ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! ननु-अयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः ।

राक्षसः श्रुतशकटदासविनाशः स्वात्मानमधिक्षिपन् विराधगुप्तं कृतसान्त्वनो धैर्यं लभमान आह—अस्माभिरित्यादि । सखे ! विराधगुप्त ! अस्माभिश्श्रुततत्तत्सुहृद्विनाशैः अत एव कृतघ्नैः सुहृदुपकारानभिज्ञैरिवाचरद्भिरप्यमुमेवार्थं स्वामिकार्यनिर्वाहरूपमेव प्रयोजनमेकमालम्ब्य न जिजीविषां स्वजीवितपरित्राणकामनां कामप्यालम्ब्य परलोकगतो देवो नानुगम्यते नानुल्लिख्यते न सद्यः मृत्युरालिङ्ग्यते भूयः प्रयत्यत एव कार्यसिद्ध्यै इति यावदित्यर्थः ॥ २० ॥

टिप्पणी—अत्र राक्षसस्य धीरत्वं महति विघ्नेऽप्यकातर्यं प्रकाशयति कविः ।

जीने की इच्छा से नहीं, अपि तु महाराज के कार्य के ही निमित्त, मैं, कृतघ्न, दिवंगत महाराज का अनुगमन नहीं कर रहा ॥ २० ॥

विराधगुप्त—अमात्य ! आप ऐसा न कहें (आप कृतघ्न नहीं, कृतघ्न वे लोग हैं जो महाराज के ऋण से उऋण हुये बिना भी मरना या जीना चाहते हैं)

राक्षस—मित्र ! कह डालो । दूसरे भी किसी प्रिय मित्र के अनिष्ट सुनने के लिये तैयार हूँ ।

विराधगुप्त—यह समाचार जानकर चन्दनदास भयभीत हो उठे और अमात्य का परिवार कहीं अन्यत्र भेज दिया गया !

राक्षस—मित्र ! यह तो क्रूर चाणक्य के विरुद्ध और अनुचित किया चन्दनदास ने ।

विराधगुप्त—अमात्य ! मित्रद्रोह तो और भी अधिक अनुचित है ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततो याच्यमानेनापि यदा न समर्पितमनेनाऽमात्यकलत्रं, ततः कुपितेन चाणक्यबटुना—

राक्षसः—(सोद्वेगं) स खलु व्यापादितः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! न खलु व्यापादितः,—किन्तु गृहीतगृहसारः सपुत्रकलत्रः संयम्य बन्धनागारे निक्षिप्तः ।

राक्षसः—ततः किं परितुष्टः कथयसि—‘अपवाहितमनेन राक्षसकलत्रम्’ इति ? ननु वक्तव्यं ‘संयतः सकलत्रो राक्षसः’ इति ।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण पुरुषः) जअदु अज्जो । अज्ज ! एसो क्खु सअड्ढासो पडिहारभूमिमुबत्थिदो (जयत्वार्यः । आर्य ! एष खलु शकटदासः प्रतिहारभूमिमुपस्थितः ।)

राक्षसः—प्रियंवदक ! अपि सत्यम् ?

प्रियंवदकः—किं अलिअं अमच्चपादेसु विणिवेदेमि ? (किमलीकममात्यपादेषु विनिवेदयामि ?)

राक्षसः—सखे ! विराधगुप्त ! कथमेतत् ?

राक्षस—आगे कहो ।

विराधगुप्त—जब कि कहने-सुनने पर भी, उन्होंने, अमात्य का परिवार नहीं सौंपा, तब, क्रुद्ध चाणक्य ने.....

राक्षस—(उद्विग्न) होकर क्या उसे मार डाला गया !

विराधगुप्त—अमात्य ! मार नहीं डाला, किन्तु सारी धन-सम्पत्ति छीन बीबी-वच्चों के साथ जेल में डाल दिया ।

राक्षस—तब क्या बड़े प्रसन्न होकर कह रहे हो कि उन्होंने राक्षस का परिवार अन्यत्र हटा दिया । यह कहो कि सपरिवार राक्षस ही पकड़ लिया गया !

(पर्दा हटाते हुए, एक सेवक का प्रवेश) आर्य की जय हो ! शकटदास द्वार पर खड़े हैं ।

राक्षस—प्रियंवदक ! क्या सच कह रहे हो ?

प्रियंवदक—माननीय अमात्य के आने क्या झूठ कहूँगा ?

राक्षस—निधन विराधगुप्त ! यह सब कैसे हुआ ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्यादेतदेवं, यतो भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

राक्षसः—प्रियंवदक ! यद्येवं, तत् किं चिरयसि ? क्षिप्रं प्रवेशाय तम् ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति (निष्क्रान्तः) (यदमात्य आज्ञापयतीति ।)

(ततः प्रविशति सिद्धार्थकेनानुगम्यमानः शकटदासः)

शकटदासः—(दृष्ट्वा आत्मगतम्)—

दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धारिज्यास्तले

तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथिनीमुन्मुच्य वध्यस्त्रजम् ।

श्रुत्वा स्वाभ्युपरोधरौद्रविषमानाध्मातूर्यस्वनान्

न च्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥ २१ ॥

शूलघातात् शकटदासस्सिद्धार्थकेन परित्रातमात्मानं चिन्तयन्नाह—दृष्ट्वा मयं-मित्यादि—अहो ! धरिज्यास्तले भूमौ प्रतिष्ठितपदं स्थूणानिखननमिव निखातमूलं शूलं मारणसाधनं लौहदण्डं मौर्यमिव स्थिरसाम्राज्यं कठोरदण्डं चन्द्रगुप्तमिव दृष्ट्वा, चेतसः प्रमथिनीं मनोहृदयविदारिणीं वध्यस्त्रजं वध्यचिह्नभूतां रक्तकरवीर-मालां तल्लक्ष्मीमिव मर्मघातिनीं मौर्यराज्यश्रियमिवोन्मुच्य परिधाय, अथ चाध्मा-तूर्यस्वनान्—मद्वधाघोषणायाध्मातानि तीव्रं वादितानि रणन्ति यानि तूर्याणि तेषां स्वनान् घोरान् निनादान् स्वाभ्युपरोधरौद्रविषमान् स्वामिनो महाराजस्य

विराधगुप्त—अमात्य ! हो सकता है । भाग्य उसकी रक्षा करता जो सौभाग्यशाली होता है !

राक्षस—प्रियंवद ! यदि ऐसी बात है तो देर क्यों ! उसे अविलम्ब यहां ले आओ ।

प्रियंवदक—महाराज की जो आज्ञा ! (बाहर निकल जाता है)

(शकटदास और उसके पीछे-पीछे सिद्धार्थक का प्रवेश होता है ।)

शकटदास—(स्वगत—अपने आप को लक्ष्य कर) 'पृथिवी तल पर प्रतिष्ठित शासन वाले मौर्य चन्द्रगुप्त के समान सुदृढ़ रूप से गड़े शूल—दण्ड को देखकर, हृदय को व्यथित करने वाली मौर्यराजलक्ष्मी की भांति गले में वध्यमाला लटका कर और महाराजनन्द पर आक्रमण काल में बजाये गये वध के बाघों के समान 'सूली चढ़ाने के समय बजाये गये बाघों के भयङ्कर शब्द को सुनकर मेरा हृदय, मानो पहले की चोटों के सहन करने से कठोर हो जाने के कारण ही विदीर्ण नहीं हुआ' ।

(नाट्येनावलोक्य सहर्षम्) अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । यः एषः—

अक्षीणभक्तिः क्षीणेऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन् ।

पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ॥ २२ ॥

(उपसृत्य) जयत्वमात्यः ।

राक्षसः—(विलोक्य सहर्षम्) सखे शकटदास ! दिष्ट्या कौटिल्यगो-
चरगतोऽपि दृष्टोऽसि, तत् परिष्वजस्व माम् ।

नन्दस्य य उपरोधास्सर्वविधशत्रुकृतव्यसननिपातास्तानि च रौद्रविपमान् भृशम-
सह्यान् श्रुत्वाऽपीति शेषः, मदीयं मनो मम हृदयं यन्न ध्वस्तं न विदीर्णं जीवाभ्यधु-
नापीति वा यावत्, तन्मन्ये संभावयामि प्रथमाभिघातकठिनं प्रथममनुभूता येऽभि-
घाता अनर्थास्तैः कृत्वा कठिनं कठोरं यावन्मात्रदुःखसहनशीलं सञ्जातमिति शेष
इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अत्र शूल-वध्यस्त्रक-तूर्यस्वनादेर्मौर्त्य-तल्लक्ष्मी-नन्दोपरोधादिना यत्सा-
धर्म्यं साक्षात्प्रतिपादितम् तदतीव नाटकौपधिकमत्र प्रतिभाति । शकटदासः सौम्या-
यासूयतीति राक्षसोत्साहं समुत्तेजयिष्यतीत्यपि वस्तु ध्वनितमेवात्रेति सुमहान्
मनस्तोषः सहृदयानामिति ।

शकटदासः राक्षसं चिन्तयन्नाह—अक्षीणभक्तिरिति । अये ! अयं राक्षसो यो हि
क्षीणेऽपि नन्दे विनष्टेऽपि नन्दमहाराजेऽक्षीणभक्तिर्दण्डनन्दानुरागस्वाम्यर्थं स्वामिन
एव अर्थं कार्यं प्रयोजनं चोद्वहन् सम्पादयन् पृथिव्यां विस्तीर्णेऽस्मिन् विश्वे स्वामि-
भक्तानां दृढभक्तीनां राजसेवकानां परमे प्रमाणे स्थितः प्रथमकोटौ विराजमानस्ति-
ष्ठतीति शेष इत्यर्थः ॥ २२ ॥

(राक्षस को देखने का अभिनय करते हुये, प्रसन्न होकर) ये अमात्य राक्षस हैं !
ये वे हैं—

जिनकी राजभक्ति महाराज नन्द के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं हुई और जो
अपने स्वामी के कार्यभार को वहन करते हुये, इस पृथिवी पर, स्वामिभक्त सेवकों के
सर्व प्रथम निदर्शन हैं ॥ २२ ॥

(समीप आकर) अमात्य की जय हो ।

राक्षस—(देखकर-प्रसन्नता के साथ) शकटदास ! प्रिय-मित्र शकटदास ! यड़े
सौभाग्य की बात है कि कौटिल्य की कुटिल दृष्टि में पड़ने पर भी तुम दिखलाई पड़े ।

आजो, एले-लगाजो kshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(शकटदासस्तथा करोति)

राक्षसः—(तं परिष्वज्य) इदमत्रासनमास्यताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः । (इति नाट्येनोपविष्टः)

राक्षसः—सखे ! शकटदास ! अथ कोऽयमीदृशस्य मे हृदयानन्दस्य हेतुः ?

शकटदासः—(सिद्धार्थकं निर्दिश्य) अमात्य ! प्रियसुहृदा सिद्धार्थकेन घातकान् विद्राव्य वध्यस्थानादपवाहितोऽस्मि ।

राक्षसः—(सहर्षम्) भद्र सिद्धार्थक ! काममपर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य, तथापि गृह्यताम् (इति स्वगान्नादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति)

सिद्धार्थकः—(गृहीत्वा पादयोर्निपत्य स्वगतम्) अअं कखु अज्जो-बदेसो, होदु, तथा करिस्सं । (प्रकाशम्) अमच्च ! एत्थ मे पढमप्पबिट्ठस्स णात्थि कोवि परिचिदा, जहिं एदं अमच्चस्स प्पसादं णिक्खिविअ णिब्बुदो भविस्सं ; ता इच्छामि अहं इमाए मुदिआए मुदिदं अमच्चस्स ज्जेव भाण्डागरे णिक्खिविदुं, जदा मे एदिणा प्पओअणं भविस्सदि, तदा गेहिस्सं (अयं खलु आर्योपदेशः । भवतु । तथा करिष्यामि । अमात्य ! अत्र मे प्रथमप्रविष्टस्य नास्ति कोऽपि परिचितः,)

(शकटदास राक्षस के गले लगता है ।)

राक्षस—(शकटदास को गले लगाकर) यहाँ इस आसन पर बैठों ।

शकटदास—जो आज्ञा अमात्य ! (नाट्य से बैठता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! मुझे ऐसी हार्दिक प्रसन्नता कौन दे रहा है ।

शकटदास—(सिद्धार्थक को दिखाकर) अमात्य ! प्रियमित्र सिद्धार्थक ने इसी मेरे बधिकों को डरा-धमका कर मुझे बध्य-भूमि से अलग हटा दिया ।

राक्षस—(प्रसन्नतापूर्वक) प्रियवर सिद्धार्थक ! यद्यपि मेरी प्रसन्नता के अनुपात में यह कुछ भी नहीं, किन्तु ले लो । (अपने शरीर से उतरकर आभूषण दे देता है) ।

सिद्धार्थक—(आभूषणों को लेकर, राक्षस के पैरों पर गिरते हुए, स्वगत) आर्य चाणक्य की यही आज्ञा थी ! अच्छा, ऐसा ही करू । (सुनाकर) अमात्य ! मैं पहली बार यहाँ आया हूँ, मेरा कोई परिचित नहीं जिसके पास अमात्य को दिये इस वारिसौपिक को

यत्रेमममात्यस्य प्रसादं निक्षिप्य निर्वृतो भविष्यामि ; तदिच्छाम्यहमेतया मुद्रया मुद्रितममात्यस्यैव भाण्डागारे निक्षेप्तुम् । यदा मे एतेन प्रयोजनं भविष्यति, तदा ग्रहीष्यामि) ।

राक्षसः—भद्र ! भवतु, को दोषः ? शकटदास ! एवं क्रियताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयतीति (मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्) अमात्य ! भवन्नामाङ्कितेयं मुद्रा ।

राक्षसः—(विलोक्य सविषादं सवितर्कमात्मगतम्) सत्यं नगरात् निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता, तत् कथमस्य हस्तमुपगता ? (प्रकाशम्) भद्र ! सिद्धार्थक ! कुतस्त्वयेयमधिगता ?

सिद्धार्थकः—अमच्च ! अस्थि कुसुमपुरनिवासी मणिआरसेष्टी चन्दणदासो णाम, तस्स गेहदुआरे भूमिए पडिदा, मए समासादिदा । (अमात्य ! अस्ति कुसुमपुरनिवासी मणिकारश्रेष्टी चन्दनदासो नाम, तस्य गेहद्वारे भूमौ पतिता मया समासादिता) ।

ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थमिति—अनयापि वाचोयुक्त्या राक्षसस्य धैर्यमेव सुतरामुन्मील्यते कविना ।

धरोहर रख कर शान्ति कीं साँस लूं ! मैं चाहता हूँ कि अमात्य के ही कोषागार में यह सब, इस अङ्गुलिमुद्रा से मुद्रित कर रख दिया जाय । जब मुझे आवश्यकता होगी ले लूंगा ।

राक्षस—अस्तु, इसमें कोई आपत्ति नहीं । शकटदास ! ऐसा ही करो ।

शकटदास—जैसी आज्ञा अमात्य ! (अंगूठी देख कर सिद्धार्थक से बचाकर दिखाते हुये) अमात्य ! इस अँगूठी पर तो आपका नाम अङ्कित है ।

राक्षस—(देखते हुये, कुछ दुःखित और चिन्तित—स्वगत) ओह ! इसके हाथ यह अँगूठी कैसे लगी ! इसे तो पाटलिपुत्र से विदा होते समय मेरी धर्म-पत्नी ते, वियोग में मन बहलाने के लिये मेरी अंगुली से निकाल लिया था ! (सुनाकर) सिद्धार्थक ! तुम्हें यह कहाँ मिली ?

सिद्धार्थक—अमात्य ! पाटलिपुत्र के जो सबसे बड़े जौहरी सेठ चन्दनदास हैं, उनके भवन-द्वार पर, मुक्त यह गिरा हुआ मिली ।

राक्षसः—युज्यते ।

सिद्धार्थकः—अमच्च ! किं एत्थ जुज्जदि । (अमात्य ! किमत्र युज्यते ?)

राक्षसः—भद्र ! यतो महाधनानां गृहे पतितस्यैवंविधस्योपलब्धिरिति ।

शकटदासः—सखे सिद्धार्थक ! अमात्यनामाङ्कितेयं मुद्रा, तदितो बहुतरेणार्थेन भवन्तममात्यस्तोषयिष्यति तद् दीयतामेषा मुद्रा ।

सिद्धार्थकः—अज्ज ! ऐसो मे परितोसो, जं अमच्चो इमाइ मुद्दाए परिग्गहप्पसादं करेदि त्ति । (आर्य ! एष मे परितोषः, ।यदमात्योऽस्या मुद्रायाः परिग्रहप्रसादं करोतीति) (इति मुद्रां समर्पयति)

राक्षसः—सखे शकटदास ! अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यं भवता ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

सिद्धार्थकः—अनच्च ! विणवेमि किं पि । (अमात्य ! विज्ञापयामि किमपि ।)

राक्षस—ठीक है ।

सिद्धार्थक—क्या ठीक हैं ? अमात्य !

राक्षस—यही कि बड़े-बड़े धनियों के घर में ही, ऐसी वस्तु गिरी हुई मिल सकती है ।

शकटदास—सिद्धार्थक ! इस अंगूठी पर अमात्य का नाम अङ्कित है इसे इन्हें दे दो । इसके बदले अमात्य तुम्हें प्रचुर धन देकर प्रसन्न कर देंगे ।

सिद्धार्थक—आर्य ! मैं इसीसे प्रसन्न हूँ कि अमात्य यह अंगूठी लेने की कृपा करेंगे । (अंगूठी दे देता है)

राक्षस—शकटदास ! तुम अपने अधिकार के कामों में इस अंगूठी से ही मुहर लगाने का काम लेना ।

शकटदास—जैसी आज्ञा अमात्य !

सिद्धार्थक—अमात्य ! मुझे कुछ निवेदन करना है ।

राक्षसः—भद्र ! विश्रब्धं ब्रूहि ।

सिद्धार्थकः—जाणादि ज्जेव अमच्चो जधा चाणक्कहदअस्स विप्पिअं कदुअ णत्थि मे पुणो पाडलिउत्ते प्पवेसो ति । ता इच्छामि अहं अज्जस्स ज्जेव सुप्पसण्णे पादे सेविदुं । (जानात्येवामात्यो यथा चाण-क्यहतकस्य विप्रियं कृत्वा नास्ति मे पुनः पाटलिपुत्रे प्रवेश इति । तदिच्छाम्यहममात्यस्यैव सुप्रसन्नौ पादौ सेवितुम् ।)

राक्षसः—भद्र ! प्रियं नः, किन्तु त्वदभिप्रायाऽपरिज्ञानेनाऽन्तरि-
तोऽस्माकमनुनयः । तदेवं क्रियताम् ।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्) अणुगहिदोहि (अनुगृहीतोऽस्मि ।)

राक्षसः—सखे शकटदास ! विश्रामय सिद्धार्थकम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः (इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः)

राक्षसः—सखे विराधगुप्त ! वर्णयेदानीं कुसुमपुरवृत्तान्तशेषम् । अपि क्षमन्ते कुसुमपुरनिवासिनोऽस्मदुपजापं चन्द्रगुप्तप्रकृतयः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! बाढं क्षमन्ते, ननु यथाप्रधानमनुगच्छन्त्येव ।

राक्षस—हां, जी खोल कर कहो ।

सिद्धार्थक—अमात्य ! आप स्वयं जानते हैं कि उस हत्यारे चाणक्य की बुराई करके पुनः पाटलिपुत्र में मेरा प्रवेश असंभव है । इसलिये मैं चाहता हूँ कि अमात्य के ही मङ्गलमय चरणों की सेवा करूँ ।

राक्षस—अरे भाई ! तुमने मेरे ही मन की बात कही । किन्तु तुम्हारे अभिप्राय से अनभिज्ञ होने के कारण मेरा यह अनुनय रुक गया था । ऐसा ही करो ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्न होकर) आपकी बड़ी कृपा है ।

राक्षस—मित्र शकटदास ! सिद्धार्थक को विश्राम करवाओ ।

शकटदास—जो आज्ञा अमात्य ! (सिद्धार्थक के साथ बाहर चला जाता है)

राक्षस—विराधगुप्त ! अब पाटलिपुत्र का शेष समाचार सुना डालो । क्या पाटलिपुत्र के रहने वाले, चन्द्रगुप्त के प्रजागण हमारी भेदनीति की चालों को सहन करते हैं ?

विराधगुप्त—हां, अमात्य ! अच्छी तरह सहन करते हैं और जैसा कि स्वष्ट चल रहा है वही हमारा साथ दे रहा है ।

राक्षसः—सखे ! किं तत्र कारणम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! इदं तत्र कारणम्—मलयकेतोरपक्रमणान् प्रभृति पीडितश्चन्द्रगुप्तेन चाणक्य इति । चाणक्योपि जितकाशितयाऽ-सहमानस्तैस्तैराज्ञाभङ्गैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतसः पीडामुपचिनोति, अयमपि ममानुभवः ।

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे विराधगुप्त ! तद्वच्छ त्वमनेन आहितु-ण्डिकच्छद्मना पुनः कुसुमपुरमेव । तत्र हि मे सुहृत् वैतालिकव्यञ्जनः स्तनकलशो नाम प्रतिवसति । स त्वया मद्रचनाद् वाच्यः, यथा 'चाण-क्येन क्रियमाणेऽज्ञाभङ्गेषु चन्द्रगुप्तस्त्वया समुत्तेजनसमर्थः श्लोकैरुप-श्लोकयितव्य' इति कायञ्जातिनिभृतं करभकहस्तेन सन्देष्टव्यम् इति ।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यार्यः (इति निष्क्रान्तः)

पुरुषः—(प्रविश्य) जेदु जेदु अमच्चो । अमच्च ! सअडदासो विण-वेदि, एदे कखु तिणि अलङ्कारविसेसा विक्रीअन्ति, ता पच्चकखीकरोदु अमच्चो (जयतु जयत्वमात्यः । अमात्य ! शकटदासो विज्ञापयति—'एते खलु त्रयोऽलङ्कारविशेषाः विक्रीयन्ते, तत् प्रत्यक्षीकरोत्वमात्यः')

राक्षस—अरे माई ! ऐसी क्या बात है !

विराधगुप्त—बात यही है कि मलयकेतु के (पाटलिपुत्र से) निकल मागने के बाद जहाँ तक मेरा अनुभव है, चन्द्रगुप्त के द्वारा चाणक्य तंग किया जा रहा है और अपनी विजय के अभिमान में चूर चाणक्य के द्वारा भी चन्द्रगुप्त की बात नहीं सुनी जाती और उसे तंग किया जा रहा है ।

राक्षस—(बहुत प्रसन्न होकर) विराधगुप्त ! तुम अपने इसी सँपेरे वेष में एक बार और पाटलिपुत्र जाओ और वहाँ रहने वाले मेरे मित्र वैतालिक स्तनकलश से, मेरी ओर से, कहो कि जब जब चाणक्य के द्वारा चन्द्रगुप्त की आज्ञा की अवहेलना हो, ऐसी प्रश-स्तियां चन्द्रगुप्त को सुनाये कि वह उत्तेजित हो जाय और जो भी बात मुझे बतानी हो करभक के द्वारा बता दे ।

विराधगुप्त—अमात्य की जैसी आज्ञा ! (बाहर चला जाता है)

सेवक—(भीतर आकर) अमात्य की जय हो ! अमात्य ! शकटदास ने ऋद्धला भेजा है कि ये तीन बहुमूल्य आभूषण विकने के लिये आये हैं और यदि इन्हें अमात्य देख लेते हों—

राक्षसः—(विलोक्यात्मगतम्) अहो ! महार्हाण्याभरणानि ।
(प्रकाशम्) भद्र ! उच्यतां शकटदासः—‘परितोष्य विक्रेतारं गृह्यन्ताम्’
इति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि (इति निष्क्रान्तः) (यदमात्य आज्ञा)
पयति)

राक्षसः—(स्वगतम्) यावदहमपि कुसुमपुराय करभकं प्रेषयामि
(उत्थाय) अपि नाम दुरात्मनश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तो भिद्येत अथवा
सिद्धमेव समीहितं पश्यामि । कुतः ?—

मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयाद्यमभूद्राजेति जातस्मयः ।

राक्षसो विदिततत्तद्वृत्तश्चाणक्यचन्द्रगुप्तयोर्वैमनस्यवार्ताश्रवणमात्रेण रूढस्व-
विजयामिलाषस्वमनसा मन्त्रयन्नाह—मौर्यस्तेजसीत्यादि—नात्र सन्देहलवोऽपि
यच्चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्भेदो दृढमूलः । यतो हि योऽयं मौर्यश्चन्द्रगुप्तस्सर्वभूतलभुजा-
माज्ञापकस्सर्वे च ते भूतलभुजश्च तेषां सकलभूपतीनां शासनकर्त्ता स तेजसि वर्तते
राजमदाध्मातस्तिष्ठति, यश्चासौ चाणक्यस्सोऽपि मदाश्रयात्—मम सहायकादयं
चन्द्रगुप्तः राजाऽभूदिति जातस्मयो जातगर्वो वर्तते, अत एवैकं चन्द्रगुप्तं राज्यप्राप्ति-

राक्षसः—(देखकर-स्वगत) अरे ! ये आभूषण तो सचमुच बहुमूल्य हैं ।

(सुनाकर) सुनो, शकटदास से कहो कि इनके बेचने वाले को सन्तुष्ट कर इन्हें
खरीद लिया जाय ।

सेवक—अमात्य की जो आज्ञा ! (बाहर निकल जाता है)

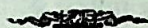
राक्षसः—(स्वगत) तब तक, मैं भी, करभक को पाटलिपुत्र भेज दूँ । (उठते हुये)
क्या चन्द्रगुप्त उस दुष्ट चाणक्य से अलग किया जा सकेगा ! अथवा, मेरा काम अब बना-
बनाया दीख रहा है ! क्योंकि—

‘एक ओर चन्द्रगुप्त ऐसा है, जो अपने राज-तेज के कारण, अन्य समस्त राज-गण
का एक मात्र शासक बना हुआ है और दूसरी ओर चाणक्य ऐसा है जो यह सोचकर
कि चन्द्रगुप्त को उसने राजा बनाया न है, अपने गव में चूर पड़ा है ! जहाँ एक राज्य

राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात्कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥ २३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इति राक्षसविचारनामकद्वितीयोऽङ्कः) ॥ २ ॥



कृतार्थं साम्राज्यप्रतिष्ठितसुखितमपरं चाणक्यश्च तीर्णप्रतिज्ञार्णवं पूर्णनन्दविनाश-
प्रतिज्ञमत एव गर्वितं कृतकृत्यता एव निरपेक्षतैवलब्धान्तरा उभयोस्स्वार्थसिद्ध्या
प्राप्तावसरा सौहार्दात् परस्परं सौमनस्यात् नियतं निश्चितं यथा स्यात्तथा भेत्स्यति
विघटयिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

द्वितीयोऽङ्क इति—पूर्वोक्त एवाङ्कलक्षणोऽत्रानुसंधातव्यः ।

अत्र विराधगुप्तसंवादरूपवृत्तयोजनया राक्षसस्यारम्भयत्नयोर्भग्नसामर्थ्ययो-
निरूपणेन चाणक्यस्य प्राप्त्याशाया यदुन्मीलनं तदेव गर्भसन्धेरूपक्रमस्य प्रथमा-
वस्थेति । अङ्कस्य समाप्तिर्हि चाणक्यस्य प्राप्त्याशोपक्रमस्य प्रथमावस्थापरिसमा-
प्तेरिति ।

इति राक्षसविचाराख्यो द्वितीयोऽङ्कः ।



पा लेने से कृतार्थ है वहां दूसरा अपने प्रतिज्ञा-सागर के पार कर लेने से कृतकृत्य है ।'
अब वह समय आ पहुँचा है जब इन दोनों को अपनी-अपनी यह कृतकृत्यता, दोनों को
एक दूसरे से अलग कर देगी ॥ २३ ॥

(सभी पात्र रङ्गमञ्च से चले जाते हैं)

‘राक्षसविचार’ नामक द्वितीय अङ्क समाप्त ।



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—

रूपादीन् विषयान् निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि मे

ततः प्रविशतीति—ततः राक्षसनीतिवीजवापानन्तरं तदुत्पादनप्रयोजनायाश्चाण-
क्यस्य प्राप्याज्ञायाः प्रथमपर्ववसाने च तद्-द्वितीयपर्वप्रारम्भाय राक्षसनीतिवीज-
विध्वंसोपक्रमाय चन्द्रगुप्तकञ्चुकिनोः रङ्गप्रवेशादिवृत्तमारचयति कविरिति । 'तृती-
येऽङ्के नियतासि'रिति सिद्धान्तयद्विव्याख्यातृभिश्चश्रीदुण्डिराजप्रभृतिभिः 'अथ राक्ष-
सामिलप्यमाणचाणक्यचन्द्रगुप्तविरोधकथनार्थं विमर्शसन्धिरारभ्यते । तृतीयचतु-
र्थाङ्कौ विमर्शसन्धि'रित्यादि यदुपक्रान्तं तदेतत्सर्वमेतन्नाटकरचनाविचारवैमुख्य-
रूपमेव तेषां पर्यवसितम् । वस्तुतस्तु तृतीयाङ्कोऽयं प्राप्याज्ञोपक्रमस्य द्वितीयपर्व-
णस्समुद्भूतनरूपो न नियतासिनिरूपणार्थो न वा विमर्शोद्भवप्रवण इत्यलं पूर्वविमृ-
ष्टस्य पौनःपुन्येन विमर्शसंरम्भेणेति ।

चन्द्रगुप्तकञ्चुकी कौमुदीमहोत्सवमधिकृत्य चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्मतवैभिन्न्यं
निवेदयितुकामो बार्द्धक्येऽपि राजाभात्यमुखप्रेक्षित्वमिति स्वभृत्यभावाज्जगुप्समानो
वक्ति—रूपादीनित्यादि । अयि तृष्णे ! मदीयतत्तत्स्पृहे ! मुधा माद्यसि व्यर्थमेव
वृद्धे मयि सति तरुणीवदाचरन्ती नरीनृत्यसि । यतो हि त्वया यैः करणैर्मदीयश्च-
क्षुरादीन्द्रियैर्हेतुभूतैः रूपादीन् विषयान् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानात्मनो निर्व-
न्धस्यापि बन्धकरान् विषयान् भावजातान् निरूप्य समनुभूयात्मलाभो लब्धः
स्वजन्म गृहीतम् तेष्वपि चक्षुरादिषु तत्तद्विषयानुभवशक्तयो हता नष्टा एव, अथ
चाज्ञाविधेयानि भवन्नियोगानुष्ठानकराणि मे ममाङ्गानि करचरणादीन्यपि प्रसभं

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—'अरी तृष्णे ! अब तू व्यर्थ में मतवाली हो रही है । अब मेरी आँख,
कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषय के अनुभव की वह शक्ति नहीं जिन से
उन-उन रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दों को जानने में होता है तू उत्पन्न हुई ! अब हाथ-पैर आदि

न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया, तृष्णे ! मुधा माद्यसि ॥ १ ॥

(परिक्रम्याकाशे) भो भोः सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः पुरुषाः ! सु-
गृहीतनामा देवश्चन्द्रगुप्तो वः समाज्ञापयति । तथा—‘प्रवृत्तकौमुदीमहो-
त्सवरमणीयतरं कुसुमपुरमवलोकयितुमिच्छामि, तत् संस्क्रियन्तामस्मद्-
र्शनयोग्याः सुगाङ्गप्रासादस्योपरि भूमयः’ इति । तत् किं चिरयन्ति
भवन्तः ? (आकाशे आकर्ष्य) किं ब्रूथ ‘आर्य ! किमविदित एवायं देवस्य
चन्द्रगुप्तस्य कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः’ इति ? आः दैवोपहताः ! किमनेन
वः प्राणहरेण कथोद्धतेन ? शीघ्रमिदानीम्—

आलिङ्गन्तु गृहीतधूपसुरभीन् स्तम्भान् पिनद्धस्त्रजः

यथा स्यात्तथा पटुतां त्यजन्ति भूयो भवदाज्ञापालनसामर्थ्यं शृशं जहत्येव । अन्यच्च
जरया वृद्धावस्थया तवैव मूर्ध्नि पदं न्यस्तम् त्वमेवाक्रान्ता शिरसि न किमपि मम
च्छिन्नमिति शेष इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

टिप्पणी—कञ्चुकिकृतेन स्वतृष्णाविनिन्दनेन यद्वस्तु व्यङ्ग्यत्वेनात्र विवक्षितं
तत्तु चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्वैमनस्ये संभाव्यमाने तद्वस्तुनानामन्यतरमुखप्रेक्षित्वरूपा-
नर्थपतनमेवेति ।

कञ्चुकी विदितचाणक्यकृतकौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधवृत्तो निवृत्तं कमप्यनर्थमा-
लोचमानश्चन्द्रगुप्ताज्ञापितां कौमुदीमहोत्सवायोजनां काकुभङ्ग्याऽऽघोषयन्नाह—
आलिङ्गन्त्वित्यादि । (पौराः कौमुदीमहोत्सवे पौरीभिस्साकं सुखमनुभवन्तु मा

मेरी कमेंन्द्रियों में भी कोई सामर्थ्य नहीं जो पहले तुम्हारी आज्ञा का पालन किया
करती थी । अब तो बुढ़ापा ने तुम्हारे ही सिर पर अपना पैर रख दिया है ॥ १ ॥

(इधर-उधर घूम कर-आकाश की ओर देख)

अरे ! सुगाङ्ग-प्रासाद के अधिकारियो ! प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा
है—‘मैं कौमुदी महोत्सव के अवसर पर पाटलिपुत्र की सजा-धजा देखना चाहता हूँ
इसलिये सुगाङ्ग प्रासाद की ऊपरी’ अट्टालिकाओं की सुन्दर सजावट कर डालो जिस से
वे मेरे देखने योग्य लगें । तुम लोग देर क्यों लगा रहे हो ? (कुछ सुनते हुये से) क्या
तुम लोगों ने यह कहा—‘महाराज को पता नहीं कि कौमुदी-महोत्सव का मनाया
जाना मना कर दिया गया है ।’ अरे ! अभागे लोगो ! कौमुदी महोत्सव के आयोजन के
प्रतिषेध की प्राण ले लेने वाली बात कहने में तुम्हारा क्या लाभ ? अविलम्ब, अभी—
‘ऐसा कर दो, जिस में पूर्णचन्द्र की किरणों के झण्ड की भांति शुभ सुन्दर चंद्रो की

सम्पूर्णेंद्रुमयूखसंहतिरुचां सञ्चामराणां श्रियः ।

सिंहाङ्कासनधारणाच्च सुचिरं सञ्जातमूर्च्छामिव

क्षिप्रं चन्दनवारिणा सक्कुसुमः सेकोऽनुगृह्णातु गाम् ॥ २ ॥

(आकाशे) किं कथयन्ति भवन्तः 'एते त्वरामह' इति ? भद्राः !

चाऽन्वभूवन्) सम्पूर्णेंद्रुमयूखसंहतिरुचां सम्पूर्णेंद्रोः पूर्णिमाचन्द्रस्य याः मयू-
खसंहतयः संपिण्डिताः किरणकान्तयस्तासां रुगिव रुक् कान्तिर्येषामेवंभूतानां
सञ्चामराणां बालव्यजनानां श्रियश्शोभासम्पत्तयो गृहीतधूपसुरभीन् धूपितसुरभि-
तशरीरान् पिनद्धस्रजः पिनद्धपुष्पहारान् स्तम्भान् सुगाङ्गप्रासादस्येति शेषः, आलि-
ङ्गन्तु निपुणं स्वगाढोपगूहनेन सफलयन्तु सुखयन्तु चेति, तथा त्वरयितव्यं सूत्र-
धारैर्यथा द्रुतमेव सुगाङ्गप्रासादः प्रतिस्तम्भं धूपितस्सुरभितः मात्यवेष्टितश्चामर-
वीजितश्च राज्ञः स्वागताय संनह्यत्विति भावः । अथ च चन्दनवारिणा सक्कुसु-
मस्सेकः पुष्पपरिमिलितेन चन्दनरसेन कृतस्सुगाङ्गप्रासादभूमिभागस्य मार्जनच-
क्षणादिः सुचिरं सिंहाङ्कासनधारणात् बहोः कालात् मौर्यस्य सिंहोऽङ्कश्रिङ्गं यस्य
तच्च तदासनं धर्मासनं च सिंहाङ्कासनं तस्य भारवहनात्सञ्जातमूर्च्छां समनुभूत-
तत्तच्छत्रुकृतोपरोधवैशसां गां पाटलिपुत्रभुवं काञ्चिद् सिंहक्रोडीकृतां धेनुमिव
विगतसंज्ञां क्षिप्रं सत्वरं प्राणपरिरक्षणं यथा स्यात्तथा विना विलम्बमनुगृह्णातु
संभावयत्विति । प्रासादभूमयः राजमार्ग-रथ्या-वीथिभूमयश्च जलसेकेन सुस्पृष्टाः
पार्थिवसञ्चारयोग्याश्च क्रियन्तामिति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अत्र श्लिष्टविशेषणमहिम्ना स्तम्भ-चामरश्रियोर्नायकनायिकाव्यव-
हारप्रतिपत्त्या पूर्वार्द्धे समासोक्तिरलङ्कारः । उत्तरार्द्धे चातिगौरवशालिराजसिंहासनं
सुगाङ्गे विराजमानमास्ते इति तद्धारणात्सञ्जातमूर्च्छामिवेति वस्तुत्प्रेक्षालङ्कारः ।
अत्र समासोक्तौ यदप्रस्तुतस्य व्यवहारसमारोपः प्रतीयमानतयाऽवस्थितेन कौमु-
दीमहोत्सवस्यामोदा अपि कल्प्यन्तां नामेति किमपि वस्तु व्यज्यत इति ।

छटायें सुगन्धित धूपों से सुरभित और लटकती मालाओं से सुशोभित प्रासाद स्तम्भों का
आलिङ्गन करने लगे और फूलों की सुवास से भरे चन्दन जल का सर्वत्र ऐसा छिड़काव
कर दो जिस से सिंह के पंजे की भांति पड़े राज-सिंहासन के बोझ से मूर्च्छित यह
गाय सी धरती सांस लेने लगे ! ॥ २ ॥

(आकाश में) क्या हमने यह कदम उठाया है कि राजा को डराने की योजना पर चल रहे हैं ?

त्वरध्वम्, अयमागत एव देवश्चन्द्रगुप्तः । य एषः—

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता

चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो याऽस्य गुरुणा ।

धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो

मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च ॥ ३ ॥

(नेपथ्ये) इत इतो देवः ।

(ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च)

कञ्चुकी चन्द्रगुप्तस्यागमनं चिन्तयन् तमेव निपुणं परामृशन्नाह—सुविश्रब्धै-
रित्यादि । दम्यो वृषभ इव एष चन्द्रगुप्तो नववयसि तारुण्य एव तां भुवो धुरं
राज्यतन्त्रस्य भारं वोढुं धारयितुमुच्चैर्व्यवसितो भृशं समुद्युक्तो या गुरुरपि दुःश-
क्यवहनाऽपि धूः सुविश्रब्धैरङ्गैर्विश्वसनीयैश्शारीरावयवैरिव राज्यतन्त्रावयवैर्विप-
मेष्वपि पथिपूज्यतानतेष्वपि मार्गसंक्रमेष्विव राजनयसञ्चारेष्वचलताऽनिष्कम्प-
गतिनाऽत एव धुर्येण धूर्वहनसमर्थेन राज्यतन्त्रधौरेयेणाऽस्य गुरुणा तांतेन महा-
राजनन्देन चिरमूढा बहुकालपर्यन्तं धृता । अये ! मनस्वी महासाहसिकः महामनाः
खल्वयम् यतो हि दम्यत्वाद् भारवहनाऽनभ्यस्तत्वादेव न तु न्यूनबलप्रकर्षत्वात्
स्खलति यदि कुत्रचन स्खलनमवाप्नोति किन्तु दुःखं च न वहति तथात्वेऽपि
कार्पण्यं नैवाश्रयते ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र कञ्चुकी चन्द्रगुप्तं राज्यतन्त्रभारस्वयंवहनसमर्थं परामृशन्
चन्द्रगुप्त-चाणक्ययोः किमपि मतवैभिन्न्यं सूचयति ।

इत इतो देव इति । अत्र कञ्चुकिनं प्रति चन्द्रगुप्तागमनं नेपथ्यसंस्थितेन प्रती-
हारीभूमिकाभृता पात्रेण सूचितमिति चूलिकया-चन्द्रगुप्तप्रवेश इति । चूलिका तु—

अरे भले लोगो ! शीघ्रता करो ! महाराज चन्द्रगुप्त आ ही पहुँचे । ये ही वे हैं—जो, इस
नयी अवस्था में, उस भारी राज्य-धुरा के वहन करने में लगे हुये हैं जिसे, अपने सुदृढ़ अंगों
के बल पर, विषम मार्गों पर भी अडिग चलते हुये इनके पूर्वज, प्रौढ अनुभव वाले महाराज
नन्द ने, बहुत समय तक, वहन किया है । प्रौढता के अभाव में, ये कहीं लड़खड़ा सकते
हैं किन्तु मनस्वी होने के नाते दुःखित नहीं दिखायी देते ॥ ३ ॥

(नेपथ्य से) इधर आये महाराज !

(प्रतीहारी के साथ महाराज चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

राजा—(स्वगतम्) राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूपते-
र्महदप्रीतिस्थानम् । यतः—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरोहन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्तु पुरुषः ? ॥ ४ ॥

‘अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिके’ति लक्षिता साहित्यदर्पणकृता ।

चन्द्रगुप्तः करिष्यमाणं कृतककलहं चाणक्याज्ञापितं मुहुश्चिन्तयन् विकलस्वान्त
आह—परार्थानुष्ठाने इति । राज्यं हि नाम न किमपि सुखमपि तु दुःखमेव केवलम् ।
तथाहि परार्थानुष्ठाने परस्य स्वव्यतिरिक्तस्यामात्यजनपदादिप्रकृतिवर्गस्य येषां
अभिलषितानि वस्तूनि तेषां सम्पादने क्रियमाणे स्वार्थपरता स्वाभिलषितसिद्धि-
नृपं राजानं रहयति परित्यजति । अर्थात् पराभिलषितं चाणक्यसमीहितं कृतक-
कलहादीति यावद्, यदि साध्येत स्वाभीप्सितं गुरुद्रोहवर्जनं दत्तजलाञ्जलि प्रसज्ये-
तेति । अथ च यदि क्षितिपतिर्नृपः परित्यक्तस्वार्थः स्यादिति शेषः, परार्थसाधनप्र-
वणतया स्वार्थं स्वाभिलषितं नैव साधयितुं शक्नुयात् तदा नियतमयथार्थो ना-
स्त्येव सत्यभूतः राजेति । तात्पर्यं तु यत् चाणक्यचिन्तितमेव तत्तद् यदि क्रियेत
कुतो मे मनसः शान्तिर्गुरुद्रोहिण इति । अन्यच्च परार्थः स्वार्थादभिमततरोहन्त
यदि परार्थ एव कर्तव्यबुद्ध्या साधनीयो हन्त ! यो वा नृपस्स तु परवान् परवशः
पराधीन एव न स्ववशः स्वतन्त्रो वा । यदि च नृपः परायत्त एव तिष्ठेत् पराधीन-
स्सन् परप्रयोजनमेव संपादयेत् तदा पुरुषः प्राकृतजनस्सन् प्रीतेस्सुखस्य रसमा-
नन्दं कथमिव वेत्तु न कथमप्यनुभवितुं समर्थ इत्यर्थः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—अत्र चन्द्रगुप्तस्य तत्तत्प्रवणतादिभिरनुभावैरभिव्यक्तश्चिन्ताख्यो भाव-

राजा—(स्वगत) राजधर्म के पालन में लगे राजा के लिये—राज्य बड़ा दुःखद
होता है—

‘परार्थ अर्थात् प्रजाकल्याण के कार्यों के अनुष्ठान में स्वार्थ अर्थात् अपनी सुख सुविधा
में तत्परता राजा का साथ छोड़ देती है और अपने स्वार्थ अर्थात् सुख-भोग का परित्याग
करने वाला राजा यथार्थ में राजा नहीं रह जाता—इस प्रकार, यदि स्वार्थ की अपेक्षा
परार्थ ही अभीष्ट हो तब, खेद की बात है कि राजा (स्वतन्त्र नहीं, अपितु) परतन्त्र है
और परतन्त्र व्यक्ति सुख, भोग का आनन्द कैसे भोग सकता है।’

अपि च—दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः । कुतः ?—

तीक्ष्णादुद्विजते, मृदौ परिभवन्नासाक्ष सन्तिष्ठते,

मूर्खं द्वेष्टि, न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि ।

शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरुनद्धो,

श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥ ५ ॥

स्फुष्ट प्रकाशितः । अत एव च लाभालाभगवेषणरूपा चाणक्यप्राप्त्याशाऽपि सुतरामुन्मीलितेति ।

आत्मवद्भिरिति—आत्मसम्पदयुक्तेरित्यर्थः । आत्मसंपन्नत्वं यथा कौटिलीयेऽर्थ-
शास्त्रे मण्डलयोन्यधिकरणे—‘स्वामी प्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः स्ववग्रहः कृत-
शिल्पो व्यसने दण्डनाभ्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतीकारी हीमानात्मप्रकृत्योर्विनियोक्ता
दीर्घदूरदर्शी देशकालपुरुषकारकार्यप्रधानः संधिविक्रमत्यागसंयमपणपरच्छिद्रवि-
भागी संबृतोऽदीनाभिहास्यजिह्वामृकुटीक्ष्णः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापै-
शुन्यहीनः शुक्लः स्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसंपदिति ।

चन्द्रगुप्तः स्वविषयकमेव पुनरपि ध्यायन्नाह—तीक्ष्णादुद्विजत इत्यादि । राज-
लक्ष्मीः स्थिरा भवत्वित्थमेव आर्याभिनिवेश एतन्निबन्धन एव च स कोऽपि कृतक-
कलह इत्याज्ञाप्यमानोऽर्थः । किन्तु ययाऽत्मसंपदयुक्तेनाऽपि मया राजलक्ष्मीस्थैर्यं
दुःसाध्यमेवमेव सर्वाभात्यसम्पत्समन्वितेनाप्यार्यचाणक्येन राजसप्रारब्धात्मद्राज्य-
तन्त्रविघटनादि न सुखप्रतीकारमिति किं भावीति न ज्ञायते । तथाहि श्रीराज-
लक्ष्मीर्लब्धप्रसराऽस्मद्वशीकरणेन प्राप्तप्रागल्भ्या वशीकृतकामुकेव वेशवनिता वार-
नारी मृशं नितान्तं दुःखोपचर्या दुराराध्याऽशक्यवशीकारेति वा यावत् । कुत
इति चेत् ? यतो हीयं स्थिरीभूय कं कामयत इत्यविज्ञेयमनालोच्यं च वस्तु । तथा-
हीयं तीक्ष्णादुद्राद् विक्रमोदग्राद्वा राज उद्विजते उद्विग्ना संजायते स्वमृदुस्वाभा-

इतना ही क्यों ! राजा चाहे कितना भी संयत-चित्त हो, उसके लिये राज-लक्ष्मी की
सेवा बड़ी कष्टप्रद है । क्योंकि—

राजलक्ष्मी उग्रस्वभाव राजा से उद्विग्न हो जाती है; कोमल स्वभाव राजा के पास,
उसकी पराजय की आशंका से, टिक नहीं सकती, मूर्ख राजा से द्वेष करती है; अत्यन्त
विद्वान् राजा के प्रति प्रेम नहीं रखती; शूरेवीर राजा से बहुत डरा करती है और यदि
राजा बहुत डरपोक हो तो उसका हंसी उड़ाती है—इस प्रकार वह एक प्रगल्भ वाराङ्गना
सी है जिसकी आराधना बड़ी कठिन है ॥ ५ ॥

अन्यच्च । कृतककलहं कृत्वा स्वतन्त्रेण त्वया कश्चित् कालं व्यवहर्त्त-
व्यमित्यार्योपदेशः । स च कथमपि मया पातकमिवाभ्युपगतः, अथवा
शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाणमतयः सदैवास्वतन्त्रा वयम् । कुतः ?

इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्, तदा गुरुरङ्कुशः ।
चिनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः

व्यादिति शेषः, मृदौ विगततैच्ण्ये च नृपे न सन्तिष्ठते न स्थितिमात्मनः करोति
परिभवन्नासाद् बलवता प्रतिपक्षेण तथाविधस्य राज्ञः पराभूयमानत्वशङ्कातङ्कादिति,
मूर्खानविवेकिनो नृपान् द्वेष्टि न कामयते स्वविद्वत्सेवासक्तिपरत्वात् । अत्यन्तविद्व-
त्स्वपि महाविवेकिष्वपि राजसु प्रणयितां न गच्छति निकाममनुरक्ता न कदापि
भवति तेषां विवेकैकनिरतमानसत्वादिति, शूरेभ्योऽपि राजभ्योऽधिकं विभेति मृशं
त्रस्यति स्व-सुस्थचित्तप्रणयपारवश्यादिति, एकान्तभीरून् स्वव्यतिरिक्तप्रकृतिवर्ग-
मुखप्रेक्षिणो हि नृपानुपहसति तेषां भयैकव्यग्रहृदयत्वादित्यहो महदाश्चर्यं कथं मया
वर्तितव्यमिति न ज्ञायत इति शेष इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कृतककलहमिति—राक्षसोसभेदनीतिबीजमेव चाणक्यबुद्धिप्रागल्भ्यादत्र नष्टसारं
कृतकद्वन्द्वतया पर्यवस्यतीति प्राण्याशौच पुनरामृष्टेति ।

चन्द्रगुप्तश्चाणक्यचिन्तिते कृतककलहे कमपि लाभविशेषं निश्चिन्वानस्सुस्थचित्त
आह—इह हि रचयन्ति । इहास्मिन् लोके हि साध्वीं क्रियां रचयन् न्याय्यं कार्यं
कुर्वाणः शिष्यो गुरुजनशासनानुवर्ती जनः न निवार्यते नैव दण्डयते गुरुभिरिति
शेषः, अपि तु तत्रानुमोद्यत एवेति भावः, यदा तु स एव शिष्यः मोहाद् मार्गं
त्यजति मतिभ्रंशात् कुमार्गेण गच्छति तदा गुरुरङ्कुशस्ततस्तस्य निवारयिता
भवति । तस्मादेवंभूताद् गुरुस्वाभाव्याद् चिनयरुचयो गुरुकृतशिक्षणे वद्धश्रद्धास्सन्त-

और भी, आर्य चाणक्य का आदेश है कि 'मैं उनसे कृतक-कलह (वनावटी झगड़ा)
करूँ और स्वतन्त्र होकर कुछ समय तक शासन-भार संभालना उनके इस आदेश को,
जो मेरे लिये एक पाप सा है, मैंने किसी प्रकार मान भी लिया है । अथवा सदा आर्य
चाणक्य के आदेशानुसार आचरण से संस्कृत बुद्धि वाले हम लोग सदा ही स्वतन्त्र हैं ।
क्योंकि—

जो गुरु है वह इस संसार में सदाचारपूर्वक व्यवहार करने वाले शिष्य को मना नहीं
करता और यदि शिष्य मोहवश सन्मार्ग छोड़ दे तो वह उसे निवारित करता है—

परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥ ६ ॥

(प्रकाशम्) आर्य वैहीनरे ! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय ।

कञ्चुकी—इत इतो देवः ।

राजा—(परिक्रामति)

कञ्चुकी—(परिक्रम्य) अयं सुगाङ्गप्रासादः, शनैरारोढुमर्हत्यार्यः ।

राजा—(नाट्येनारुह्य, दिशोऽवलोक्य) अहो ! शरत्समयसम्भृतशो-
भाविभूतीनां दिशामतिरमणीयता !! कुतः ?—

शनैः श्यानी'भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः

स्सदाचाराः शिष्या इति शेषः, सदैव निरङ्कुशास्सर्वदैव स्वतन्त्रा न दण्डभागिनो
गुरुणां भवन्तीति, अतोऽस्मादेव कारणात्, वयं हि स्वातन्त्र्येभ्यस्स्वच्छन्दानुवर्त-
नेभ्यः परतरमत्यधिकं पराङ्मुखाः परावृत्तवदना यत्तिष्ठाम आर्याधीना एव सर्वदा
वर्तामहे इति वा यावत्, तत्सर्वं साध्वेव कस्मैचन मङ्गलायैव सर्वदा भावीति
भावः ॥ ६ ॥

चन्द्रगुप्तस्वभावनाऽशंसिते कौमुदीमहोत्सवे शरदः प्रसन्नतां प्रसाधितजल-
स्थलनभोमण्डलां पश्यन्नाह—शनैः श्यानीभूता इत्यादि । अये ! शरत्साम्राज्यं
विजृम्भते सर्वत्र । सर्वं जगत् शरच्छासनमनुवर्तमानमिव विभाव्यते । तथा हि

इसलिये सदाचार-परायण हम, गुरु के द्वारा आदिष्ट मार्ग पर चलने में अभिरुचि रखते
हुये, सदा स्वतन्त्र हैं । और इससे अधिक स्वतन्त्रता अर्थात् स्वच्छन्दता से हम सदा
विरुद्ध हैं ॥ ६ ॥

(सुनाकर) आर्य वैहीनरे ! सुगाङ्गप्रासाद का मार्ग बताओ ।

कञ्चुकी—इधर आवें महाराज !

राजा—(धूमता है)

कञ्चुकी—(चलने का अभिनय करते हुये) यह रहा सुगाङ्गप्रासाद ! धीरे-धीरे
ऊपर चलें महाराज !

राजा—(चढ़ने का अभिनय करते हुये—चारों ओर देख कर) शरत् काल के कारण
शोभा-वैभव से समृद्धदिशायें बड़ी सुन्दर लग रही हैं । क्योंकि—

जैसे धीरे-धीरे, धवल मेघ-खण्ड सरीखे संकेतपुंज वाली नदियां क्षीण हो गयी हैं

समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः ।

चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै-

र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दश दिशः ॥ ७ ॥

अपि च—

अपामुद्वृत्तानां निजमुपदिशन्त्या स्थितिपदं

दीर्घा दश दिशः शरदि मेघापगमेन विविक्ततया स्फुटं प्रतीयमानाः दिशः प्रदिशश्च शनैः श्यानीभूताः शरदागमक्रमेण वर्षाजलमेदोभारापचयात् प्राप्तकाश्यास्समृद्धसौन्दर्याश्च सत्यः, सितजलधरच्छेदपुलिनाः सिताः शुभ्राः जलधरच्छेदाः पुलिनानीव सैकतानीव यासां ताः धवलजलदखण्डदन्तुराः, कलविरुतिभिर्मधुरगुञ्जनैः सारसकुलैस्समन्तात्सर्वत आकीर्णा व्याप्ताश्शब्दायमाना वेति यावत्, निशि रात्रौ च चित्राकारैः विचित्ररूपैर्विविधरूपैर्वा विकचनक्षत्रकुमुदैर्विकचानि ज्योतिर्मयानि प्रफुल्लानि वा नक्षत्राणि कुमुदानीव तैः प्रफुल्लकुमुदनिभनक्षत्रैश्चिताः सरिताभोगा नभस्त आकाशात् सरित इव वर्षाविरतेस्तनूकृतप्रवाहवेगाः शुभ्रसैकतभूमयः, संभृतसारसकलरवाः विकसितनक्षत्रशुभ्रकुमुदा नद्य इव स्यन्दन्ते मन्दमधुरं निस्सरन्त्य इव दृश्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र कौमुदीमहोत्सवमिव प्रतीक्षमाणायाः शरदो वर्णनं किमपि रामणीयकं विभर्ति । शरदः रामणीयकं दिष्टु सरित्सु च कृतसंविभागमुभयोः परस्परौपम्यं किमप्युद्गावयति । इदमेव चोपमेयोपमायाः वाच्यालङ्कृतेरात्मलाभनिदानम् । पर्यन्ते चानया वाचोयुक्त्या यत्प्रतिपिपादयिषितं तत्तु संभावितस्य कौमुदीमहोत्सवस्य मनःप्रसादवितरणत्वरानिर्भरत्वादि ।

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवारम्भे शरदैव निपुणं विनीतं दृश्यजातं विमृशन्नाह—
अपामुद्वृत्तानामित्यादि । अहो ! शरदियं सर्वं जगद्विनयन्तीव दृश्यते । तथा हि

वैसे ही क्रमशः सैकत-पुंजरूपी मेघ-खण्डों वाली दिशायें क्षीण हो गयी हैं; जैसे नदियाँ मधुर ध्वनि करने वाले सारसों के झुण्ड से व्याप्त दिखायी दे रही हैं वैसे ही दिशायें, मधुर ध्वनि करने वाले सारसों की कतार से सर्वत्र व्याप्त हो गयी हैं; और जैसे रात में, नदियाँ रंग-विरंग के खिले हुये नक्षत्रवत् शुभ्र कुमुदों से भर जाती हैं वैसे ही दिशायें कुमुदोपम नक्षत्रों से भरी दिखायी दे रही हैं । इस प्रकार ऐसा लगता है मानो श्रावण-मास से नदियाँ की भांति, दसो दिशायें, आकाश से प्रवाहित होती प्रतीत हो रही हैं ॥७॥

और भी,

‘यदि शरदः अपामुद्वृत्तानामित्यादि जगद्विनयन्तीव दृश्यते’ इति शब्दों पर नक्षत्रों की व्याप्ति का वर्णन किया गया है।

दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले ।

मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो ?

कृतः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा ॥ ८ ॥

अपि च—

भर्तुस्तथा कलुषितां बहुचलभस्य

उद्धृत्तानां वर्षत्तौ जलाप्लावेन स्वप्रवाहपथमुत्सृज्य यत्र कुत्रचित् सर्वत्र वा प्रवृत्तानामुन्मार्गागामिनीनामिति ध्वनिः, अपां जलसम्पदां नन्दानुरक्तानां प्रजानामिति ध्वनिः, निजं स्वाभाविकं स्थितिपदं प्रवाहस्थानं, मर्यादामिति ध्वनिः, उपदिशन्त्या शिष्यन्त्या, उदारे फले सति सस्यादौ फले प्रभूते संजाते, खनि-सेतु-वन-व्रज-वणिकूपथाद्यायसंपदि समृद्धायां सत्यामिति ध्वनिः, शालीनां धान्यानां समृद्ध-सम्पदां प्रजानामिति ध्वनिः, अवनतिं फलभारभुगनाग्रतां नम्रतां वा दधत्या सम्पादयन्त्या, मयूराणां प्रतिपक्षवर्तिनां विशिष्टपुरुषाणामिति ध्वनिः, उग्रं तीक्ष्णं विषमिव मदं वर्षामोदसंरम्भं, प्रज्ञा-विक्रमादिरूपावलेपमिति ध्वनिः, हरन्त्या दूरी-कुर्वन्त्याऽनया शरदा कृत्स्नस्य समस्तस्य लोकस्य चराचरस्य जगतः, प्रकृतिवर्ग-स्येति ध्वनिः, विनय इव कृतः यथायथं कृत्रिमस्स्वाभाविको वा विनय आहित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र शरद्वतीराचार्यकत्वं निपुणमुद्भावितं वर्णितं च नाटककृता । अनेन शरत्कृतेन विनयेन प्रजानां शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञानोद्वापोहतस्वाभिनिवेशादिसम्पदां स्थैर्यमपि वर्द्धिष्णु सुतरामभिव्यक्तमिति रमणीयमिदं शरत्काव्यं नाटकौपयिकतया समञ्जसं शोभते ।

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवसमारम्भे समाशास्यमाने शरत्प्रसन्नां गङ्गां नवयैव भङ्ग्या पश्यन्नाह—भर्तुस्तथेत्यादि । अये ! शरदियं रतिकथाचतुरा प्रियवार्तानिवेदन-

वहने वाली जल-धारायें अपनी तट-सीमा में नियन्त्रित की जा रही हैं मानो स्वच्छन्द आचरण करने वाली प्रजायें मर्यादा में नियन्त्रित की जा रही हैं, भरपूर पके धानों के गुच्छों से लदे धान के खेत धरती पर झुकायें जा रहे हैं मानो मनोवांछित धनसम्पत्ति पाने वाली प्रजायें राजा के आगे झुकने को बाध्य की जा रही हों । और चारों ओर मयूरों की केका-ध्वनि का मद चूर किया जा रहा है मानो प्रजाओं में राजविद्रोह का भयङ्कर विष शान्त किया जा रहा हो ॥ ८ ॥

और भी,

यह गङ्गा की धारा के कलुषित जल से भरी ऐसी ही गंधी थी मानो अबसे प्रियतम से

मार्गे कथञ्चिदवतार्यं तनूभवन्तीम् ।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती

गङ्गां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम् ॥ ९ ॥

(समन्तान्नाट्येनावलोक्य) अये ! कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं
कुसुमपुरम् ? आर्यं वैहीनरे, अथाऽस्मद्वचनादाघोषितः कुसुमपुरे कौमु-
दीमहोत्सवः ?

कञ्चुकी—देव ! अथ किम् ? आघोषितो देवस्याज्ञया कुसुमपुरे
कौमुदीमहोत्सवः ।

निपुणा दूतीव गङ्गां, नायिकामिव मानिनीमिति ध्वनिः, तथा कलुषितां वर्षाकृतेन
मलिनिम्नाऽतिमलिनजलां, सेर्प्यामिवेति ध्वनिः, अतएव तनूभवन्तीं वर्षामालि-
न्यापगमे कृशप्रवाहां, वियोगकृशामिवेति ध्वनिः, बहुवल्लभस्यानेकसरिद्भार्यस्य
भर्तुस्सरिताम्पतेस्समुद्रस्य मार्गे समुद्रगामिस्वखातपथे, प्रियाभिसारपथ इवेति
ध्वनिः, कथञ्चिन्महताऽनुनयविनयादिनोपायेनाऽवतार्यं संस्थाप्य सञ्चार्यं वा प्रस-
न्नामपगतजलकालुष्यामपगतेर्प्याकपायामिवेति ध्वनिः, सतीं सर्वात्मना सर्वप्रकारेण
सिन्धुपतिं सिन्धुं पतिमिव नयति प्रापयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अत्र कोऽपि ध्वनिस्समुल्लसति स तु शारदेन कौमुदीमहोत्सवेन
काचन कृतककलहात्मिका नवैव कूटनीतिश्चाणक्यहृदयेऽनन्तनीतिभरिते प्रवेश्यत
इति रूपः ।

खोजी मुँह फुलायी नायिका हो, इस समय, अपनी स्वाभाविक धारा में, अपने निर्दिष्ट
मार्ग पर बहती, प्रसन्न-सलिला बनी, इस शरद के द्वारा, समुद्र से मिलने के लिए ले
जायी जा रही है मानो किसी प्रेमालाप-चतुर दूती के द्वारा, समझा-बुझा कर रूठी
नायिका, प्रसन्न-चित्त से प्रिय-मिलते के लिये ले जायी जा रही हो ! ॥ ९ ॥

(चारों ओर देखने का अभिनय करते हुये) अरे, पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव
क्यों नहीं मनाया जा रहा है । आर्य वैहीनरे ! क्या मेरी आज्ञा से, पाटलिपुत्र में कौमुदी-
महोत्सव के आयोजन की घोषणा कर दी गयी ?

कञ्चुकी—हाँ महाराज ! क्यों नहीं ? महाराज की आज्ञा से पाटलिपुत्र में कौमुदी-
महोत्सव घोषित कर दिया गया है ।

राजा—आर्य ! तदेवं किं न परिगृहीतमस्मद्वचनं पौरजनेन ?

कञ्चुकी—(कणों पिधाय) देव ! शान्तं पापं, शान्तं पापं, पृथिव्या-
मस्खलितपूर्वं देवस्य शासनं, कथं पोरेषु स्खलितुमर्हति ?

राजा—आर्य वैहीनरे ! तत् कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवमधुनाऽपि
कुसुमपुरं पश्यामि ? पश्य—

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो

नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः ।

अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः

साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥ १० ॥

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवविषयमेव चिन्तयन्नाह—धूर्तरित्यादि । अये ! किङ्कार-
णं यत्स्फुटचतुरकथाकोविदैः स्फुटाश्च ताश्चतुराश्च कथाः प्रेमवार्तास्तासु कोविदैः
कुशलैर्धूर्तैर्वितैरन्वीयमाना अनुगम्यमाना वेशनार्यो वारविलासिन्यः पृथुजघनभरा-
क्रान्तिमन्दैः पृथुनी ये जघने तयोर्या भराक्रान्तिर्गुरुभारवत्ता तथा मन्दैरलसैः प्रया-
तैस्त्वगमनागमनैः रथ्याः पाटलिपुत्रीयान् राजमार्गाञ्चालङ्कुर्वन्ति न शोभयन्ति न
भूषयन्तीति वा यावत् । किं वा कारणं यद् गृहविभवैस्त्वगृहसम्पत्तिभिरन्योन्यं
स्पर्द्धमानाः परस्परं विजयैषिणः पौरमुख्याः नगरवासिप्रमुखाः स्वामिनो धनिनः
पाटलिपुत्रीयाः मुक्तशङ्काः विगतभयास्सन्तः स्त्रीभिस्साकं स्वस्त्रीभिस्सममभिलषितं

राजा—तो नागरिकों ने हमारी बात क्यों नहीं मानी ?

कञ्चुकी—(कान बंद कर) महाराज ! ऐसा न कहें महाराज ! पाटलिपुत्र के पौरजन
महाराज की आज्ञा कैसे न मानें जब सारा संसार मान रहा है ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! तो, अभी भी पाटलिपुत्र क्योंकर कौमुदीमहोत्सव के
आयोजन से शून्य दीख रहा है ? देखो—

पाटलिपुत्र के मार्गों पर, अपने प्रेमालाप-निपुण विटों और चेटों के साथ, निकलने
वाली वारनारियाँ, अपने मांसल जघन-भार के कारण धीमी चालों से चलती क्यों कर
दिखाई नहीं पड़ रही हैं ! और पाटलिपुत्र के बड़े-बड़े नागरिक, ऐसे समय पर अपने-अपने
गृह-वैभवों के बल पर, परस्पर स्पर्द्धा में पड़े, निःशङ्क अपनी-अपनी कुल-कामिनियों
के साथ, अपने-अपने मन की उमङ्गें लिये, क्योंकर इस शारदीय पार्वण-कर्म का अनुष्ठान
नहीं कर रहे हैं ? ॥ १० ॥

कञ्चुकी—देव एवमेतत् ।

राजा—किमेतत् ?

कञ्चुकी—देव ! अत इदम्—

राजा—आर्य ! स्फुटमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—‘—देव ! प्रतिषिद्धः कौमुदीमहोत्सवः ।’

राजा—(सक्रोधम्) आः केन ?

कञ्चुकी—नातः परमस्माभिर्देवो विज्ञापयितुं शक्यते ।

राजा—न खल्वार्येण चाणक्येनापहृतः प्रेक्षकाणामतिशयरमणीयश्च-
क्षुषो विषयः ?

कञ्चुकी—देव ! कोऽन्यो जीवितुकामो देवस्य शासनमुल्लङ्घयिष्यति ?

स्वमनोरथशतैरवासं पार्वणं विधिं शरत्पूर्णमोत्सवमिमं कौमुदीमहोत्सवं न भजन्ते
न सेवमानाः दृश्यन्ते इत्यर्थः ॥ १० ॥

टिप्पणी—कौमुदीमहोत्सवोऽयं कामशास्त्रे चात्स्याचनीये कौमुदीजागर इति
नाम्ना स्मृतो दृश्यते । कौमुदीजागरोत्सवः माहिमानीनां सर्वदेशव्यापिनीनां वा
क्रीडानामन्यतमः, आश्वयुज्यां हि पौर्णमास्यां कौमुद्या ज्योत्स्नायाः प्रकर्षेण प्रवृत्ते-
स्तत्र दोलाद्यूतप्रायाः क्रीडाः प्रचलन्तीति । भोजराजस्तु सरस्वतीकण्ठाभरणे
कौमुदीति नाम स्मरत्यस्योत्सवस्य ।

कञ्चुकी—वात कुछ ऐसी ही है महाराज !

राजा—यह क्या ?

कञ्चुकी—महाराज ! ऐसा लगता है जैसे वह.....

राजा—आर्ये ! स्पष्ट करो ।

कञ्चुकी—महाराज ! कौमुदी-महोत्सव रोक दिया गया है ।

राजा—(क्रुद्ध होकर) ऐ ! किसके द्वारा ?

कञ्चुकी—महाराज के सामने इससे अधिक नहीं कहा जा सकता ।

राजा—तो क्या, आर्य चाणक्य ने ही, दर्शकों से, उनके अतिशय रमणीय दृश्य को
छीन लिया ?

कञ्चुकी—महाराज ! और दूसरा कौन है जो जीना चाहे और महाराज की आज्ञा
न माने ।

राजा—शोणोत्तरे ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

प्रतिहारी—देव ! एदं सिंहासो उवबिसदु देवणं । (देव ! एतत् सिंहासनमुपविशतु देवः)

राजा—(नाट्येनोपविश्य) आर्य वैहीनरे ! आर्यचाणक्यं द्रष्टुमिच्छामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः कोपानुविद्धां चिन्तां नाटयन् चाणक्यः)

चाणक्यः—(आत्मगतम्) कथं स्पृह्यते मया सह दुरात्मा राक्षस-हतकः ? कुतः ? —

कृतागाः कौटिल्यो भुजग इव निर्याय नगराद्

यथा नग्दं हत्वा नृपतिमकरोमौर्यवृषलम् ।

तथाऽहं मौर्येन्दोः श्रियमपहरामीति कृतधीः

चाणक्यः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधतन्निमित्तकृतककलहादि चिन्तयन् राक्षसं बुद्धिस्थितं प्रधर्षयन्नाह—कृतागा इत्यादि । राक्षस ! कथं स्पृह्यसे मया सह ! तथाहि—यथा कृतागाः नन्देन कृताप्रियः कौटिल्यश्चाणक्यो भुजग इव पादादिग्रहतस्सर्प इव नगरात्पाठलिपुत्राश्रियाय सक्क्रोधं बहिर्निः सृत्य नन्दं पुनर्हत्वा मौर्यं वृषलं चन्द्रगुप्तं नृपतिमकरोत् , तथाऽहमपि मौर्येन्दोश्चन्द्रगुप्तस्य मौर्यवंशचन्द्रमसः श्रियमपहरामि

राजा—शोणोत्तरे ! बैठने की इच्छा है ।

प्रतिहारी—महाराज ! यह सिंहासन है, बैठ जाय !

राजा—(अभिनय के साथ बैठकर) कञ्चुकी ! आर्य चाणक्य को बुलाओ ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा महाराज !

(बाहर चला जाता है !)

(अपनी कुटी में आसन पर विराजमान, क्रोधपूर्वक चिन्ता का अभिनय करते हुए चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—(स्वगत) तो, क्या दुष्ट राक्षस मुझसे स्पृहा कर रहा है ! क्योंकि—जैसे कभी, कुरुक्षेत्र की भीति, अश्वमेध के प्रतिशोध के लिये, कौटिल्य ने पाटलिपुत्र को

प्रभावं मद्बुद्धेरतिशयितुमेष व्यवसितः ॥ ११ ॥

(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) राक्षस ! राक्षस !! विरम्यतामस्माद्
दुर्व्यवसितात् !

उत्सिक्तः कुसच्चिवदृष्टराज्यतन्त्रो

नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ।

चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते

साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥ १२ ॥

राज्यलक्ष्मीमात्मसात् करिष्यामीत्येवं कृतधीः कृतनिश्चयः एष त्वं मद्बुद्धेः मन्त्रीतेः
प्रभावं सामर्थ्यमतिशयितुमतिवर्तितुं व्यवसितोऽसीति शेष ? इत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यो नायकः कृतमहारम्भः कृतप्रयत्नश्च राक्षसं जेतुमाशास्ते ।
अत्र तर्जनावमाननादिभिरनुभावैः प्राप्तपरिपोषोऽमर्षाख्य उत्साहव्यभिचारी भाव-
स्समुल्लसन्नभूयते सहृदयैरिति चाणक्यनायकस्य प्राप्त्याशा हृदयङ्गमीक्रियते ।

पुनरपि राक्षसमेव बुद्धिस्थमधिचिपश्चाह चाणक्यः—उत्सिक्त इत्यादि । राक्षस !
किं न जानीये यदेव चन्द्रगुप्तः मौर्यवंशचन्द्रमाः महीं विजिगीषुरुत्सिक्तो गर्वितः
कुसच्चिवदृष्टराज्यतन्त्रः कुसच्चिवदृष्टं संचालितं राज्यतन्त्रं यस्य स तथाविधोऽसौ
मृतो नन्दो न भवति । नन्द-मौर्ययोर्महदन्तरमिति भावः । किमिदमपि विस्मरसि
यत्त्वमपि च चाणक्यो नैवाऽपितु राक्षस एवासि ! नास्ति मम समानधर्मा कोप्य-
स्मिन् लोक इत्यभिप्रायः । ते तव साधर्म्यं मया सहेति शेषः, केवलं प्रधानवैरं
प्रबृद्धमात्सर्यमेव कुत इति चेत् ? मदनुकृतेः ममानुकारकरणादेव हेतोर्न बुद्धिविक्र-
मादेरिति शेष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

छोड़ा और नन्द का सर्वनाश कर के मौर्य को महाराज बनाया, वैसे ही, मैं भी चन्द्रगुप्त
से उसकी राजलक्ष्मी छीन लूंगा' इस प्रकार का निश्चय कर क्या वह मेरे बुद्धिविक्रम को
नीचा दिखाना चाहता है ? ॥ ११ ॥

(अपनी दृष्टि ऊपर किये मानों राक्षस को ही सामने एक टक देख रहा हो)
राक्षस, राक्षस ! इन दुष्ट चालों से अपने हाथ खींच लो !

(यह समझ लो कि) यह चन्द्रगुप्त वह नन्द नहीं है जो राजमद में चूर रहा
और जिसके राज्य का शासन-तन्त्र दुष्ट मन्त्री चलाते रहे; और (यह भी समझ लो कि)
तुम भी चाणक्य नहीं, चाणक्य से तुम्हारी बराबरी एक नकल है जिसका कारण, चाणक्य
के समुक्त बुद्धि का ही एक राजा से वैर करके ही ॥ १२ ॥

(विचिन्त्य) अथवा, नातिमात्रमस्मिन् वस्तुनि मया मनः खेदयित-
व्यम् । कुतः ?—

मद्भृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रतिष्ठान्तरै—
रुद्युक्ताश्च नियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्याः स्पृशाः ।
कृत्वा सम्प्रति कैतवेन कलहं मौर्येन्दुना, राक्षसं
भेत्स्यामि स्वभतेन भेदकुशलो ह्येष प्रतीपं द्विषः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्रासूयाभावश्चाणक्यस्योत्साहभरितादेव हृदयादुच्छलन् सहृदयह-
ृदयान्याप्लावयितुमुत्सुको दृश्यते ।

चाणक्यो निश्चितनयप्रयोगः राक्षसपराजयमवश्यंभाविनं निर्धारयन्नाह—मद्-
भृत्यैरिति । मद्भृत्यैरस्मत्पक्षीयैस्तैस्तैः प्रविष्टान्तरैरायत्तीकृतशत्रुहृदयैर्भागुरायणप्र-
भृतिभिः किल सोऽपि पर्वतसुतः राक्षसोपलालितः मलयकेतुर्व्याप्तस्समन्तात् संवृत
एव तिष्ठति, सिद्धार्थकाद्याश्च स्पृशाः सिद्धार्थकप्रमुखा अस्मच्चराः राक्षसामिन्न-
हृदया इव लोकैः प्रतीयमानाः नियोगसाधनविधावस्मदाज्ञानुष्ठानमहाकर्मणि चो-
द्युक्ताः तत्परतयाऽवस्थिता एव वर्तन्ते, सम्प्रत्यशुना कैतवेन व्याजेन न तु वस्तुतः
मौर्येन्दुना चन्द्रगुप्तेन सहेति शेषः, स्वभतेन स्वबुद्धयैव न तु परबुद्धिवशवर्तितया
कलहं कृत्वा भेदकुशलः कृतकृतकस्वपक्षविघटनः करिष्यमाणाऽकृतकपरपक्ष-
विघटने एषोऽहं प्रतीपं मञ्जीतिप्रभावात्प्रतिकूलतया प्रख्यायमानं राक्षसं द्विषः
तथैव प्रख्यायमानाच्छत्रोर्मलयकेतोर्भेत्स्यामि पृथक्करिष्यामीत्यर्थः । आर्वयोर्वैम-
नस्यापादनसंरम्भोऽस्मच्छत्रूनेव भेत्स्यतीत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र प्राप्याशा प्रधानफललाभाशा वा चाणक्यं महोत्साहसंरम्भिणं
कुर्वन्ती प्रकामं समुल्लसन्ती दृश्यते । मतिरूपो व्यभिचारी च भावो नीत्युत्साहं
पुष्पन् सहृदयैर्भाव्यत एवेति सर्वं स्पष्टम् ।

(कुछ सोचकर) अथवा मुझे इन सब बातों में अपना मन खिन्न नहीं करना
चाहिये ।

क्योंकि—

‘अन्तरङ्ग मित्र बने हुये मेरे सेवकों से पर्वतकपुत्र मलयकेतु चारों ओर से घिर चुका
है और अपने-अपने कार्य-सम्पादन में सिद्धार्थक प्रभृति मेरे गुप्तचर तत्पर हो चुके हैं ।
अब, मौर्य चन्द्रगुप्त के साथ, कृतक-कलह (वनावटी झगड़ा) करके, भेदनीति में निपुण
मैं, अपनी नीति से, राक्षस को, शत्रु (मलयकेतु) से फोड़ दूँगा ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—(प्रविश्य) कष्टं खलु सेवा नाम । कुतः ?—

भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो बल्लभा-

दन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः ।

दैन्यादुन्मुञ्चदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायास्यतः

सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१४॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमार्यचाणक्यस्य गृहम्, यावत् प्रविशामि
(नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अहो ! राजाधिराजमन्त्रिणो गृहभूतिः !!
कुतः ?

चन्द्रगुप्तेन चाणक्यं प्रति प्रेषितस्तत्कञ्चुकी महामन्त्रिणो मनस्वितां मनस्येव
श्लाघमानः स्वस्य भृत्यत्वशोचनीयत्वं स्मरन्नाह—भेतव्यं नृपतेरित्यादि । कृतधियः
मनीषिणो मनस्विनो, यदित्यध्याहारः, भृत्यस्य दैन्यात्कार्पण्यादुन्मुखदर्शनापलप-
नैरुन्मुखं मुखमुन्नमय्य यद्दर्शनं स्वामिनो यच्चापलपनं तेन सह काकुभाषितं तैरुपायैः
पिण्डार्थमुदरभरणायायस्यतः क्लिश्यमानस्य सेवां भृत्यजीविकां लाघवकारिणीं
लघुतासम्पादिनीं श्ववृत्तिं शुनो वृत्तिमिव वृत्तिं कुक्कुरचारिकां तज्जीविकां वा विदु-
र्जानन्ति तत्स्थाने सत्यमेवेति । यतो हि सेवकैः प्रथमं नृपतेर्भेतव्यं राज्ञो विभ्यन्निरेव
तत्तदाचरितव्यम्, ततस्तदनन्तरं सचिवतोऽमात्यतो भेतव्यमित्याद्युत्तिस्ततः राज्ञो
बल्लभात् स्नेहभाजनाज्जनाद् भेतव्यमिति पुनरावृत्तिः, ततोऽन्येभ्यश्च ये ह्यस्य राज्ञो
भवने लब्धप्रसादाः प्राप्ताराजानुग्रहा विटा वसन्ति, तेभ्यो भेतव्यमिति पुनरप्या-
वृत्तिरिति प्रतिपदं विभ्यतो भृत्यस्य जीवनं किं जीवनमित्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

कञ्चुकी—(प्रवेश करते हुये) राज-सेवा बड़ी दुखद वस्तु है ।

‘जो भी राज-सेवा करता है उसे, सबसे पहले, राजा से, फिर उसके सचिव से,
फिर उसके स्नेह-पात्र लोगों से और अन्त में उन सब से डरते रहना पड़ता
है जो राजा के कृपापात्र चापलस राजभवन में डेरा डाले रहते हैं । इसीलिये,
बुद्धिमानों ने—यह ठीक ही कहा है कि सेवा कुत्ते की जीविका है जिसमें सेवक को,
दीनतावश, रोटी के टुकड़ों के लिये, स्वामी का मुंह ताकना, झूठ-भूठ की उसकी प्रशंसा
करना और सब प्रकार से अपने आपको उसके सामने नीचा दिखाना पड़ता है ॥ १४ ॥

(इधर-उधर घूमते हुये—देखकर) अरे ! यह रहा आर्य चाणक्य का घर । इसके
भीतर चलो । (भीतर जाने का अभिनय करते हुये—देख कर) आश्चर्य है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
एक चक्रवर्ती सम्राट् के महामन्त्री के भवन का यह वंशवृक्ष है । क्याकि—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां

वटुभिरुपहृतानां वर्हिषां स्तोम एषः ।

शरणमपि समिद्धिः शुध्यमाणाभिराभि-

विनमितपटलातं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥ १५ ॥

ततः स्थाने खल्वस्य वृषलो देवश्चन्द्रगुप्त इति । कुतः ?

स्तुवन्त्यश्रान्तास्याः क्षितिपतिमभूतैरपि गुणैः

प्रवाचः कार्पण्याद् यदवितथवाचोऽपि कृतिनः ।

कञ्चुकी चाणक्यस्य राजाधिराजमन्त्रिणो निस्सङ्गभावं मनस्विताञ्च तद्गृहदर्शनेनानुमिमान आह—उपलशकलमित्यादि । अये ! देवश्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यस्य कृते वृषल इति यत्तत्तु चाणक्यगृहमेव निस्सन्देहं प्रत्याययति । तथा हि अनासक्तियोगिनो गृहमिदं न राजाधिराजमन्त्रिणः स्वसुखामिलापिणः । एकतोऽस्य गृहस्य गोमयानां त्रेताभिसंभरणसमिन्धनार्थं शुष्काणाञ्च करीपगोलकानां भेदकं चूर्णनसाधनमुपलशकलं प्रस्तरखण्डमेतत् पुरो दृश्यमानं तिष्ठति, एष पुरोवर्ती वटुभिर्ब्रह्मचारिभिरुपहृतानामानीतानां वर्हिषां दर्भाणां स्तोमः पिञ्जूलभरो दृश्यते, एतत्पुरोवर्तीत्यध्याहारः, शरणं गृहमपि शुध्यमाणाभिश्शुष्यन्तीभिश्शुष्काभिश्चाभिः प्रत्यक्षं दृश्यमानाभिस्समिद्धिः पलाशादिकाष्टयष्टिभिर्विनमितपटलान्तं भाराधिक्याजीर्णशीर्णत्वाद्वा विभुन्नतृणच्छदिप्रान्तं (पटलं छदिरित्यमरः) जीर्णकुड्यं विशीर्णमिति विराजत एवेति किमन्यत् प्रत्यायनमार्थं चाणक्यस्यानासक्तियोगस्येति भावः ॥ १५ ॥

कञ्चुकी चाणक्यमेव पुनश्चिन्तयन्नाह—स्तुवन्तीत्यादि । यदवितथवाचस्सत्यवादिनः कृतिनो यशस्विनोऽपि कार्पण्याद्धारिद्र्यात् प्रवाचो वाचालास्सन्तोऽश्रान्तास्याः वचने मुखश्रममगणयन्तः क्षितिपतिं राजानमभूतैरपि गुणैरविद्यमानैरपि दयादा-

एक ओर सूखे कंडों को तोड़ने के लिये पत्थर का डुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर ब्रह्मचारियों के शकटों किये कुशों की ढेर लगी है और यह घर भी दिखाई दे रहा है—जिसकी दीवारें टूटी-फूटी हैं और छप्पर के किनारे, ऊपर सूखती समिधाओं के भार से लटक गये हैं ॥ १५ ॥

तब यह ठीक ही है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त इनके लिये 'वृषल' है ! क्योंकि—

यशस्वी और सत्यवादी लोग भी, दीनता के कारण, वाचाल बने हुये, बोलने में थकावट का अनुभव किये बिना, अधिकमान गुणों का भी प्रशंसा करते हुये, राजा की

प्रभावस्तृष्णायाः स खलु सकलः स्यादितरथा

निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥ १६ ॥

(अवलोक्य सभयम्) तदयमार्यचाणक्यस्तिष्ठति ।

यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोक-

मस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम् ।

पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि

धाम्नाऽतिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥ १७ ॥

क्षिण्यादिसौभाग्यैस्तुवन्ति गायन्ति तृष्णायास्स खलु सकलः प्रभावस्स्याद्
अवेदितरथा नो चेत्, निरीहाणां निःस्वार्थवृत्तीनां वीतरागाणां चाणक्यसदृशानां
मनस्विनां कृते ईशः राजा प्रभुर्धनवान् वा सर्वो जनस्तृणमिव तिरस्कारविषयोऽ-
नादरपात्रमेवेति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यचरितस्य किमप्यलौकिकं माहात्म्यं ध्वनितम् ।

कञ्चुकी चाणक्यं वर्णयन्नाह—यो नन्दमौर्यनृपयोरित्यादि । सोऽयं चाणक्यो
महामना विराजते यो हि लोकं परिभूय सर्वान् सहायकान् प्रकृतिवर्गानगणयि-
त्वाऽविभिन्नकालं समकालमेव यथा स्यात्तथा युगपदेवेति यावत्, नन्दमौर्यनृ-
पयोरनन्दचन्द्रगुप्तयोरस्तोदयौ हासविकासौ प्रतिदिशन् ददत् धाम्ना स्वतेजसा सह-
स्रधाम्नस्सूर्यस्य पर्यायपातितहिमोष्णं पर्यायेणायौगपद्येन विभिन्नकालमिति यावत्
पातितं प्रदत्तं लोकयोरिति शेषः, हिमं शैत्यमुष्णत्वं च येन तथाभूतमथ चाऽसर्व-
गामि युगपदेव सकलं लोकं गन्तुं व्याप्तुं यन्न शक्नोति तादृशं धामातिशाययति
सुतरामतिक्रम्य प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तद्धाम तु स्वयमेव सूर्यधामातिशेते तथा-
भूतमपि स्वधाम स प्रयोजयतीति किमु वक्तव्यं तस्येति यावदित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

जो स्तुति करते हैं वह सब तृष्णा की ही महिमा है, नहीं तो, जो निःस्पृह है उसके
लिये राजा, तृण की भाँति, तिरस्कार का विषय है ॥ १६ ॥

तो, ये आर्य चाणक्य बैठे हैं—‘जो, अपने तेज से एक साथ ही, संसार को अभिभूत
कर, नन्द और चन्द्रगुप्त का अस्त और उदय करते हुये, सहसा सर्वत्र न व्याप्त होने वाले
और क्रमशः शीत और आतप करने वाले सहस्रांशु सूर्य के तेज को नीचा दिखा
रहे हैं ॥ १७ ॥

(जानुभ्यां भूमौ निपत्य) जयतु जयत्वायः ।

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य) वैहीनरे ! किमागमनप्रयोजनम् ?

कञ्चुकी—आय ! प्रणतसम्भ्रमसमुच्चलितभूमिपालमौलिमाला-
माणिक्यशकलशिखापिशङ्गीकृतपादपद्मयुगलः सुगृहीतनामधेयो देवश्चन्द्र-
गुप्त आर्यं शिरसा प्रणिपत्य विज्ञापयति—‘अकृतक्रियान्तरायमार्यं द्रष्टु-
मिच्छामी’ति ।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति ? वैहीनरे ! न खलु वृषलश्रवण-
पथं गतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिपेधः ?

कञ्चुकी—आर्य ! अथ किम् ?

चाणक्यः—(सक्रोधम्) आः ! केन कथितम् ?

प्रणतेत्यादि—प्रणताः कृतप्रणामा अत एव सम्भ्रमेण सत्वरं समुच्चलितास्स्वा-
सनस्थानं प्रति गन्तारो ये भूमिपालास्सामन्तीभूता राजानस्तेषां मौलिमालासु
यानि माणिक्यशकलानि प्रत्युप्तानि मणिखण्डानि तेषां शिखाभिर्ज्वालाग्रभागैः
पिशङ्गीकृतं पिङ्गलीकृतं पादपद्मयुगलं चरणकमलद्वयं यस्य स इति ।

अकृतेत्यादि । अकृतः न कृतः क्रियासु कास्वप्यन्तरायो यस्य तथाविधमिति ।

(घुटने टेक कर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक) जय हो ! आर्य की जय हो ।

चाणक्य—(देखने का अभिनय करते हुये) किसलिए आना हुआ वैहीनरे !

कञ्चुकी—आर्य ! प्रातःस्मरणीय सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, जिनके चरणकमल निरन्तर
अभिनन्दनार्थ झुककर आते और जाते राजा-महाराजाओं के मौलिमुकुटों के मणि-
माणिक्यों की रश्मि-शिखाओं से लाल-पीले रहा करते हैं, सिर झुकाये, आप से
निवेदन किया है—यदि किसी अन्य कार्य में विघ्न न पड़े तो आर्य का दर्शन करने की
इच्छा है ।

चाणक्य—क्या वृषल मुझ से मिलना चाहता है ! वैहीनरि ! कहीं ऐसा तो नहीं कि
कौमुदी-महोत्सव के आयोजन के संबंध में मेरी निषेधाज्ञा उसके कान तक पहुँच गयी ।

कञ्चुकी—आर्य ! कुछ ऐसी ही बात है ।

चाणक्य—(मुद्रांशुवक्त्रम्) ऐं किसने कहा ?

कञ्चुकी—(भयं नाटयित्वा) प्रसीदत्वार्थः स्वयमेव सुगाङ्गाप्रासाद-
शिखरगतेन देवेनावलोकितमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम् ।

चाणक्यः—आः ज्ञातं, भवद्भिरेव मदन्तरा प्रोत्साह्य रोषितो वृषलः,
किमन्यत् ?

कञ्चुकी—(सभयं तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति)

चाणक्यः—अहो ! राजपरिजनस्य चाणक्योपरि विद्वेषपक्षपातः ।
अथ क वृषलस्तिष्ठति ?

कञ्चुकी—(भयं नाटयन्) आर्य ! सुगाङ्गाप्रासादगतेन देवेनाहमार्य-
पादमूलं प्रेषितः ।

चाणक्यः—(उत्थाय) कञ्चुकिन् ! सुगाङ्गाप्रासादमार्गमादेशय ।

कञ्चुकी—इत इत आर्यः (इत्युभौ परिक्रामतः)

कञ्चुकी—अयं सुगाङ्गाप्रासादः, शनैरारोदुमहृत्यार्यः ।

चाणक्यः—(नाट्येनारुह्यावलोक्य च सहर्षमात्मगतम्) अये !

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुए) आर्य अप्रसन्न न हों । सम्राट् ने स्वयं
सुगाङ्गाप्रासाद-शिखर से पाटलिपुत्र नगर को देखा कि कहीं भी कौमुदीमहोत्सव नहीं
मनाया जा रहा है ।

चाणक्य—चुप रहो ! मुझे पता है, तुम लोगों ने ही मेरे विरुद्ध उकसा कर वृषल
को रुष्ट कर दिया है । और क्या हो सकता है !

कञ्चुकी—(भयभीत, सिर नीचे झुकाये, चुप खड़ा रहता है)

चाणक्य—ओह ! राज-परिजनों का चाणक्य के साथ ऐसा विरोध—विद्वेष है !
बताओ वृषल कहाँ बैठा है ?

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुए) आर्य ! सुगाङ्गाप्रासाद में बैठे महाराज ने
मुझे आर्यचरणों के पास भेजा है ।

चाणक्य—(उठते हुए) कञ्चुकी ! सुगाङ्गाप्रासाद का मार्ग बताओ !

कञ्चुकी—आर्य इधर से आवें ! (दोनों चलते हैं)

कञ्चुकी—आर्य ! यह सुगाङ्गा-प्रासाद है, धीरे-धीरे ऊपर चढ़ें ।

चाणक्य—(चढ़ने का अभिनय करते हुए, देख कर, प्रसन्नतापूर्वक, स्मरति) अरे !

सिंहासनमध्यास्ते वृषलः साधु साधु—

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजै-

रध्यासितञ्च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।

सिंहासनं सदृशपार्थिवसङ्गतञ्च

प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥ १८ ॥

(उपसृत्य) विजयतां वृषलः ।

राजा—(सिंहासनादुत्थाय चाणक्यस्य पादौ गृहीत्वा) आर्य !
चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

चाणक्यः—(पाणौ गृहीत्वा) उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स !

आ शैलेन्द्राच्छिलान्तस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीताद्,

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं सिंहासनासीनं पश्यन् परमं प्रमोदमनुभवन्नाह—नन्दैरित्यादि । अये ! सिंहासनमिदं पुरोदृश्यमानमनपेक्षितराजराजैस्तिरस्कृतधनाधिपैर्धनाधिपात् कुबेरादप्यधिकधनसमृद्धैर्नवनवतिशतद्रव्यकौटीश्वरैरिति यावत्, नन्दैर्नन्दवंशीयैः नृपैर्वियुक्तं विरहितं यत्, यच्च राज्ञां वृषेण राजराजेश्वरेण वृषलेन चन्द्रगुप्तेनाध्यासितमधिष्ठितं, यदपि च सदृशपार्थिवसङ्गतं यथेदं महार्घं तद्देव महार्घेण राज्ञा विभूषितमिति यावत्, तदेते गुणाः मम परां प्रीतिं प्रगुणयन्ति ध्यायं ध्यायमिमान् विषयान् प्रमोदो ममान्तरात्मनः वर्द्धिष्णुरेवोत्तरोत्तरं विभाव्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तमाशिषाऽभिसंवर्द्धयन्नाह—आ शैलेन्द्रादित्यादि । राजन् !

वृषलः सिंहासन पर विराजमान है । बाह बाह मुझे इन बातों से बड़ा आनन्द मिल रहा है कि यह सिंहासन अपने योग्य राजा से अधिष्ठित है और धनाधिप कुबेर को भी नगण्य मानने वाले नन्दी से खाली है तथा राजश्रेष्ठ मौर्य चन्द्रगुप्त इस पर आसीन हैं ॥ १८ ॥

(समीप पहुँचकर) वृषल की विजय हो ।

राजा—(सिंहासन से उठते हुये, चाणक्य के चरणों को पकड़ कर) आर्य ! चन्द्रगुप्त का प्रणाम स्वीकार हो । उठो ।

चाणक्य—(हाथों में उठते हुये) उठो वत्स ! उठो विजयियों के शत्रु सिरती हुई

आ तीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य ।
 आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
 चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥ १९ ॥

राजा—आर्यप्रसादादनुभूयत एवैतत्, नाऽऽशास्यते । उपविश-
 त्वार्यः । (इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ) ।

चाणक्यः—वृषल किमर्थं वयमाहूताः ?

राजा—आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम् ।

चन्द्रगुप्त ! मत्पादयोः प्रणतस्य तव राजराजेश्वरस्य चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः
 पादयुगलाङ्गुलिजालरन्ध्राः शिलान्तस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीतात् शिलान्तेषु
 शिलानां प्रान्तभागेषु स्खलिताः प्राप्तस्खलनाः प्राप्ताघाता वा ये सुरधुनीशीकरा-
 साराः गङ्गाजलकणधारासम्पातास्तैः शीताच्छीतलादा शैलेन्द्राद् हिमालयात्, नैक-
 रागस्फुरितमणिरुचः नैकरागा विविधवर्णाः स्फुरिताः अवभासमानाः मणिरुचः
 मणिकान्तयस्सन्ति यस्य तस्य दक्षिणस्यार्णवस्य दक्षिणसागरस्य चा तीरादा-
 तटादागत्यागत्य पौनःपुन्येन समेत्य, भीतिप्रणतनृपशतैः भीत्या भयेन नम्रीकृत-
 शिरोभिः परःशतैस्सामन्तीभवद्भी राजभिरशश्वदेव सर्वकालमेव चूडारत्नांशु-
 गर्भाः क्रियन्ताम् स्वमुकुट—प्रत्युप्तमणिकिरणकिर्मोरिता विधीयन्ताम्, आ-
 हिमालयादा सेतोश्च समागतास्सर्वे नरपतयस्त्वां प्रणमन्तिवति संक्षेपार्थं इत्य-
 भिप्रायः ॥ १९ ॥

गङ्गा के शीतल जलकणों के वर्षण से शीतल हिमालय की ओर से और रंग-विरंगे चमकते
 मणियों के किरणपुंज से प्रकाशमान दक्षिणसागर के तीर से आ-आकर, भय से प्रणत
 सहस्रों राजा-महाराजा, तुम्हारे चरणों की अंगुलियों के रन्ध्रभाग अपने मुकुटों में खचित
 रत्नों की रश्मियों से, निरन्तर भरते रहें ॥ १९ ॥

राजा—आर्य ! यह सब तो आर्य की कृपा से हो ही रहा है; इसके लिये आशा क्या
 लगाना है ।

आर्य ! बैठ जाँय । (दोनों यथोचित आसनों पर बैठ जाते हैं)

चाणक्य—वृषल ! किसलिये बुलाया गया मुझे !

राजा—आर्य के दर्शन से अपने आपकी कृताई करने के लिये ।

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल ! अलमनेन प्रश्रयेण, न निष्प्रयो-
जनमधिकारवन्तः प्रभुमिराहूयन्ते, तत् प्रयोजनमभिधीयताम् ।

राजा—आर्य ! कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य किं फलमायं पश्यति ?

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल ! उपालब्धुं तर्हि वयमाहूताः ।

राजा—आर्य ! नोपालब्धुम् ।

चाणक्यः—किं तर्हि ?

राजा—विज्ञापयितुम् ।

चाणक्यः—वृषल ! यद्येवं तर्हि विज्ञापनीयानामवश्यं शिष्येण रुच-
योऽनुरोद्धव्याः ।

राजा—आर्य ! कः सन्देहः ? किन्तु न कदाचिदप्यार्यस्य निष्प्रयो-
जना प्रवृत्तिरित्यस्ति नः प्रश्नावकाशः ।

चाणक्यः—वृषल ! सम्यग्गृहीतवानसि मदाशयम् । न हि प्रयो-
जनमनपेक्षमाणः स्वप्नेऽपि चाणक्यश्चेष्टते ।

विज्ञापनीयानामिति—शिष्यैस्तत्तद् विज्ञापयितुं योग्यानां गुरुणामिति ।

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) वस वस, बहुत हो चुका अनुनय-विनय ! राजालोग
अपने अधिकारियों को बिना प्रयोजन के नहीं बुलाते । प्रयोजन बताओ ।

राजा—आर्य ! कौमुदी-महोत्सव पर प्रतिषेध लगाने में आर्य का क्या उद्देश्य है ?

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) वृषल ! तब तो मुझे उलाहना देने के लिये बुलाया
गया ।

राजा—आर्य उलाहना देने के लिये नहीं ।

चाणक्य—तब क्या ?

राजा—निवेदन करने के लिये !

चाणक्य—वृषल ! यदि ऐसी बात है तो शिष्य का कर्तव्य है कि वह निवेदन के
योग्य आचार्य को इच्छा का अनुसरण करे ।

राजा—आर्य ! इसमें क्या संदेह ! किन्तु आर्य कोई भी कार्य-व्यापार निष्प्रयोजन
नहीं होता इसो से पूछने का अवसर मिला ।

चाणक्य—वृषल ! तुमने मेरा अभिप्राय ठीक ताड़ लिया ! चाणक्य, बिना किसी
प्रयोजन के तो, स्वप्न में भी, कुछ नहीं करता !

राजा—आर्य ! अतएव मां प्रयोजनशुश्रूषा मुखरयति ।

चाणक्य—वृषल ! श्रूयताम्, इह खलु अर्थशास्त्रकाराः त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति । यद्यथा—राजायत्तां, सचिवायत्ताम्, उभयायत्ताञ्चेति । तत् सचिवायत्तसिद्धेर्भवतः किं फलान्वेषणेन ? यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्यामः ।

राजा—(सक्रोध इव मुखं परिवर्तयति) ।

(ततो नेपथ्ये वैतालिकौ पठतः) !

एकः—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्तो
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लृप्तनती कृत्तिमैभीम् ।

त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्तीत्यादि—अत्र कौटिल्यार्थशास्त्रवचनं मण्डलयोन्यधिकरणस्थमनुसंधातव्यम् । तद् यथा—सुखं सिद्धिः । शक्तिस्त्रिविधा ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः, कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः । एवं सिद्धिस्त्रिविधैव मन्त्रशक्तिसाध्या मन्त्रसिद्धिः, प्रभुशक्तिसाध्या प्रभुसिद्धिः, उत्साहशक्तिसाध्या उत्साहसिद्धिरिति । ताभिरभ्युच्चितो ज्यायान् भवति । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिस्समः ।' इति ।

राक्षसप्रयुक्तः वैतालिकन्यञ्जनः प्रथमो गूढप्रणिधिश्चन्द्रगुप्तमुत्तेजयितुं शरदं भङ्ग्या वर्णयन्नाह—आकाशमित्यादि । राजन् चन्द्रगुप्त ! ऐशी तनुरिव शैवी मूर्तिरि-

राजा—आर्य ! इसीलिये प्रयोजन सुनने की इच्छा मुझे बोलने के लिये बाध्य कर रही है ।

चाणक्य—सुनो वृषल ! अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार की सिद्धि (राजसत्ता) का वर्णन किया है :—राजायत्त, सचिवायत्त और उभयायत्त । तुम सचिवायत्त-सिद्धि हो, तुम्हें प्रयोजन से क्या ? यह सब तो मेरा कार्य है ।

राजा—(क्रुद्ध सा होकर मुँह फेर लेता है)

(नेपथ्य में वैतालिकों का प्रशस्ति-पाठ)

पहला वैतालिक—‘राजन् ! काश-कुसुमों की धवलकान्ति को भी अभिभूत करने वाली सन्मङ्गराग-रचना से आकाश की शुभ्र वनानि वाली, (शिरामूर्ध्नि) चन्द्रमा के

कापालीमुद्रहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥ २० ॥

व शरदियं वः सचिवायत्तसिद्धीनात्मनो मन्वानानां युष्माकं क्लेशं सचिवकृतस्व-
नियोगनिग्रहादिरूपं दुःखं हरतु विनाशयतु । कथं भूतैशी तनुः ? काशपुष्पच्छविम-
भिभवता भस्मनाऽऽकाशं शुक्लयन्ती, काशकुसुमाधिकधवलेन भस्माङ्गरागेण
गगनं धवलयन्ती व्याप्य सर्वं जगत् स्थितेति यावत्, तदुपमाना च शरत्
कीदृशी ? भस्माभिभवत्या काशपुष्पच्छव्याऽकाशं शुक्लयन्ती, भस्माधिकधवल्या
काशकुसुमकान्त्या दिगाभोगं धवलधवलं कुर्वन्ती सर्वत्र व्याप्तरूपेति यावत् ;
पुनश्च कथं भूतैशी तनुः ? शीतांशोश्चूडाचन्द्रमसोऽंशुजालैः किरणकलापैर्जलधर-
मलिनां मेघनीलामैर्भी गजासुरसम्बन्धिनीं कृत्तिं क्लिश्नती विवर्णयन्ती स्थिता,
तदुपमिता च शरत्कथम् ? शीतांशोरंशुजालैर्भी कृत्तिमिव जलधरमलिनां मेघ-
मलिनिमानं क्लिश्नती विनाशयन्ती विराजमानेति; पुनरपि कथंरूपैशी तनुः ?
कौमुदीमिव धवलां कापालीं स्रजमुद्रहन्ती चन्द्रज्योत्स्नामिव विमलावदातवर्णां
मुण्डमालां दधाना, शरच्च कथम् ? शिवमुण्डमालिकामिव धवलां कौमुदीं चन्द्र-
चन्द्रिकामुद्रहन्ती दधानेति, पुनश्च कथंभूतैशी तनुः ? शरच्चेति ? अपूर्वा लोकोत्त-
राऽतिरम्या, हासश्रीराजहंसा च राजहंसवदृहासशोभाविभूषिता; राजहंसैर्वा
स्मितशोभिनीति—सर्वात्मना शिवमूल्यां परस्परमुपमानोपमेयभावं चरितार्थयन्ती-
त्यभिप्राय इत्यर्थः ॥ २० ॥

टिप्पणी—अस्यां शरस्तुतौ तत्र तत्र विपरिणामाध्याहारौ समाश्रित्य योऽर्था-
वबोधो विवक्षितो यच्च परस्परौपम्यं प्रस्तुतयोश्शरच्छिवमूत्योरभिप्रेतं तेन सर्वेण

किरण-जाल से, सजल मेघ के समान काले गज-चर्म के परिधान को गीली करने वाली,
चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति धवल कपाल-माला धारण करने वाली और राजहंसों की
शुभ्रछटा के समान अट्टहास की छटा छिटकाने वाली (ताण्डव-नट) महादेव की दिव्य-
मूर्ति की भाँति यह अद्भुत शरद् आपके ताप-संताप दूर करे जिसकी धवल भस्म से भी
बढ़ कर धवल काश-पुष्पच्छवि से समस्त आकाश अत्यन्त धवल बन गया है, जिसकी
चन्द्रज्योत्स्ना से गज-चर्म के समान काले-काले मेघ धुल कर निर्मल हो गये हैं, जिसकी
शुभ्र चन्द्र-किरणों की माला महादेव की मुण्डमाला की भाँति सुशोभित है
और जिसके राजहंसों की शोभा भगवान् शङ्कर के अट्टहास की शोभा सी प्रतीत हो
रही है ॥ २० ॥

अपि च—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्वा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणाम् ,
आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा, जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुखफणाचक्रवालपधानं,
निद्राच्छेदामिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥ २१ ॥

चचसोऽस्य राक्षसप्रयुक्त-निगूढभेदमन्त्रत्वं सुतरां स्फोरितमिति विभावनीयं सुधीभिः ।

स एव वैतालिकच्छद्वा राक्षसपुरुषशरदं भङ्गयन्तरेण वर्णयन् चन्द्रगुप्तमुत्साह-
यन्नाह—प्रत्यग्रेत्यादि । राजन् ! चन्द्रगुप्त ! फणाचक्रवालपधान फणामण्डलमे-
वोपधानं यस्य तथाभूतमुख महन्नागाङ्कं शेषरूपमत एव शेषाङ्कतया प्रख्यातं शयनं
पर्यङ्कं मोक्तुमिच्छोः स्त्रुटितनिद्रत्वात्तत्त उत्थातुकामस्येति यावत् , हरेर्विष्णोः प्रत्यग्रो-
न्मेषजिह्वा प्रत्यग्रस्सद्यस्संजातो य उन्मेषो निमीलनभ्रंशस्तेन जिह्वाऽकूणितान्ता
भृशमलसायमाना वा अत एव रत्नदीपप्रभाणां समुद्रभवनं विद्योतयन्तीनां रत्नदी-
पकिरणानां क्षणं नयनोन्मीलनसमकालं यथा स्यात्तथा अनभिमुखी सम्मुखमत-
स्थुपी, साङ्गभङ्गैर्जृम्भितैस्साङ्गोदैर्मुखव्यादानैश्च कृत्वा जनितजललवा समुत्पन्ना-
श्रुविन्दुसंभृता अत एवात्मव्यापारगुर्वी तत्तद्दर्शनक्रियाऽसमर्था, निद्राच्छेदामि-
ताम्रा निद्राभङ्गेन भृशं लोहितवर्णा, अत एव, आकेकरा किञ्चिन्मात्रं सङ्कुचिता-
दृष्टिशिरं सर्वदा वो युष्मानवतु रक्षत्वित्यर्थः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अत्र शरदि स्त्रुटितनिद्रो विष्णुरिव चन्द्रगुप्तोऽपि शरदुत्सवे विगतनि-
द्रशनैश्शनैस्सर्वं कार्यजातं पश्यत्विति, निगूढोऽर्थः स्फोरितः ।

और भी,

‘फणामण्डल के बने उपधान (तकिया) से सुशोभित अपने नागाङ्क (शेषनाग के
देहरूप और सर्प-शरीर की अनुकृति पर निर्मित) पर्यङ्क से उठ-बैठने के इच्छुक भगवान्
विष्णु की वे अलसायी अधखुली आँखें आपका कल्याण करें जो सहसा निद्राभङ्ग के कारण,
रत्नदीपों की शिखा पर टिक नहीं पातों, जो देह को पेटन ओर जंभाई के कारण, अशु-
कणों से भरी हुई, देखने के अपने कार्य में अलसायी रहती हैं और जिनमें नाँद टूटने से
लाली झलकती है ॥ २१ ॥

द्वितीयः—

सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतो-

र्जतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम् ।

दंष्ट्राभङ्गं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा-

नाऽऽज्ञाभङ्गं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः ॥२२॥

अपि च—भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।

परैरपरिभूतास्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥ २३ ॥

द्वितीयो वैतालिकव्यञ्जनः राक्षसप्रणिधिश्चन्द्रगुप्तं चाणक्याद् विघटयितुमुपस्तु-
चन्नाह—सत्त्वोत्कर्षस्येति । नृवर ! नरश्रेष्ठ ! चन्द्रगुप्त ! त्वादृशास्सार्वभौमाः नृपतयः
चक्रवर्तिनो राजानः ये हि केऽपि लोकोत्तराः कस्यापि हेतोः कस्मैचित् लोकोत्त-
राय प्रयोजनाय धात्रा सत्त्वोत्कर्षस्य चीर्यमहिम्नः निधय इव निधानानीव कृता
रचिताः येऽत एव हेतोस्स्वेन धाम्ना स्वाभाविकेन निजतेजसा मदसलिलमुचां
मदोन्मत्तानां नागयूथेश्वराणां गजराजानां जेतारो विजयिनोऽभिभवितारो वा
भवन्ति, ये हि तस्मादेव कारणाद् व्यक्तमानावलेपाः प्रकटीकृतस्वाभिमान-स्वगौर-
वातिशयाश्च दृश्यन्ते ते खलु मृगाणामधिपतयस्सिंहा दंष्ट्राभङ्गमिवान्येन केनचनापि-
जीवेन क्रियमाणं दन्तोत्पाटनमिवाऽज्ञाभङ्गं नियोगव्याघातं केनापि क्रियमाणं न
सहन्ते न कथमपि ॥ २२ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यो नियोगव्याघाती दण्डनीय इत्यभिप्रायस्पष्टं प्रति-
पादितः ।

स एव वैतालिकस्तमेवार्थमुत्तानीकर्तुं—पुनराह—भूषणाद्युपभोगेनेति । राजन् !

दूसरा वैतालिक—महाराज ! आप सरीखे वे सार्वभौम सम्राट् जो विधाता के द्वारा,
किसी अज्ञात कारणवश, मानव-व्यक्तित्व की महत्ताओं के निधान के रूप में रचे गये होते
हैं, जो अपने तेज से मतवाले गजराजों की सेनाओं के स्वाभियों को पराजित किया करते
हैं और जिसका स्वाभिमान तथा पौरुषदर्प सब पर प्रकट रहा करता है, अपनी आज्ञा का
उल्लंघन उसी प्रकार नहीं सहन करते जिस प्रकार मृगराज दंष्ट्राभङ्ग (दाढ़ों का तोड़ना)
नहीं सहन करते ॥ २२ ॥

और भी,

‘आभूषण आदि के उपभोग से राजा, राजा नहीं होता । राजा बह होता है जो आपके
समान हो ।’ जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न कर सके ॥ २३ ॥

चाणक्यः—(आकर्ण्य आत्मगतम्) प्रथमं तावद्विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनमाशीर्वचनम् । इमदपरं किमिति नावधारयामि । (विचिन्त्य) आः ज्ञातम् । राक्षसस्यायं प्रयोगः । आः दुरात्मन् ! राक्षस-हतक ! दृश्यसे, जागर्ति खलु कौटिल्यः ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! दापयाभ्यां वैतालिकाभ्यां सुवर्णशतसहस्रम् ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) वैहीनरे ! तिष्ठ तिष्ठ, न गन्तव्यम् । वृषल ! किमयमस्थाने एव महानर्थोत्सर्गः क्रियते ?

भूषणाद्युपभोगेन छत्र-चामर-रत्नादिराजभोगेनैव प्रभुः कश्चन राजा प्रभुर्न भवति न सत्यं राजपदं भजते । वस्तुतस्तु यो हि परैः कैश्चनान्यन्यैर्जनैरपरिभूताशोऽवि-घातितनियोगोऽप्रतिहतमनोरथो वा त्वमिव त्वादृशो भवति स एव प्रभुरुच्यते राजेति लोकैर्ज्ञायते कथ्यते चेत्यर्थः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—अत्र विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण शरद्गुणप्रख्यापने राक्षसनिक्षिप्तं भेद-बीजं गूढं यदासीत्तदेवोत्तानीकृतं तिष्ठतीत्युत्तरोत्तरं राक्षसमन्त्रस्य प्रकाशनमेव चाणक्यकृततदुच्छेदस्य निदानमिति सर्वं समञ्जसम् ।

आः ज्ञातमित्यदि । अत्र प्राप्त्याशाऽवस्थाऽवस्थितस्य चाणक्यबीजस्य प्रकर्षे-णाऽविर्भावनादाक्षेपाख्यं गर्भसन्धेरङ्गमुपनिबद्धम् । आक्षेपलक्षणं तु—आक्षेपो बीज-प्रकाशनमिति ।

वैहीनरे ! तिष्ठेत्यादि । अत्र गर्भसन्धेरङ्गं तोटकं निबद्धम् । 'तोटकं गर्भितं वचः'

चाणक्य—(मुनकर स्वगत) पहले विशिष्ट देवताओं की स्तुति के रूप में आशी-र्वादात्मक शरद्गुण के आगमन का गुणवर्णन किन्तु बाद का कुछ समझ नहीं पड़ता । (कुछ सोचते हुये) ओह ! पता चल गया ! यह तो राक्षस की चाल है । अरे दुष्ट राक्षस तुम्हें देख रहा हूँ, कौटिल्य जाग रहा है ।

राजा—आर्य वैहीनरि ! दोनों वैतालिकों को एक-एक लाख स्वर्ण-मुद्रायें दिलवा दो ।

कञ्चुकी—जैसी आज्ञा महाराज ! (उठकर चलता है)

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) वैहीनरि ठहरो, ठहरो ! न जाओ । वृषल ! धन का यह बड़ा भारी व्यवसाय है, यमवध के यों किया जा रहा है !

राजा—आर्येणैवं सर्वतो निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य मम बन्धनमिव राज्यं, न राज्यमिव ।

चाणक्यः—वृषल ! स्वयंजनभियुक्तानां राज्ञामेते दोषाः सम्भवन्ति । तद्यदि न सहसे, तदा स्वयमेवाभियुज्यस्व ।

राजा—एते स्वकर्मण्यभियुज्यामहे ।

चाणक्यः—प्रियं नः, वयमपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे ।

राजा—यद्येवम्, तर्हि कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रयोजनं श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! कौमुदीमहोत्सवानुष्ठानस्य किं प्रयोजनमित्यहमपि श्रोतुमिच्छामि ।

राजा—प्रथमं तावत् ममाज्ञान्याघातः ।

इति तल्लक्षणम् । चाणक्यवाक्येऽत्र क्रोधावेगगर्भिते चन्द्रगुप्तहृदयभेदनसमर्थे लक्षणस्यास्य सुतरां सांगत्यादिति ।

एते स्वकर्मण्यभियुज्यामहे इति । इदं गर्भसन्धेरधिवलं नामाङ्गम् चन्द्रगुप्तस्य सोल्लुण्ठनं वाक्यं चाणक्यस्य तथाभूताद्वाक्यात् स्पर्द्धाधिरूढतयोपनिबद्धमिति सङ्गतमधिवलस्य 'सोपालम्भं वाक्य'मिति लक्षणमत्रेति ।

राजा—मेरे लिये जिसकी चेष्टा का प्रसार आपने सब ओरसे रोक रखा है, यह राज्य-बन्धन है, राज्य नहीं ।

चाणक्य—वृषल ! स्वयं राज्यतन्त्र-संचालन न करने वाले राजाओं के ये दोष हो सकते हैं । यदि तुम्हें यह सख्य नहीं, तो, स्वयं राजकाज देखो ।

राजा—हम स्वयं राजकाज करेंगे ।

चाणक्य—बहुत अच्छा ! हम भी स्वयं अपना काम करेंगे ।

राजा—यदि ऐसी बात है तो कौमुदी महोत्सव के प्रतिषेध का प्रयोजन सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—वृषल ! कौमुदी महोत्सव के अनुष्ठान का क्या प्रयोजन है—यह मैं भी सुनना चाहता हूँ ।

राजा—(आपके द्वारा कौमुदी महोत्सव के प्रतिषेध का) पहला प्रयोजन मेरी आज्ञा का उल्लंघन है ।

चाणक्य—वृषल ! ममापि खलु त्वदाज्ञाव्याघात एव कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रथमं प्रयोजनमिति । कुतः ?—

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनाम्
आपारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम् ।
मालेवाज्ञा सपुष्पा नतनृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः
सा मय्येव सखलन्ती प्रथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम् ॥ २४ ॥

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं व्याहृताज्ञं समाश्वसयन्नाह—अम्भोधीनामिति । राजन् ! चन्द्रगुप्त ! मत्कृतस्त्वदाज्ञाव्याघातस्तवैव गौरवाय नातः किमपि मम समीहितं सिद्ध्यति । तथाहि या तव सार्वभौमस्य सम्राज आज्ञा शासनं तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां तमालप्रभवाणि यानि किसलयानि तैश्श्यामाभि श्यामलानि वेलावनानि तीरवर्तिकाननानि येषां तथाभूतानामथ च चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानां चटुलानि सर्वत्र सञ्चरन्ति यानि तिमिकुलानि महामस्यसमूहाः तैः क्षोभितानि भृशं विलोडितान्यन्तर्जलानि गभीरतलवर्तीनि सलिलानि येषां तथाभूतानां चतुर्णामम्भोधीनां सागराणामापारेभ्यः (अभिविधावाङ्) पारतीरेभ्यः समगतैर्नतनृपतिशतैः सामन्तीभवद्भी राजशतैस्सपुष्पा मालेव पुष्पस्रगिव शिरोभिः प्रणतैर्मस्तकैरुह्यते वक्ष्यत इति यावत्, सा मय्येव सखलन्ती मत्त एव प्राप्तप्रतिघाता सती ते विनयालङ्कृतं प्रभुत्वमेव वक्ष्यति किमपि तव लोकोत्तरं राजैश्वर्यमेव लोकेषु प्रख्यापयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—अत्र गर्भसन्धेरङ्गं क्रमाख्यं निबद्धम् । 'क्रमो भावस्य निर्णय' इति क्रमलक्षणम् । अत्र चाणक्येन भाष्यमानस्य चन्द्रगुप्तप्रभुत्वरूपस्थार्थस्योहः प्रतिभादिवशान्निर्णयः कृत इति सङ्गतं क्रमलक्षणमिति ।

चाणक्य—वृषल ! तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन ही, कौमुदी महोत्सव के प्रतिषेध का, मेरा पहला प्रयोजन है । क्योंकि—

'तुम्हारी आज्ञा, जो तमाल-बोथियों के किसलयों से श्यामल वेला-वनो वाले और चञ्चल तिमि-गणों से विशुद्ध गम्भीर जल चारों समुद्रों के पारों से आ-आकर, तुम्हारे आगे झुके हुये, अनेकानेक सामन्त नरपतियों द्वारा फूल की माला की भांति सिर से स्वीकार की जाती है, मेरे आगे झुकती हुई तुम्हारे विनयावनत प्रभुत्व का ही सर्वत्र प्रसार करती है ॥ २४ ॥

राजा—अथापरमपि प्रयोजनं यत्तच्छ्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—तदपि कथयामि ।

राजा—कथ्यताम् ।

चाणक्यः—शोणोत्तरे ! शोणोत्तरे ! मद्रचनात् कायस्थमचलदत्तं ब्रूहि—‘यत् भद्रभटप्रभृतीनामितोऽपरागादपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां लेख्यपत्रं तत्तावद् दीयतामि’ति ।

प्रतीहारी—जं अञ्जो आणवेदिति । अञ्ज ! एदं पत्तं । (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) (यदर्थं आज्ञापयतीति आर्थ ! इदं पत्रम्)

चाणक्यः—(गृहीत्वा) वृषल ! श्रूयताम् !

राजा—दत्तावधानोऽस्मि ।

चाणक्यः—(वाचयति) स्वस्ति, सुगृहीतनामधेयस्य देवस्य चन्द्र-गुप्तस्य सहोत्थायिनां प्रधानपुरुषाणामितोऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां प्रमाणलेख्यपत्रम् । तत्र प्रथमं तावत् ‘गजाध्यक्षो भद्रभटः, अश्वाध्यक्षः पुरुषदत्तः, महाप्रतीहारस्य चन्द्रभानोर्भागिनेयो हिङ्गुरातः, देवस्य

राजा—और भी कोई प्रयोजन हो तो उसे भी सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—उसे भी कहता हूँ ।

राजा—कहिये ।

चाणक्य—शोणोत्तरे ! शोणोत्तरे !! मेरी ओर से कायस्थ अचलदत्त से कहो कि यहां से असन्तुष्ट हो कर मलयकेतु का आश्रय लेने वाले भद्रभट प्रभृति का जो पत्रलेख है उसे दे दे ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा आर्थ !

(बाहर जाकर पुनः भीतर आते हुये) आर्थ ! यह रहा वह लेख-पत्र !

चाणक्य—(लेकर) सुनो वृषल !

राजा—ध्यान से सुन रहा हूँ ।

चाणक्य—(पढ़ता है) प्रणामादि के बाद विदित हो कि प्रातः स्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त के सहोत्थायी तथा यहां से भाग कर मलयकेतु का आश्रय लेने वाले प्रधान राजपुरुषों की गणना के संबन्ध में लिखा यह पत्र है । इन राजपुरुषों में ये लोग हैं—

सर्वप्रथम १—गजसेनापति भद्रभट ! २—अश्वसेनापति पुरुषदत्त । ३—महाप्रती-
हार, चन्द्रभानु का भागिनेय हिङ्गुरातः, देवस्य चन्द्रगुप्त ।

स्वजनगन्धी महाराजो बलगुप्तः, देवस्यैव कुमारसेवको राजसेनः, सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, मालवराजपुत्रो रोहिताक्षः, क्षत्रगणमुख्यतमो विजयवर्मा इति (आत्मगतम्) एते वयं देवस्य कार्येऽवहिताः स्म इति (प्रकाशम्) एतावदेतत् पत्रम् ।

राजा—आर्य ! एतेषामपरागहेतून् श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयताम्, अत्र यावेतौ गजाध्यक्षाश्चाध्यक्षौ भद्रभट-पुरुषदत्तनामानौ,^५ एतौ खलु स्त्री-मद्य-मृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणेऽनभियुक्तौ इति स्वाधिकाराभ्यामवरोप्य मया स्वजीवनमात्रेणैव स्थापितावित्यपरक्तौ, गत्वा स्वेन स्वेन चाऽधिकारेण व्यवस्थाप्य मलयकेतुमाश्रितौ । यावेतौ हिङ्गुरातबलगुप्तौ, तावत्यन्तलुब्धप्रकृती दत्तं धनमबहुन्यमानौ 'तत्र बहु लभ्येत' इति मलयकेतुमाश्रितौ । योऽप्यसौ भवतः कुमारसेवको राजसेनः सोऽपि तव प्रसादादतिप्रभूतकोषहस्त्यश्वं सहस्रैव सुमहदैश्वर्यमवाप्य पुनरुच्छेदशङ्कयाऽपक्रम्य मलयकेतु-

५—महाराज का कुमार सेवक राजसेन । ६—सेनापति सिंहबल का कनिष्ठ भ्राता भागुरायण । ७—मालवराजपुत्र रोहिताक्ष, और ८—क्षत्रगण-प्रधान विजयवर्मा !

(आत्मगत) हम सभी लोग महाराज के कार्य में सदा सावधान हैं (सुनाकर) वस इतना ही यह पत्र है ।

राजा—आर्य ! मैं जानना चाहता हूँ कि ये लोग हम से क्यों असन्तुष्ट हैं ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो—इन लोगों में ये जो गजसेनानायक और अश्वबलाधिपति भद्रभट और पुरुषदत्त हैं वे स्त्री-मद्य और मृगया में निरन्तर आसक्त रहने के कारण हस्ति-बल और अश्व-बल के संरक्षण-निरीक्षण में सदा असावधान रहे हैं जिसके लिये मेरे द्वारा इन्हें इनके अधिकारों से पृथक् कर जीविका निर्वाह मात्र पर रख दिया गया था और इसी लिये ये यहाँ से असन्तुष्ट होकर मलयकेतु के पक्ष में मिल गये जहाँ इन्हें अपने-अपने कार्यों पर नियुक्ति मिल गयी है । इनमें जो हिङ्गुरात और बलगुप्त हैं वे स्वभावतः अत्यन्त लोभी हैं और जितना भी इन्हें हम देते रहे उसे ये थोड़ा ही मानते रहे और इसलिये 'वहाँ अधिक मिलेगा' यह सोचकर ये मलयकेतु के आश्रम में चले गये हैं । यह जो तुम्हारा कुमारसेवक राजसेन रहा, जिसे तुम्हारी कृपा से अकस्मात् प्रचुर धन-सम्पत्ति और हाथी-घोड़ों का वैभव मिल गया, वह इस वर से कि कहीं

माश्रितः । योऽयमपरः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, असावपि तत्र काले पर्वतकेन सह समुत्पन्नसौहार्दः तत्प्रीत्या च पिता ते चाणक्येन घातितः' इति रहसि त्रासयित्वा मलयकेतुमपवाहितवान्, ततो भवदपथ्यकारिषु चन्दनदासप्रभृतिषु निगृह्यमाणेषु स्वदोषाशङ्क्याऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितः । तेनाऽ'प्यसौ मम प्राणरक्षक' इति कृतज्ञतामनुवर्तमानेन आत्मनोऽनन्तरममात्यपदं प्राहितः । यौ तौ लोहिताक्ष-विजयधर्माणौ, तावप्यतिमानित्वात् स्वदायेभ्यस्त्वया दीयमानमसहमानौ मलयकेतुमाश्रितौ—इत्येषामपरागहेतवः ।

राजा—आर्य ! एवमेतेषु परिज्ञातापरागहेतुषु क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रति-विहितमार्येण ?

चाणक्यः—वृषल ! न पारितं प्रतिविधातुम् ।

राजा—किमकौशलात्, उत प्रयोजनापेक्षया ?

यह सब छिन्न न जाय, यहां से भाग कर मलयकेतु के आश्रय में चला गया है । अब सेनापति सिंहबल का कनिष्ठ भ्राता जो भागुरायण है वह उस समय में ही पर्वतक का घनिष्ठ मित्र रहा है और उसने पर्वतक के साथ मित्रता निभाने के कारण मलयकेतु को डराया और यहां से भगाया है कि 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवा दिया है' । बाद में, तुम्हारे अहितकर चन्दनदास प्रभृति के पकड़ लिये जाने पर, वह भी, अपने अपराध के डर से यहां से भाग कर मलयकेतु का आश्रय ले चुका है और मलयकेतु ने भी इसे अपना प्राण-रक्षक मान कर, कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में, अपने सन्निकट अमात्य के पद पर इसे नियुक्त कर लिया है । इनमें ये जो लोहिताक्ष और विजयवर्मा हैं अत्यन्त स्वाभिमानी, वे इसलिये मलयकेतु के आश्रित हो गये हैं कि उन्हें, तुम्हारे द्वारा उनके सम्बन्धियों को जो कुछ दिया जाता रहा वह सहा नहीं होता रहा । इस प्रकार ये सब कारण हैं जिनसे ये सब लोग असन्तुष्ट हैं ।

राजा—आर्य ! जब इनके असन्तोष के कारणों का पता चल गया था तब अविलम्ब उचित प्रतीकार क्यों नहीं किया गया !

चाणक्य—वृषल ! मुझ से प्रतीकार न हो सका ।

राजा—तथा असमर्थतावश या प्रयोजनवश ?

चाणक्यः—कथमकौशलं भविष्यति, प्रयोजनापेक्षयैव ।

राजा—तदप्रतिविधानप्रयोजनमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयतामवधार्यताञ्च ।

राजा—उभयमपि क्रियते, कथ्यताम् ।

चाणक्यः—वृषल ! इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानम्—अनुग्रहो निग्रहश्चेति । अनुग्रहस्तावत् आक्षिप्ताधिकारयोः भद्र-भट-पुरुषदत्तयोः पुनरधिकारारोपणमेव । अधिकारश्च पुनस्तादृशेषु व्यसनयोगात् अनभियुक्तेषु पुनरारोप्यमाणः सकलस्यैव राज्यस्य मूलं हस्य-

इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानमनुग्रहो निग्रहश्चेति—अत्र कौटिलीयार्थाशास्त्रस्य व्यसनाधिकारिकमधिकरणमनुसंधातव्यम् । तत्र खलु 'द्वेष्यता, शत्रुवेदनं दुःखासङ्गश्च कोपः । परिभवो द्रव्यनाशः पाटञ्चर्यूतकारलुब्धकगायकवादकैश्चानर्थैः संयोगः कामः' इत्यादिभ्यः पुरुषव्यसनानि विवेचितानि । तत्प्रतिविधानञ्च विजिगीषोः पाङ्गुण्याधिकरणे निग्रहानुग्रहाभ्यां प्रतिपादितम् । तदेतत्सर्वं नाटककारोऽयं नाञ्चरार्थं तत्रत्यमादाय निवध्नात्यत्रापि तु तदनुसारिणो व्यवहाराननुसंधायेत्यलं बहूनोक्तेन ।

अनभियुक्तेष्विति—तत्तदभियोगाऽयोग्येषु तत्तदधिकारानर्हेष्विति वा यावत् ।

चाणक्य—असमर्थतावशं क्यो ! प्रयोजनवशं ही !

राजा—क्या मैं जान सकता हूँ कि कौनसा प्रयोजन विशेष रहा जिससे प्रतीकार न किया गया ।

चाणक्य—सुनो और समझो ।

राजा—कहिये, दोनों कर रहा हूँ ।

चाणक्य—वृषल ! राज्य के असन्तुष्ट अधिकारी वर्ग के विषय में दो प्रकार के प्रतीकार संभव हैं—(१) अनुग्रह और (२) निग्रह । अब जिनसे अधिकार छीन लिये गये हैं ऐसे भद्रभट और पुरुषदत्त के प्रति अनुग्रह, उन्हें उनके पदों पर पुनः नियुक्त करना होगा ! किन्तु दुर्व्यसन के कारण अपने-अपने अधिकारों के दायित्व संभालने में अयोग्य ऐसे लोगों को पुनः अधिकार सौंपने से समस्त राज्य का मूल-हस्तिबल और अश्व-बल अपने भाई-दामाद की बढ़ती न सहने वाले, अत्यन्त अभिमानी लोहिताक्ष और विजय वर्मा की किस प्रकार की अनुग्रह प्रसन्न करेगा ? इस प्रकार यह सब सोच

श्रमवसादयेत् । हिङ्गुरात-बलगुप्तयोरत्यन्तलुब्धप्रकृतिकयोः सकल-
राज्यप्रदानेनाप्यपरितुष्यतोरनुग्रहः कथं कर्तुं शक्यः ? राजसेन-भागुरा-
यणयोस्तु धनप्राणनाशभीतयोः कुतोऽनुग्रहस्यावकाशः ? लोहिताक्ष-
विजयवर्मणोरपि दायामसहमानयोरतिमानिनोः कीदृशोऽनुग्रहः प्रीतिं
जनयिष्यतीति परिहृतः पूर्वः पक्षः । उत्तरोऽपि खलु 'वयमचिरादधिगत-
नन्दैश्वर्याः सहोत्थायिनं प्रधानपुरुषवर्गमुप्रेण दण्डेन पीडयन्तो नन्दकु-
लानुरक्तानां प्रकृतीनामविश्वास्या भवाम' इत्यतः परिहृत एव । तदेवमनु-
गृहीतास्मद्भृत्यपक्षो राक्षसोपदेशश्रवणप्रवणो महीयसा म्लेच्छबलेन
परिवृतः पितृवधामर्षी पर्वतकपुत्रो मलयकेतुरस्मानभियोक्तुमुद्यत इति,
सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति । अतो दुर्गसंस्कारे आरब्धव्ये किं
कौमुदोमहोत्सवेन ? इति प्रतिषिद्धः ।

राजा—आर्य ! बहुप्रष्टव्यमत्र ।

चाणक्यः—वृषल ! विश्रब्धं पृच्छ, ममापि बह्वाख्येयमत्र ।

कर पहला (अनुग्रह-) पक्ष छोड़ दिया गया । दूसरा भी (निग्रह-) पक्ष इसलिये
छोड़ देना पड़ा कि कुछ समय से ही नन्दराज्य का ऐश्वर्य हस्तगत करने वाले हमलोग
नन्दवंश में अनुरक्त प्रजाओं के विश्वासपात्र होने के अयोग्य हो जाते यदि उनके
सहोत्थायी प्रधान राजपुरुष वर्ग को भयङ्कर दण्ड द्वारा पीड़ित करते । तो, इस-इस प्रकार
से, हमारे सेवक वर्ग पर अनुग्रह करने वाला, राक्षस के राजनयोपदेश के श्रवण में
दत्तचित्त, बहुत बड़ी म्लेच्छवाहिनी साथ लिये, अपने पिता के वध से अत्यन्त क्रुद्ध
मलयकेतु हम पर आक्रमण करने के लिये उद्यत है । यह समय व्यायाम (सेना-संग्रह
आदि परिश्रम) का समय है न कि उत्सव का समय है । इसलिये राजदुर्ग की सैन्य
सज्जा हमें करनी चाहिये । कौमुदी महोत्सव मनाने से क्या होगा । यह सब सोचकर
(कौमुदी महोत्सवका आयोजन) रोक दिया गया । नाश में मिल जाता । अत्यन्त
लोभी प्रकृति के तथा समस्त राज्य दे देने पर भी असंतुष्ट रहने वाले हिङ्गुरात और
बलगुप्त के प्रति अनुग्रह कैसे किया जा सकता है ? धननाश और प्राणनाश से भयभीत
राजसेन और भागुरायण पर अनुग्रह का अवकाश ही कहाँ है ?

राजा—आर्य ! मुझे इन सम्बन्धों में बहुत कुछ पूछना है !

चाणक्यः—वृषल ! अच्छी तरह पूछो, मुझे भी बहुत कुछ कहना है ।

राजा—एवं पृच्छामि ।

चाणक्यः—अहमप्येष कथयामि ।

राजा—योऽयमस्माकमस्य सर्वस्यैवानर्थस्य हेतुर्मलयकेतुः स कस्मा-
दार्थेणापक्रामन्नुपेक्षितः ?

चाणक्यः—वृषल ! मलयकेतोरप्रक्रमणानुपेक्षणे द्वयी गतिः स्यात् ,
अनुगृह्येत निगृह्येत वा । अनुग्रहे ‘पूर्वप्रतिश्रुतं राज्याद्धं प्रतिपाद्येत’ ।
निग्रहे तावत् ‘पर्वतकोऽस्माभिर्व्यापादित’ इति कृतघ्नतायाः स्वयं हस्तो
दत्तः स्यात् प्रतिश्रुताद्धराज्यप्रतिपादनेऽपि ‘पर्वतकविनाशः केवलं कृतघ्न-
तामात्रफलः स्यात्’ इति मलयकेतुरपक्रामन्नुपेक्षितः ।

राजा—अत्र तावदेवम् । राक्षसः पुनरिहैवान्तर्नगरे वर्त्तमान आ-
र्येणोपेक्षित इत्यत्र किमुत्तरमार्थस्य ?

चाणक्यः—राक्षसोऽपि खलु निजस्वामिनि स्थिरानुरागित्वात् सुचि-

कृतघ्नताया इत्यादि । कृतघ्नता स्वयमस्माभिस्स्वागतीक्रियेतेति ।

राजा—पूछ रहा हूँ ।

चाणक्य—मैं भी बता रहा हूँ ।

राजा—हमारे सभी अनर्थों के मूल इस मलयकेतु के यहाँ से भागने में आपने क्यों
उपेक्षा की ।

चाणक्य—वृषल ! मलयकेतु के यहाँ से भागने में उपेक्षा न करने में दो बातें हो
सकती हैं—उस पर अनुग्रह किया जाता या उसका निग्रह किया जाता । अनुग्रह की
स्थिति में पूर्वकृत सन्धि के अनुसार राज्य का आधा भाग उसे दे देना पड़ता और निग्रह
की स्थिति में पर्वतक की हत्या में हमने जो कृतघ्नता की वह हमारे ही हाथों सुदृढ़ रूप
से प्रमाणित कर दी जाती । साथ ही साथ, यदि पहली सन्धि के अनुसार उसे आधा
राज्य भी दे दिया जाता तब भी पर्वतक की हत्या का प्रयोजन हमारी कृतघ्नता के
अतिरिक्त और कुछ न होता । इसलिए यहाँ से भाग जाने में मलयकेतु की उपेक्षा कर
दी गयी ।

राजा—यहाँ तक तो ठीक हो गया । किन्तु इस नगर में ही राक्षस के पड़े रहने की
उपेक्षा करने में आपका क्या उत्तर है ?

चाणक्य—राक्षस के भी यहाँ से भाग निकलने में उपेक्षा इसलिए की गयी कि वह

रमेकत्र वासाच्च शीलज्ञानां नन्दानुरक्तानां प्रकृतीनामत्यन्तं विश्वास्यः, प्रज्ञा-पुरुषकाराभ्यामुपेतः, सहायसम्पदा युक्तः, कोपबलवानिहैवान्तर्नगरे वर्त्तमानो महान्तं खल्वन्तःकोपमुत्पादयेत् । दूरीकृतस्तु बाह्यकोपमुत्पादयन्नपि न दुःखसाध्यो भविष्यतीत्यतोऽपक्रामन्नुपेक्षितः ।

राजा—तत् किमर्थमिहस्थ एवोपायैर्नोपक्रान्तः ?

चाणक्यः—अथ कथमपक्रान्तो भविष्यति ? ननु उपायैरेवासौ हृदय-शयः शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः । दूरीकरणस्य चोक्तं प्रयोजनम् ।

राजा—आर्य ! कस्माद्विक्रम्य न गृहीतः ?

चाणक्यः—वृषल ! राक्षसः खल्वसौ विक्रम्य निगृह्यमाणः स्वयं वा विनश्येत्, युष्मद्बलानि वा विनाशयेत् । एवं सत्युभयथाऽपि दोषः ।

अन्तः कोपमुत्पादयेदित्यादि—अत्र 'राजा राज्यमि'ति प्रकृतिसंक्षेपः । राज्ञोऽभ्यन्तरो बाह्यो वा कोप इति । अहिभयादाभ्यन्तरः कोपः ब्राह्मकोपात् पापीयान् इत्यादिकौटिलीयार्थशास्त्रवचनानि व्यसनाधिकारिकाधिकरणवर्तीन्यनुहरति वाचो-युक्तिरत्र चाणक्यस्येति कणेहत्य निरीक्षणीयं सुधीभिः ।

अपने महाराज में दृढ़ राजभक्ति के कारण और चिरकाल से एकत्र रहते आने के कारण, नन्द में अनुरक्त प्रकृतिवर्ग का, जो उसके शीलसौजन्य से परिचित थे, परम विश्वासपात्र सा, प्रज्ञा और पौरुष का धनी था, सहाय-सम्पत्ति से युक्त था । कोप और सैन्य से परिपूर्ण इसी नगर में रहते हुये, यहां बहुत बड़ा अन्तःकोप (प्रजाविद्रोह) खड़ा कर सकता था । यहां से दूर कर दिये जाने पर, बाह्यकोप उत्पन्न (बाहर से आक्रमण) करने पर भी, किसी प्रकार वश में किया जा सकेगा—यह सोचकर यहाँ से भाग जाने में, उसकी उपेक्षा कर दी गयी ।

राजा—किन्तु, उसे यहीं रहते हुये उपायों से क्यों नहीं वश में किया गया ?

चाणक्य—भाग कर वह कहाँ जायगा ! उपायों से ही हृदय में गड़े काँटे की भाँति निकाल कर, उसे दूर हटा दिया गया और दूर कर देने का प्रयोजन बता ही चुका हूँ ।

राजा—आर्य बल-प्रयोग से उसे क्यों नहीं वश में किया गया ?

चाणक्य—वृषल ! वह राक्षस है । बल से वश में किये जाने पर या तो वह स्वयं मर-मिटता था तुम्हारी सैन्याधीन का संहार कर देता । दोनों प्रकार से क्षति ही थी ।

राजा—यदि न ज्ञायते, तदा श्रूयताम् । तेन खलु महात्मना—

लब्धायां पुरि यावदिच्छमुषितं, कृत्वा पदं नो गले

व्याघातो जयघोषणादिषु बलादस्मद्वलानां कृतः ।

अत्यर्थं विपुलैः सुनीतिविभवैः सम्मोहमापादिता

विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः ॥ २६ ॥

चाणक्यः—(विहस्य) वृषल ! एतत् कृतं राक्षसेन ?

राजा—अथ किम् ? एतत् कृतममात्यराक्षसेन ।

चाणक्यः—वृषल ! मया पुनर्ज्ञातं, नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतुरधिराज्यमारोपितः ।

कुपितश्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यं कोपयन्नाह—लब्धायां पुरीत्यादि । कोऽपि महात्मा खलु स राजसो येन लब्धायां पुर्यस्माभिरधिकृतेऽपि पाटलिपुत्रनगरे यावदिच्छं यावत्कालं निवसितुमिच्छा तावत्कालं यावती वा दृच्छेति स्वेच्छानुसारं वा नो गले पदं कृत्वाऽस्मान्नेवाविगणयतोपितं स्थितम्, येनाऽस्मद्वलानामस्मत्सैन्यानां जयघोषणादिष्वस्मद्विजयघोषणाप्रभृतिषु तेषु तेषु वैजयिकव्यापारेषु बलात्स्वविक्रमोत्साहादिना व्याघातः कृतः प्रत्यूह आचरितः, यस्य चात्यर्थं विपुलैस्सुनीतिविभवैस्सम्मोहमापादिताः किङ्कर्तव्यविमूढीकृताः नोऽस्माकं मतयो बुद्धयो विश्वास्येष्वपि विश्वासयोग्येष्वपि यथा भद्रभटादिष्विति शेषः, स्वेषु वर्गेषु स्वपक्षीयेषु न विश्वसन्ति न विश्वस्तीभवन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

राजा—यदि आप को पता नहीं तो सुन लीजिये उस महापुरुष ने हमारे अधिकार में आयी पाटलिपुत्र की राजनगरी में, हमारे गले पर पैर रखकर, जबतक चाहा, निवास किया; हमारी सेनाओं के द्वारा की गयी बलपूर्वक हमारी विजय की घोषणाओं में विघ्न-वाधायें उपस्थित कीं और उसी के विपुल-बुद्धिवैभव से किङ्कर्तव्यविमूढ बनी हमारी बुद्धियाँ विश्वासपात्र भी अपने वर्ग के लोगों पर विश्वास नहीं कर पातीं ॥ २६ ॥

चाणक्य(हँसते हुये) वृषल ! तो यह सब राक्षस ने किया ?

राजा—और क्या ! अमात्य राक्षस ने यह सब किया ।

चाणक्य—वृषल ! मैंने तो समझा कि नन्द की भाँति तुम्हें उखाड़-फेंक कर, तुम्हारी भाँति मलयकेतु को, भूमण्डल के राज्य पर प्रतिष्ठापित कर दिया ।

राजा—अलमुपालभ्य । आर्य ! दैवेनेदमनुष्ठितं किमार्यस्य ?

चाणक्यः—हे मत्सरिन् !

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडाम्
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम् ।

केनान्येनावलिता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते

नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥२॥

अपि च—

गृधैरावद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्क्रम्यपक्षै-

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तकृतं राक्षसप्रशंसनमसहमानस्सक्रोधमाह—आरुह्येत्यादि । राजन् !
राक्षसश्लाघिन् ! लोकप्रत्यक्षं सर्वजनसमक्षं यथा स्यात्तथा आरूढकोपस्फुरित-
विषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडाम् आरूढः प्रवृद्धः यः कोपस्तस्य यत्स्फुरणं तीव्रावेशस्तेन
विषमिताभिः प्रचलिताभिरग्राङ्गुलीभिरङ्गुल्यग्रभागैर्मुक्ता श्लथबन्धनीकृता चूडा
शिखा यस्यां तथाभूतां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां सकलानि यानि रिपुकुलानि
तेषां य उच्छेदो विनाशस्तेन दीर्घां दुःखसाध्यामुग्रां कठोरां प्रतिज्ञामारुह्य कृत्वा
केनाऽन्धेन मद्भिन्नेन केन जनेन नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः महाधनिनः महै-
श्वर्यवन्तो वाऽवलिताः गर्वितास्ते पूर्वं नन्दवंशीया राजराजेश्वराः राक्षसस्य
पश्यतः पश्यन्तं राक्षसमनाहत्य ('पष्टी चानादरे' इति पष्टी) पर्यायभूताः पशव
इव हतास्समालम्बिता विनाशिता वेत्यर्थः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यस्य क्रोधस्सहृदये रसीभवन् विभाव्यते तैस्तैरनुभा-
वादिभिः पर्यन्ते च वीररसधारामेव परिपोषयतीति न विरुद्धताऽस्य काऽपीति ।

पुनरपि चाणक्यस्स्वक्रोधविजृम्भितमेव वर्णयन्नाह सगर्व—गृधैरित्यादि ! अरे

राजा—इन उलाहनाओ से क्या ? यह सब तो भाग्य ने किया, आपने क्या किया ?

चाणक्य—अरे ! मेरे प्रति ईर्ष्या करने वाले ?

मेरे अतिरिक्त कौन था जिसने राक्षस के देखते रहते, सारे संसार के सामने, समस्त
शत्रुकुल के समूलोन्मूलन की वह भयङ्कर प्रतिज्ञा की, जिसमें क्रोध के आवेश से काँपती
अपनी उद्दिग्ध अङ्गुलिओं ने (प्रतिशोध की निशानी) शिखा खोली गयी जिसके द्वारा
अगणित धन-सम्पत्ति के स्वामी, महामिमानी महाराज नन्द और उनके वंशधर, बलि के
पशुओं की भाँति, एक के बाद एक, मौत के घाट उतार डाले गये ? ॥ २७ ॥

और भी

देख लो, वे अग्नि-ज्वाला में, जिन्हीं आकाश में चारों ओर चक्कर काटते दौर्ध-

धूमैर्ध्वस्तार्कभासां सघनमिव दिशां मण्डलं दर्शयन्तः ।
नन्दैरानन्दयन्तः पितृवननिलयान् प्राणिनः पश्य चैतान्
निर्वान्त्यद्यापि नैते स्नुतबहलवसावाहिनो हव्यवाहाः ॥ २८ ॥

राजा—अन्येनैवेदमनुष्ठितम् ।

चाणक्यः—आः, केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन ।

चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।

राजा—विद्वांसोऽप्यविकथना भवन्ति ।

मत्सरिन् ! वृषल ! पश्य कस्येदं क्रोधविजृम्भितं यदद्यापि वियति गगन आवद्ध-
चक्रं विरचितमण्डलं यथा स्यात्तथा विचलितैरुड्डीयमानैर्दोर्धनिकम्पपक्षैः दीर्घाः
विपुलास्तथा निष्कम्पाः निश्चलाश्च पक्षा येषां तथाभूतैर्गुणैरेव धूमैर्ध्वस्तार्कभासां
स्थगितरविकिरणनिकराणां दिशां मण्डलं दिवचक्रवालं सघनमिव घनान्धकारितमिव
दर्शयन्तो लोकानिति शेषः, नन्दैश्च पर्यायभूतः पशुभिरिव मया हतैः पितृवननिल-
यान् श्मशानवासिन एतान् प्रत्यक्षं दृश्यमानान् प्राणिनः प्रेतरङ्क-वृक-गोमायुप्रभृ-
तीन् जीवानानन्दयन्तः प्रीणयन्तः एते हव्यवाहा इमे चिताग्नयः स्नुतबहलवसा-
वाहिनो दह्यमानदेहव्युत्तमेदोभज्जितास्सन्तो न निर्वान्ति नैव प्रशाम्यन्त्यपि तु
धगिति मृशः प्रज्वलन्त्येवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—अत्र 'मम नन्दवंशनिर्दहनकोपोऽद्यापि न शान्त' इति रूपेणाऽभिव्यक्त
औग्रथाख्यो व्यभिचारिभावोः वीमत्समुपसर्जनीकुर्वन् वीरमेवोत्तमभयन् वर्णित इति
सुतरां वीर-वीमत्सयोरङ्गाङ्गिभावो निर्व्यूढ इति ।

निष्कम्प पक्षों वाले गृध्रों की भांति अपनी घूम-शिखाओं से, सूर्य-रश्मिओं के आलोक का
विनाश करके, दिशाओं के मण्डल को मेघाच्छन्न सा कर दिया था और जिनके द्वारा जले-
मरे नन्द और उनके वंशधरों की मांस मज्जा से श्मशानवासी प्राणी आनन्दमग्न कर
दिये गये थे, आज भी नहीं बुझ रही हैं ॥ २८ ॥

राजा—यह सब किसी दूसरे ने किया है !

चाणक्य—आह ! कितने ?

राजा—नन्दवंश से द्वेष रखने वाले मान्य ने ।

चाणक्य—भाग्य को मूर्ख लोग मानते हैं ।

राजा—और विद्वान् भी अपने मुँह मियाँ मिट्टी नहीं डबा करते !

चाणक्यः—(सक्रोधम्) वृषल ! वृषल !! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि ?—

शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः,
(भूमौ पादप्रहारं कृत्वा)

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।

प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना

परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥ २९ ॥

राजा—(सावेगं स्वगतम्) अये ! तत् कथं सत्यमेव कुपित आर्यः ?

तथा हि—

संरम्भस्पन्दिपद्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि

अत्र चन्द्रगुप्त—चाणक्ययोः परस्परमुत्तर—प्रत्युत्तररूपस्य संलापस्य क्रोधजन्म-त्वात्सम्फेटरूपं गर्भसन्धेरङ्गम् । सम्फेटलक्षणं यथा—‘सम्फेटः क्रोधजं वचः’ इति ।

चाणक्यः कोपप्रज्वलितमानसश्चन्द्रगुप्तं प्रधर्षयन्नाह—शिखां मोक्तुमित्यादि ।

वृषल ! अयं करः मदीयो हस्तो बद्धामपि पूर्णनन्दप्रणाशप्रतिज्ञत्वाद्वद्धुमिष्टामपि शिखां पुनर्मोक्तुं त्वत्कृत-मदवमानप्रतिशोधनायेति शेषः, धावति प्रसभं प्रसरति, एष चरणः मदीयः पादः प्रतिज्ञामारोढुं मदवमानिनं विनाशयिष्यामीति प्रतिज्ञापथेनाऽतिसंकटेन सञ्चरितुं पुनरपि चलत्यग्रेसरीभवति । अरे ! कालेन परीतः मृत्युना वशीकृत इव त्वमधुना भृत्यभावेन मां यदा स्पृशसि तदा नन्दानां प्रणाशात्प्रशममुपयातमपि प्रशान्तमपि मम क्रोधदहनं कोपाग्निं ननु ज्वलयसि प्रदीपयितुमुत्सहसे इत्यर्थः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—चाणक्यावलम्बनो वीरो रसस्सहृदयहृदयान्यत्र भृशमुदीपयति ।

चन्द्रगुप्तश्चाणक्यं सत्यमेव कृपितं पश्यन् किमपि विचिन्तयन्नाह—संरम्भस्प-

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) वृषल ! वृषल ! हमें क्या तुमने नौकर समझ रखा है ? ‘यह हाथ वैधी हुई भी शिखा को खोलने के लिये दौड़ रहा है ।

(भूमि पर पैर पटकते हुये)

यह पैर फिर भी प्रतिज्ञा पर आरुढ़ होने के लिये चल रहा है । नन्दवंश के प्रणाश से शान्त हुई मेरी क्रोधाग्नि को, तू, जिस पर मौत मंडरा रही है, जला रहा है ॥ २९ ॥

राजा—(उद्दिग्धता के साथ स्वगत) अरे ! तो क्या, आर्य सचमुच कुपित हो गये ! वर्योक्ति, क्रोध के आग्रे से आग्रे पर पलकों के निक्षेपों निर्मल अक्षरों धूल के निक्षेपों निर्माव

भ्रूमङ्गोद्भेदधूमं ज्वालतमिव पुनः पिङ्गया नेत्रभासा ।

मन्ये, रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या

संजातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥ ३० ॥

चाणक्यः—(कृतककोपं संहृत्य) वृषल ! वृषल !! अलमुत्तरोत्तरेण ।
यद्यस्मत्तो वरीयान् राक्षसोऽवगम्यते, तस्मादिदं शस्त्रं तस्मै दीयताम् ।
(इति शस्त्रमुत्सृज्य च आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा स्वगतम्)

राक्षस ! राक्षस !! एष भवतः कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धेः प्रकर्षः ?

न्दीत्यादि । सत्यमेव कुपित आर्यस्तथा हि संरम्भस्पन्दिपक्ष्मचरदमलजलक्षालन-
क्षामयाऽपि संरम्भेण क्रोधावेशेन स्पन्दीन्युत्कम्पवन्ति यानि पक्ष्माणि तेभ्यः चरन्नि-
स्सरद् यदमलं जलं क्रोधाश्रु तेन कृतं यत् क्षालनं तेन क्षामयाऽतिरुक्षयाऽपि
पिङ्गया क्रोधाक्रान्तिपुनरावृत्त्या रक्तरञ्जितया नेत्रभासा नेत्रदीप्त्या (कर्भ्या) भ्रूम-
ङ्गोद्भेदधूमं भ्रुवोर्भङ्गोद्भेद एव धूमो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा पुरः ज्वलि-
तमिवाग्ने प्रज्वलितुमुपक्रान्तमिव । मन्येऽत एव संभावयामि यदार्यस्य पुनः प्रति-
ज्ञामारुह्योः पादघातः पादप्रहारो धरया पृथिव्या ताण्डवेपु विकटविक्रान्तनृत्येषु
रौद्रं रसमभिनयतः हृद्गतं क्रोधं काय-मनो-वाग्व्यापारैः प्रकाशयतः रुद्रस्य
स्मरन्त्या (अधीगर्थद्वयेशां कर्मणीति पद्ये) सत्या संजातोदग्रकम्पं संजातस्समु-
द्भूत उदग्रो विकटः कम्पो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा कथमपि महता क्लेशेन
धारितस्सोढ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—अत्र चन्द्रगुप्तकर्तृकं चाणक्यकोपस्यापायकारकतादिसम्भावनं यत्तद्

थनी, छाल-लाल आखें, भ्रमङ्ग के धूमपुंज के साथ, मानो, पुनः प्रज्वलित हो उठी हैं और
ऐसा लग रहा है जैसे यह पृथिवी, ताण्डवनृत्य के समय, रौद्र रस का अभिनय करने
वाले रुद्र महाशिव का स्मरण करती भयङ्कर रूप से काँपती हुई, बड़े कष्ट के साथ, (आर्य
का) चरणप्रहार सहन कर रही है ॥ ३० ॥

चाणक्य—(कृत्रिम कोप को दूर कर) वृषल ! वृषल !! जवाब लड़ाना बंद करो ।
यदि राक्षस को हमसे बढ़ा समझते हो, तो यह शास्त्र उसे दे डालो । (शस्त्र फेंक कर,
उठते हुये, आकाश की ओर एकटक देखकर स्वगत) ।

राक्षस ! राक्षस !! कौटिल्य की बुद्धि पर विजय पाने के इच्छुक तुम्हारे बुद्धि का यह
सब प्रकट है । Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाणक्यतः स्खलितभक्तिमहं सुखेन
 जेष्यामि मौर्यमिति सम्प्रति यः प्रयुक्तः ।
 भेदः, किलैष भवता सकलः स एव
 सम्पत्स्यते, शठ ! तवैव हि दूषणाय ॥ ३१ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

राजा—आर्य ! वैहीनरे ! 'अद्य प्रभृत्यादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्तः
 स्वयमेव राजकार्याणि करिष्यतीति गृहीतार्थाः प्रकृतयः क्रियन्ताम् ।

कञ्चुकी—(स्वगतम्) कथं निरुपपद एव चाणक्यो, नार्यचाणक्य
 इति । हन्त ! सत्यमेव हृतोऽधिकारः । अथवा न खल्वत्र वस्तुनि
 देवदोषः ।

चिद्रवाख्यं गर्भसन्धेरङ्गम् । विद्रवलक्षणं तु यथा नाट्यदर्पणे—'विद्रवः शङ्के'ति ।
 विद्रवस्य विद्रवत्वं हृदयविद्रावणात् मनःश्लथीकरणाद्वेति ।

चाणक्यः राक्षसोऽसं भेदबीजं सोल्लुण्ठं समुत्पादयन् बुद्धिस्थं तं भृशं प्रधर्षय-
 चाह—चाणक्यत इत्यादि । अरे शठ महाधूर्त ! राक्षस ! यः भेदः भवता भेदपटुना
 'अहं चाणक्यतस्खलितभक्तिं विश्लथानुरागं मौर्यं चन्द्रगुप्तं सुखेन विना कष्टमेव
 जेष्यामि पराभविष्यामी'ति ध्यायं ध्यायं कमपि नीतिप्रयोगं संप्रति यदा मया पूर्व-
 मेव सर्वोऽयं विदितस्तदा प्रयुक्तस्तर्हि एष किल स एव सकलो भेदः तवैव हि दूष-
 णाय त्वत्त एव मलयकेतुं भेत्तुं सम्पत्स्यते परिणस्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यस्य राक्षसनीतिबीजोत्पादनरूपाल्लाभाशंसनात् प्राप्त्या-
 शा शीर्षमुन्नमय्य स्थिता समवलोक्यते सामाजिकैः ।

अरे दुष्ट ! 'चाणक्य के प्रति शिथिल-भक्ति मौर्यं चन्द्रगुप्त को अनायास जीत लूंगा' यह
 सोचकर तुमने जो भेदनीति का प्रयोग किया है, वह सब, अन्ततः, तुम्हारे ही लिये
 अनर्थकर होकर रहेगा ॥ ३१ ॥

(बाहर निकल जाता है)

राजा—आर्य ! वैहीनरे ! आज से चाणक्य की परवाह किये बिना चन्द्रगुप्त स्वयं
 राज-काज करेगा प्रकृतिवर्ग को इस बात से अवगत करा दो ?

कञ्चुकी—(स्वगत) अरे ! बिना सम्मानसूचक पद के केवल चाणक्य 'आर्य
 चाणक्य' नहीं ! सचमुच ही चाणक्यसे अधिकार छीन लिया अथवा महाराज का इसमें
 क्या दोष-

स दोषः सचिवस्यैव यदसत् कुरुते नृपः ।

याति यन्तुः प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम् ॥ ३२ ॥

राजा—आर्य ! किं विचारयसि ?

कञ्चुकी—देव ! न किञ्चिद्विचारयामि, किन्तु एतद्विज्ञापयामि, दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्त इति ।

राजा—(आत्मगतम्) एवमस्मासु गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः, सकामो भवत्वार्यः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! अनेन शुष्ककलहेन शिरो-वेदना मां बाधते, तच्छयनगृहमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—एदु एदु महाराजो (एतु एतु महाराजः) ।

राजा—(आसनादुत्थायात्मगतम्) ।

आर्याज्ञयैष मम लङ्घितगौरवस्य

बुद्धिः प्रवेण्डुमवनैर्विषरं प्रवृत्ता ।

कञ्चुकी राजामात्ययोः कृतककलहं सत्यमेव मन्वान आह—स दोष इत्यादि । स सचिवस्यैव चाणक्यस्यैवेति यावद्, दोषोऽपराधो यन्नुपश्चन्द्रगुप्त इति यावदसत्कुरुते नाद्रियते सचिवमिति शेषः । यतो हि गजो यन्तुर्हस्तिपक्षस्य प्रमादेनैव व्यालत्ववाच्यतां व्यालत्वेन दुष्टगजत्वेन वाच्यतां निन्दनीयतां याति प्राप्नोति, हस्तिपक्षमपि नाद्रियत इति भाव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

चन्द्रगुप्तः कृतककलहेन खिन्नमनाश्चिन्तयति—आर्याज्ञयैवेत्यादि । आर्याज्ञयैव

‘यह तो सचिव का दोष है जो राजा अनुचित कर बैठता है । क्योंकि हाथीवान के प्रमाद से हाथी बंदमाश बन जाता है !’ ॥ ३२ ॥

राजा—क्या सोच रहे हो आर्य ?

कञ्चुकी—महाराज ! कुछ नहीं सोच रहा ! केवल, यही निवेदन करना कि आज से महाराज, महाराज हो गये ।

राजा—(स्वगत) जब और लोग भी ऐसा समझने लगे तब अपनी कार्यसिद्धि के अभिलाषी आर्य चाणक्य का मनोरथ पूरा हो । (सुनाकर) शोणोत्तरे ! इस व्यर्थ के विवाद से मेरा सिर दुख रहा है, शयन-गृह का मार्ग बताओ ।

प्रतीहारी—इधर आवे महाराज !

राजा—(आसन से उठते हुए—स्वगत)

जब कि आर्य की आज्ञा से ही उनके गौरव का अतिक्रमण करने पर मेरी बुद्धि पाताल

ये सत्यमेव न गुरुन् प्रतिमानयन्ति
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा ? ॥ ३३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)
इति मुद्राराक्षसे तृतीयोऽङ्कः ।



आर्यचाणक्यस्य शासनेनैव न तु स्वेच्छया लङ्घितगौरवस्यातिक्रान्तार्यमर्यादस्य कृत-
ककलहेनेति शेषः, मम बुद्धिरवनेर्विवरं पातालं प्रवेष्टुमिव प्रवृत्ता लज्जामस्सितत्वा-
दिति शेषः, ये जनाः सत्यमेव गुरुन् न प्रतिमानयन्ति नाद्रियन्ते नु (वितर्के)
तेषां हृदयं लज्जा कथं न भिनत्ति कुतो न विदारयतीत्यर्थः । आवयोः कृतक-
कलहः मामित्थं पीडयति राक्षसमलयकेत्वोर्यथार्थकलहः किं किं न करिष्यतीत्यभि-
प्राय इति भावः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—अत्र सौर्यकौटिल्ययोः कृतककलह एव कौटिल्यस्य राक्षसवशीकार-
रूपायाः प्राप्त्याशाया उपोद्बलकः । अस्यां खलववस्थायां चाणक्यनायकस्य नीत्यु-
त्साहः कयाऽप्यन्ययैव विचित्रया विधया वर्णनाविपयीकृतः इति किमपि चतुर-
जनचेतोहरं वस्तु-नेतृ-रसानां समुद्रङ्गनमिति निध्यातव्यं नाट्यवेदिभिरिति ।

इति कृतककलहाख्यस्तृतीयोऽङ्कः ।



मैं थंस जाने के लिये तत्पर है, तब, जो लोग वस्तुतः गुरुजनों का अनादर करते हैं उनके
हृदय को, क्योंकि लज्जा फाड़ नहीं देती ॥ ३३ ॥

(सभी पात्र निकल जाते हैं)

कृतककलह नामक तृतीय अङ्क समाप्त ।



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यध्वगवेशः पुरुषः)

पुरुषः—हीमाणहे ! हीमाणहे !! (आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !!)

जोअणसअं समधिअं को णाम गदागदं इह करेइ ।

अत्थाणगमणगुरुई प्पहुणो अण्णा जइ ण होइ ॥ १ ॥

(योजनशतं समधिकं को नाम गतागतमिह करोति ।

अस्थानगमनगुरुका प्रभोराज्ञा यदि न भवति ॥ १ ॥)

ता जाव अमच्चरक्खसस्स उजेव गेहं गच्छामि, भोः ! को एत्थ दुआरिआणं ? णिवेदेइ दाव भट्ठिणो अमच्चरक्खसस्स, एसो क्खु करइ-

पथिकव्यञ्जनोऽस्मात्पराक्षसप्रणिधिर्विदितशत्रुवृत्तान्तस्तत्तन्निवेदयितुं स्वामिने राक्षसाय साधितनियोगमात्मानं प्रकाशयन्नाह—योजनशतमित्यादि । यदि प्रभोर-स्थानगमनगुरुकाऽज्ञा न भवति, यदि स्वामिनोऽस्मात्पराक्षस्य 'करमक ! गच्छ पाटलिपुत्रं, जानीहि विज्ञापय च तत्रत्यं सर्वमुदन्तजातं सत्वरमि'त्यादिरूपाऽज्ञा या ह्यस्थाने निरुद्धस्वच्छन्दसंचरणे निरीक्ष्यमाणसर्वजनगतागते पाटलिपुत्रे यद् गमनं तेन कृत्वा गुरुका कष्टसम्पाद्या-प्राणहारिकेति वा, न भवति तर्हि को नाम मद-भिन्नो मदन्यो वा जनस्समधिकं योजनशतं गतागतं तत्र ततो वाऽत्र गमनागमनं करोति ? न कोऽपीति भावः । महत्या खलु स्वभावात्संपदैवाऽहं ध्रिये इत्यभिप्राय इति ॥ १ ॥

अत्र श्रीदुण्डिराजपण्डितैस्तदनुयायिभिरन्यैश्च टीकाकर्तृभिः 'अथ चतुर्थेऽङ्के राक्षसचारसंवादरूपाऽज्ञा कथा प्रकरी कथ्यते' इति यदुल्लिखितं तत्तु मोहवशत

(पथिक वेप में एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—आश्चर्य ! आश्चर्य !! यदि अनुचित स्थान पर जाने के संबन्ध में स्वामी की आज्ञा न हो, तो, इस लोक में कौन है जो सैकड़ों कोसों से भी अधिक दूरी की यात्रा पर उतारू हो जाय ? ॥ १ ॥

अच्छि, अथ अमात्यराक्षस के घर पहुँचें (एक भाई से वक्तव्य करते) अर ! द्वारपालों

को करहक विअ कज्जं तुवरन्तो पाड़लिपुत्तादो आगदो ति (तद्यावद-
मात्यराक्षसस्यैव गेहं गच्छामि । (परिश्रान्तवत् परिक्रम्य) भोः !
कोऽत्र दौवारिकाणाम् ? निवेदय तावद् भर्तुः अमात्यराक्षसस्य 'एष
खलु करभकः करभक इव कार्यं त्वरयन् पाटलिपुत्रादागतः' इति ।)

दौवारिकः—(प्रविश्य) भह ! मां उच्चं मन्तेहि; एसो अमच्चो
भट्टा कज्जचिन्ताजणिदेण जाअरेण समुप्पण्णसीसवेअणो, अज्ज वि दाव
ण सअणदलं मुच्चदि; तः चिट्ठ दाव मुहुत्तअं, जाप से लद्धावसरो
भविअ, भवदो आगमणं णिवेदेमि । (भद्र ! मा उच्चैर्मन्त्रय, एष खलु
भर्ता अमात्यराक्षसः कार्यचिन्ताजनितेन जागरणेन समुत्पन्नशीर्षवेदनो-
ऽद्यापि तावन्न शयनतलं मुञ्चति; तस्मात् तिष्ठ तावन्मुहूर्तम्, यावत्
तस्य लब्धावसरो भूत्वा भवत आगमनं निवेदयामि)

पुरुषः—भहमुह ! जधा दे रोअदि (भद्रमुख ! यथा ते रोचते ।)

(ततः प्रविशति शयनगत आसनगतेन शकटदासेन
सह चिन्तितो राक्षसः)

एव न नाट्यरहस्यपारवश्यात् । कात्र नाटके स्वपराक्रमबहुमानशालिचाणक्यनेतृके
प्रकर्षपेक्ष्यते ! न राक्षसोऽस्य नाटकस्य नायको यदर्थं प्रकरीं नाटककविरयं प्रकल्प-
येत् ! वस्तुतस्तु चाणक्यस्य प्राप्स्याशाया एवान्तिमपर्वणोऽत्र निपुणं निबन्धं विद-
धाति कविः । ततश्च गर्भसन्धिरयं सर्वोऽपि चतुर्थाङ्कसंदब्धो नाट्यार्थराशिरतो
'नियताक्षिप्रकरीरूपो विमर्शसन्धि'रिति नाट्याक्षरालोचनादिना न मनः खेदयि-
तव्यं सुधीभिरत्र विमर्शपरामर्शपरिवलेक्षैरिति ।

में से कौन है यहाँ ? हमारे स्वामी अमात्य राक्षस से निवेदन करो—'पाटलिपुत्र से
लौट कर, यहाँ काम से करभक आया है—करभक (जँट की भाँति त्वरित गति से ।)

दौवारिक—(प्रवेश करके) जोर से न बोलों भाई । हमारे स्वामी अमात्यराक्षस,
कार्यचिन्ता से जागते रहने के कारण, सिर-दर्द से पीड़ित अभी तक शय्या नहीं छोड़ रहे
हैं । थोड़ी देर रुको, अवसर मिलते ही तुम्हारे आने के संथंध में निवेदन करूँगा ।

पुरुष—भलेमानुस ! जैसी तुम्हारी इच्छा !

(पथङ्क पर लेटे चिन्तामग्न राक्षस और आसन पर बैठे

राक्षसः—(आत्मगतम्)

मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयतां
सहजकुटिलां कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम् ।

अथ च विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे
कथमिदमिद्वेत्युच्चिद्रस्य प्रयान्त्यनिशं निशाः ॥ २ ॥

अपि च—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
वीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।

व्यापृतबहुकृत्योऽमात्यराक्षसश्चिन्तामग्नमात्मानमाविष्कुर्वन्नाहात्मगतम्—मम विमृशत इत्यादि । हन्त ! न जाने किं भावि यतो ह्यनिशं सततमेवोन्निद्रस्य नष्ट-निद्रासुखस्य मम निशास्सर्वा अपि रजन्यः प्रयान्ति व्यतिगच्छन्ति । तथा हि कार्यारम्भे कृत्योपक्रम एव विधेर्भाग्यस्याऽविधेयतां प्रतिकूलतां विमृशतो विचिन्तयतो मम कं निद्रालाभः ? यदि कथञ्चिदारब्धं किञ्चित्कार्यं तर्ह्यपि—कौटिल्यस्य स्वभावत एव कूटकपटपटोश्चाणक्यहतकस्य सहजकुटिलां निसर्गत एव वक्रामत एव च दुर्विज्ञेयां मतिं मत्कार्यव्याघातकारिणीं नीतिं प्रचिन्तयतो विशेषेण विचारयतः कुतस्स्वापसुखम् ! अथ च मत्कृत्यानां विपकन्या—तीचगरसदप्रयोगादिरूपाणां महतामपि मदीयव्यापाराणां निकाममुपग्रहे यथाविराधवर्णितं विपरिवर्त्ते विभाव्यमाने विनिर्णायमाने वेहास्मिन् कर्मणि यथा विपकन्याप्रयोग एव निश्चितसाफल्य इदमचिन्तितोपनतं वैफल्यं कथं किं मद्भाग्यपरिचयात्किमुत शत्रुमाहाभाग्यादितित्यादि संकल्पयतो विकल्पयतो वा कथं शयनोत्सवः ! इत्युच्चिद्रस्यैव विगतस्वापस्यैव यथा दिनानि तथा निशा अपि कष्टवाहितया व्यतियान्तीति भावः ॥ २ ॥

पुनरपि चिन्ताग्रस्तहृदयो राक्षसः किमपि स्वहृदयानुभूतं महत्कष्टं राजनीति-नाटकामिनयनिर्वाहं मनसि कुर्वन्नाह—कार्योपक्षेपमादावित्यादि । हन्त ! क्लेशमय-

राक्षस—(स्वगत) किसी कार्य का आरंभ करते हुए हो, भाग्य की प्रतिकूलता सोचते हुये तथा कौटिल्य की स्वभाव-कुटिल बुद्धि पर चिन्तित होते हुये, हमारे कार्यों के पूर्णरूप से निष्फल बना दिये जाने पर 'यह सब कैसे हो गया ?' इस सोच में सदा, हमारी रातें, जागते-जागते बीत जाती हैं ॥ २ ॥

और भी—

'आरम्भ में कार्य (नाटककार-पक्ष में—मुखसंधि के रूप में नाटकीय वृत्त-चरित-रस-भावादि योजना तथा राक्षस-पक्ष में शत्रुविजय के उद्देश्य से प्रतिपक्ष के उपजाप) का

कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि, पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥३॥

एवायं राजनयमार्गः। राजनयप्रयोगो नाटकाभिनयप्रयोग इव द्रष्टृणां यथा सुखावहो न तथा कर्तृणांम् । तथा ह्यादावारस्मे तनुमपि स्वल्पमपि कार्योपक्षेपं प्रतिपक्षोप-
जापोपग्रहादिरूपस्य कृत्यजातस्योपन्यासं रचयन्नस्मद्विधो जनः राजनयप्रयोक्तेम-
मुन्निद्रताविधायिनं कसपि क्लेशमनुभवत्येव कृत्याकृत्यपक्षादिप्रविचारकर्मणि,
ततश्च तस्योपक्रान्तस्य कर्मणश्शत्रुच्छेदादिप्रयोजनस्य विस्तारं बहुलाभोन्मुखी-
भावमिच्छन् हृदयेन समाशंसमानोऽस्मादृशो जनस्सुतरामनुभवत्येव दुःखं तत्तदा-
ज्ञाऽनुज्ञाप्रदानादिभिस्तदनन्तरं खलु गर्भितानां निपुणं निगूढानां वीजानां स्वो-
सानां शत्रुप्रणाशफलानां मन्त्राणामतिगहनं दुरवगमं गूढमनभिग्यक्तं च फलं साध्य-
मुद्भेदयन् प्रकटमुन्नयन् क्लेशमेव केवलमनुभवति मादृशः राज्यकार्यकरस्तत्तत्कृ-
त्यविघातेष्वपि तत्तत्कृत्यसाफल्यशंसनाभिः, तत्पश्चात् बुद्ध्या कर्मारम्भ-यत्न-
फलौत्सुक्य-तदाप्त्यादिषु प्रज्ञया धारयिष्युतया दक्षतया च वा विमर्शं सिद्ध्य-
संभावनानिरासपूर्वकं सिद्धिनिश्चयादि कुर्वन् विदधानो भृशमेवानुभवति मनःखेदम्,
परतरञ्च पुनः कार्यजातं तत्तन्मन्त्रसंप्रसाध्यानर्थसंभारान् संहरन् समुपक्षिपन्ननु-
भवत्येव भूयोऽप्यन्तेऽपि किमपि कष्टमिति निकामं निर्वेदप्रायोऽयमनात्यभारस्त-
थैव प्रत्येकं पर्वसु समापन्नदुःखस्समुपनतचिन्तो वा यथा नाटककृतो नाटकनिर्माण-
भारो, यत्र हि मुखसन्धौ निर्मास्यमाने वीजोपक्षेपे तत्तदभिनयोपयोगिवस्तु-वृत्त-

संक्षिप्त भी उपक्रम करते हुये, आगे चलकर उसके (नाटककार-पक्ष में-प्रतिमुख संधि के रूप में उपक्रान्त वीजोद्घाटन प्रभृति के व्यापक प्रयत्न के तथा राक्षस-पक्ष में-शत्रुनाश के उद्देश्य से उपक्षिप्त साम-दाम-दण्ड-भेदादि के व्यापक कार्यकलाप के) विस्तार अथवा फलोन्मुखता की अभिलाषा रखते हुये, तदनन्तर गूढरूप से निक्षिप्त वीजों (नाटककार-पक्ष में गर्भसंधि के रूप में नाटकीयवस्तु-चरित-रसभावादि की निगूढ योजनाओं और राक्षस-पक्ष में शत्रुविजय-संबन्धी राजनीतिक गुप्तमन्त्रणाओं) को एक रहस्यपूर्ण ढंग से फलोन्मुख बनाते हुये, आगे चलकर, बुद्धि के द्वारा विमर्श (नाटककार-पक्ष में—विमर्श सन्धि की योजना और राक्षस-पक्ष में—राजनीति-संबन्धी कर्तव्याकर्तव्य-विवेक) करते हुये और इसी प्रकार अन्त में विस्तृत भी समस्त कार्यजात (नाटककार-पक्ष में—निर्वहण संधि के रूप में नाटकीय अर्थराशि और राक्षसपक्ष में शत्रुविजय-संबन्धी कर्तव्यकलाप) का उपसंहार करते हुये, नाटकों के रचयिता या हमारे सरीखे राजनीतिज्ञ इस प्रकार इन सब कष्टों का अनुभव करते हैं ॥ ३ ॥

तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यवदुः—

दौवारिकः—(उपसृत्य) 'जेदु जेदु' (जयतु जयतु)—

रसादिविनिवेशनव्यापारे चित्तसमाधानादिरूपं दुःखम् तदुत्तीर्य प्रतिमुखे प्रारभ्य-
माणे बीजोद्घाटनादिकर्मप्राग्भारे प्रयत्नावस्थापरिच्छेदादिजन्यमन्यदेव किमपि
सतर्कताकारिदुःखम्, तदुत्तरं गर्भसन्धौ निवध्यमाने नायक-प्रतिनायकादिचिन्तित-
लाभालाभादिचिन्ताप्रचुरं प्रवृद्धतरमेव स्वानुभववेद्यं दुःखं, ततोऽग्रे विमर्शसन्धौ
चिकीर्षिते सति नायकस्य फलावाप्तौ संदेहमुग्धस्य प्रत्यूहसम्पात्तादिचिन्तासंकु-
लस्य हृदयेन साकमेव स्वहृदयेनाऽपि तत्तद्रसभावादिनिर्वहणौन्मुख्यादिविकल्प-
नायामन्यादृशमेव दुःखम्, पर्यन्ते चापि निर्वहणसन्धौ विधातव्ये समस्तस्य
नाटकीयार्थराशेः समुपसंहारेऽतिमहदेव सदोन्नितद्राकारि सर्वभावेन तत्तदौचित्य-
परिचिन्तनादिरूपमन्यविधं तत्तदुःखमिति दुःखमयमेव मन्त्राधिकृतत्वमिति ॥३॥

टिप्पणी—(१) अत्र 'कविरदुःखततरनीतिविषयकस्वसंविधानकलेशं राक्षसवच-
नव्याजेन 'प्रस्तौती'ति सिद्धान्तयता नाटकव्याख्यात्रा श्रीदुण्डिराजेन यदुक्तं न
तत् सर्वसहृदयहृदयहारि न वैतन्नाटकप्रस्थानप्रगुणं यतो हि ततोऽप्यधिकतरमानु-
गुण्यमस्य सिद्धान्तस्यात्र यत् 'राक्षस एव तत्तद्व्योगक्षेमनिरतस्सद्योजागृतकर्मयोग-
बोधः लाभालाभौ जयाजयौ च समदर्शितया परिपश्यन् राजनीतिकृत्यं कविकृत्यं
नाटककृत्यमैव वा लोकसंग्रहबुद्ध्या विभावयन् स्वदुःखमपि ताटस्थ्येन परिच्छि-
नन्ति महोदारत्वं च स्वात्मनः प्रकाशयतीति ।

(२) उत वाऽत्र विशाखदत्तो नाटककविर्महता मनोलयेन राक्षसहृदयेन स्व-
हृदयं संवादयन् कमपि राक्षसविषयकं स्वपक्षपातं सहृदयहृदयादर्शं संक्रामयतीति ।
यः महामनोयोगरूपः कलेशाश्चाणक्येन सह मन्त्रयुद्धे राक्षसस्य स एव तादृशो वा
कलेशो नाटककर्तुरप्यस्य नायक-प्रतिनायकगततत्तद्रसभावादिवर्णनाविषये तत्र
तत्र सर्वत्रेति ।

(३) योऽयं दुण्डिराजीयसिद्धान्तो वाच्यायमानो दृश्यते तस्यात्र सिद्धान्ते
भङ्ग्यन्तरानुसरणेन यद् व्यङ्ग्यायमानत्वं तत्रैव कवेस्सरम्भ इत्यपि महालाभस्तु-
मेधसामिति ।

(४) अत्र यद्वर्वाचीनानां टीकाकृतां श्लेपालङ्कारदर्शनमथवा मन्त्रि-नाटक-
कृतोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेकक्रियाभिसम्बन्धादीपकालङ्कारप्रेक्षणमुभयोरुत साङ्ग्यस-

तव भी, कहीं, यह दुष्ट चाणक्य....

दौवारिक—(आसन्नद्वैतकार) विनयी हो ।

राक्षसः—‘अतिसन्धातुं शक्यः स्यात्—’

दौवारिकः—अमच्चो (अमात्यः) ।

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा आत्मगतम्) ‘दुरात्मा चाण-
क्यवदुजयतु, अतिसन्धातुं शक्यः स्यादमात्यः’ इति वागीश्वरी वामा-
क्षिस्पन्दनेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति । तथापि ॥ नोद्यमस्त्याज्यः
(प्रकाशम्) भद्रः; किमसि वक्तुकामः ?

मीक्षणं तदुत्तानमेव किमपि न सुसूक्ष्मं नाटकस्यास्य रामणीयकचिन्तनमिति । अत्र
हि ‘कार्योपक्षेप’मित्यारभ्य ‘पुनः सहरन् कार्यजात’मिति वदन्नेव राक्षसस्त्वात्मानं,
परामृशति—‘इममनुभवति वलेशमस्मद्विधो वे’ति तदुत्तरमेव च स्मरति—‘नाट-
कानां कर्ता वे’ति ततश्च राक्षस-नाटककृतोः परस्परौपम्यं राजनयप्रयोग-नाटक-
निर्माणयोर्वा साधर्म्यपारस्पर्यं प्रसभमुन्मीलितं व्यङ्ग्यरूपमिति । शब्दशक्तिमूलो
ध्वनिरत्रेति वाच्यशोभाकरा अलंकाररूपा धर्मास्तमेवालङ्कार्यं वलितवदना विभाव-
यन्तो दृश्यन्त इत्यलं बहुविकल्पायासेनेति ।

अतिसन्धातुमिति—प्रतारयितुमित्यर्थः । विवशीकर्तुं वा यथा कौटिलीयार्थशा-
स्त्रस्यामृद्वि प्रयोगजाते—‘भिडुकीं वा दूष्यभार्या सांचननीमिरोपधीभिः संवास्य
रसेनातिसंदध्यात् ।’ इत्यत्र यथा वा ‘परोपजापातिसंधानोपाधिभ्यश्च रचेत्’ इत्यत्र ।

‘कस्मिन् प्रयोजने मयाऽयं ग्रहित’ इत्यादिवाच्यसचिन्तोपनिबन्धेनाऽत्र भागुरा-
यणमलयकेतुप्रवेशावसरो गर्भाङ्ग उपनिबध्यते कविना । गर्भाङ्गस्तु—

अङ्कान्तरेव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।

बीजार्थयुक्तियुक्तो गर्भाङ्को नाम विज्ञेयः ॥’ इति ।

तथा ह्यङ्कान्तरेण वर्ण्यमानस्य भागुरायणकर्तृकमलयकेतुप्रतारणादेरत्र पूर्वाङ्क-
वर्णितचाणक्यचिन्तितराक्षसमलयकेतुविषयकमेद्वानुपङ्गिनोऽर्थजातस्य समूहावतर-
णमिति सुश्लिष्टं गर्भाङ्कलक्षणमिति ।

राक्षस—धोखा खा जाता ।

दौवारिक—अमात्य !

राक्षस—(बाई आँख का फड़कना देख-स्वगत) ‘दुष्ट चाणक्य विजयी हो और
अमात्य धोखा खा जाता’ इस प्रकार की यह विचित्र दैवी वाणी वार्यी आँख के फड़कने
से, प्रसंगानुसार इस होनी की सूचना दे रही है । तब भी मुझे प्रयत्न नहीं छोड़ना है ।
(प्रकाशम्) भद्रः; किमसि वक्तुकामः ?

दौवारिकः—अमच्च ! एसो क्खु करहओ पाटलिपुत्तादो आअदो, इच्छदि अमच्चं पेक्खिदुं । (अमात्य ! एष खलु करभकः पाटलिपुत्रादागतः, इच्छति अमात्यं प्रेक्षितुम् ।)

राक्षसः—अवारितं प्रवेशयैनम् ।

दौवारिकः—जं अमच्चो आणवेदि ! (इति निष्क्रम्य पुरुषमुपसृत्य) भद्र ! एसो क्खु अमच्चो चिट्ठदि, ता उपसप्प णं (यदमात्य आज्ञापयति । भद्र ! एष खलु अमात्यस्तिष्ठति, तदुपसर्प एनम् ।)

(इति निष्क्रान्तो दौवारिकः)

करभकः—(राक्षसमुपसृत्य) जेदु जेदु अमच्चो (जयतु जयत्वमात्यः ।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र करभक ! स्वागतम् । उपविश्यताम् ।

करभकः—(इति भूमावुपविशति) जं अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।)

राक्षसः—(आत्मगतम्) (इति चिन्तां नाटयति) अथ कतमस्मिन् प्रयोजने मया अयं प्रणिधिः प्रहित इति प्रभूतत्वात् प्रयोजनानां न खल्ववधारयामि ।

दौवारिक—अमात्य ! पाटलिपुत्र से यहाँ करभक आया हुआ है ! अमात्य से मिलना चाहता है ।

राक्षस—अविलम्ब उसे भीतर आने दो ।

दौवारिक—जैसी आज्ञा अमात्य ! (बाहर जा कर, उस पुरुष के पास पहुँच कर) अरे भाई ! अमात्य विराजमान हैं, उनके पास चलो !

(द्वारपाल चला जाता है)

करभक—(राक्षस के पास पहुँचते हुये) जय हो अमात्य ! जय हो ।

राक्षस—(उसे देखने का अभिनय करते हुये) भाई, करभक ! तुम्हारा स्वागत है । आओ, बैठो ।

करभक—जो आज्ञा अमात्य ! (नीचे बैठ जाता है)

राक्षस—(आत्मगत) कार्याधिक्य के कारण, किस कार्य के लिये इस गुप्तचर को नियुक्त किया गया, उसकी जाँच करने के लिये मैं आया हूँ । (सोचने का अभिनय करते हुये)

(ततः प्रविशति वेत्रपाणिरपरः पुरुषः)

पुरुषः—ओसलध अज्जा ! ओसलध अवेध माणहे ! अवेध । किं ण पेक्खह ? । (अपसरत आर्याः ! अपसरत । अपेत मान्याः । अपेत । किं न पश्यथ ।)

दूले पच्चासत्ती दंसणमवि दुल्लहं अधण्णेहि ।

कल्लाणकुलहराणं देवाणं अ मनुस्सदेवाणं ॥ ४ ॥

(दूरे प्रत्यासत्तिदर्शनमपि दुर्लभमधन्यैः ।

कल्याणकुलधराणां देवनाञ्च मनुष्यदेवानाम् ॥ ४ ॥)

(आकाशे) अज्जा किं भणध, किं णिमित्तं एसा ओसालणा करी-
अदि ? अज्जा ! एसो क्खु कुमालो मलयकेदू समुप्पण्णसीसवेअणं
अमच्चरक्खसं सुणिअ पेक्खिटुं इस ज्जेब आअच्छदि । एदिणा काल-
णेण ओसालणा करीअदि । (आर्याः ! किं भणथ, किं निमित्तमेसाऽप-
सारणा क्रियते ? आर्याः ! एष खलु कुमारो मलयकेतुः समुत्पन्नशीर्ष-
वेदनममात्यराक्षसं श्रुत्वा प्रेक्षितुमिहैवागच्छति । एतेन कारणेनापसारणा
क्रियते । (इति निष्क्रान्तः पुरुषः ।)

मलयकेतुसमागमनं सूचयतः पुरुषस्योक्तिरियम्—दूर इत्यादिरूपा । कल्याण-
कुलधराणां स्वहस्तधृतसकलोकमङ्गलानां कृतमेखवासानां वा देवानामिव महोदा-
रराजवंशप्रभवाणां मनुष्यदेवानां राज्ञां कुमारमलयकेतुसदृशानामिति शेषः,
अधन्यैः पामरैर्जनैः प्रत्यासत्तिस्सामीप्यासिस्तु दूरे दर्शनमपि साक्षात्करणमपि
दुर्लभं दुष्प्राप्यमिति भावः ॥ ४ ॥

आकाश इत्यादि—अन्नाकाशभाषितेन मलयकेतुसमागमोऽवतार्यते ।

(वेंत हाथ में लिये दूसरे पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—हटो, हटो, लोगो ! हटो । क्या देख नहीं रहे हो 'भाग्यहीन लोगों के लिये,
सुमेरु पर्वत के माङ्गलिक देवों के समान लोक-कल्याणकारी मनुष्य-देवों का दर्शन भी
दुर्लभ है, साध्विध्य-लाभ तो दूर की बात है' ॥ ४ ॥

(आकाश की ओर) अरे लोगों ! क्या कह रहे हो ? क्यों तुम्हें हटाया-भगाया जा
रहा है ? लोगो ! कुमार मलयकेतु शिरोव्यथा से पीडित अमात्य राक्षस को देखने श्वर ही
आ रहे हैं । इसी कारणवश हटाने का यह काम किया जा रहा है । (पुरुष निकल जाता है)

(ततः प्रविशति भागुरायणेन कञ्चुकिना चाऽनुगम्यमानो मलयकेतुः)
मलयकेतुः—(निःश्वस्यात्मगतम्) अद्य दशमो मासस्तातस्योपर-
तस्य । न चास्माभिर्वृथा पुरुषकारमुद्वहद्भिस्तमुद्दिश्य तोयाञ्जलिरप्या-
वर्जितः । अथवा, प्रतिज्ञातमेतत् पुरस्तात्—

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्त्तनादकरुणं भूरेणुरुक्षालकम् ।
तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः ॥ ५ ॥

मलयकेतुस्सखेदं प्रतिज्ञातमपि पितृवधनिकारप्रतिशोधमसम्पादितं चिन्तयन् पुनः प्रतिजानीत इति—वक्षस्ताडनेति । हन्त ! न फलितमद्यावधि मनःसमीहितेन मम, किन्तु प्रतिज्ञेयं मम यन्मयता तत्तत्कृत्वा गुरवे पित्रे पर्वतेश्वराय निवापाञ्जलि-
श्चद्वाञ्जलिर्देयस्समर्प्य इति । किं किं कृत्वेति—संप्रति वर्तमाने खलु काले समग्र-
वलसंभारसंभृते सति मयि तादृङ्मातृजनस्य मदीयस्यैवाम्बाजनस्य तथाविध-
भातृस्नेहमयस्य वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलय-वैधव्यदुःखाऽसहिष्णुतया वक्षस उरसो
यानि ताडनानि तैर्भिन्नानि त्रुटितानि खण्डितानि वा रत्नवलयानि यस्मिन्नेव
भूतमवस्थान्तरं दशाविपरिवर्तनं शोकजनितं निकामकरुणं शत्रुस्त्रीषु रिपुनारीषु
विधाय सम्पाद्य कृत्वेति वेति, पुनश्च किं कृत्वेति भ्रष्टोत्तरीयांशुकं भ्रष्टानि स्वस्थाने-
भ्यो दुःखभारेण च्युतानि पतितानि वोत्तरीयांशुकानि क्षौममयान्दुत्तरीयबद्धादीनि
यस्मिन्नेव भूतमवस्थान्तरं शत्रुस्त्रीषु कृत्वेति, पुनश्च किं कृत्वेति—हाहेत्युच्चरितार्त्त-
नादकरुणमवस्थान्तरं शत्रुस्त्रीषु विधायेति हा हेतिरूपा उच्चरिता ऊद्वृता—य

(कुमार मलयकेतु और साथ-साथ भागुरायण तथा कञ्चुकी का प्रवेश)

मलयकेतु—(सांस खींच कर, स्वगत) आज पिता के निधन का दसवाँ महीना है ।
व्यर्थ में अपने बल-पौरुष का अभिमान करते हुये, हमारे, अभी तक उन्हें जल की सी
अंजलि नहीं अर्पित की । अथवा, हमने तो पहले ही प्रतिज्ञा की थी, कि—

‘अपने मातृजन की शोकजनित दुरवस्था को, जिसमें छाती पीटते-पीटते रत्न जटित
चूड़ियाँ टूट गयी थीं उत्तरीय अंशुक (रेशमी डुपट्टे) अस्तव्यस्त हो गये थे, ‘हाय हाय’
के निकलते आर्तनाद से कारुणिकता व्याप्त हो रही थी और (रो-रोकर जमीन पर
गिरने-पड़ने से) केशपाश धूलि धूसरित हो चुके थे, शत्रुनारिओं में उत्पन्न करके, अपने
पिता का शोकपूर्ण सम्पन्न करण ॥ ५ ॥

तत् किमिह बहुना ?

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां

गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा ।

आच्छिद्य वा स्वजननीजनलोचनेभ्यो

नेयो मया रिपुवधूनयनानि बाष्पः ॥ ६ ॥

(प्रकाशम्) आर्य जाजले ! उच्यन्तामस्मद्वचनादनुयायिनो राजानः—‘एक एवाहममात्यराक्षसस्यातर्कितागमनेन प्रीतिमुत्पादयितुमिच्छामि, अतः कृतमनुगमनक्लेशेने’ति ।

आर्त्तनादाः करुणप्रलापास्तैः करुणं शोकमयं रिपुवनितानां दशापरिवर्त्तनं कृत्वेति, पुनश्च शत्रुस्त्रीणां किञ्चिदवस्थान्तरं विधायेति—भूरेणुरुक्षालकमिति भूरेणुभिर्धूलिकणैः रूक्षाः धूसरिताः मलिनीकृता वा अलकाश्चूर्णकुन्तलाः सन्ति यस्मिन्निति तथाविधमित्यभिप्राय इति ॥ ५ ॥

भूयोऽपि कुमारमलयकेतुर्वैरप्रतिशोधमेव प्रतिजानानो वक्ति—उद्यच्छतेत्यादि ।

अलमधिकचिन्तया ! मया हि शीघ्रमेतामकापुरुषानुरूपां वीरपुरुषोचितां धुरं शत्रुप्रणाशादिकार्यभारमुद्यच्छतोद्बृहता (यद्यपि ‘समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थ’ इत्यात्मने पदेनात्र भाव्यं तथापि ‘स्वरितजितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले’ इति सूत्रानुसारं क्रियाफलस्योद्यमनस्य परगामित्वादर्थोद्विपुवधूनयनगामित्वात्परस्मैपदं साभिप्रायं प्रयुक्तं नाटककृतेति विभावनीयम्) स्वजननीजनलोचनेभ्यस्त्वस्य यो जननीजनः मातृवर्गस्तस्य लोचनेभ्यश्शोकाश्रुललितनेत्रेभ्यः, आच्छिद्य दूरीकृत्यापनीय वा वाप्पशोकाश्रुपूरः रिपुवधूनयनानि रिपूणामरीणां वा बध्वोऽबरोधनार्यस्तासां नयनानि, नेत्राणि वा नेत्र्यः प्रापयितव्यो वाऽथवा आजिनिधनेन संग्रामे वीरगतिगमनेन पितुः पथा स्वर्गमार्गेण गन्तव्यं मरणं कामयितव्यमित्यर्थ इति ॥ ६ ॥

अब बहुत कुछ कहने से क्या !

‘वीर पुरुषों के योग्य इस महान् कार्यभार को उठाते हुये, या तो मुझे अपने मातृजन की आंखों से आंसुओं को हटाकर शत्रु-वनिताओं की आंखों में पहुँचा देना है या समर-में वीरगति पाकर स्वर्ग का अनुगमन करना है’ ॥ ६ ॥

(प्रकट रूप से) आर्य जाजले ! अनुयायी राजगण को मेरी ओर से कहो—पूर्व-सूचना दिये बिना, मैं अकेले अमात्य राक्षस के पास जाकर उन्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ । इसलिये वे लोग मेरे पीछे आने का फैसला करें ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः । (परिक्रम्याकाशे) भो भो राजानः ! कुमारः समाज्ञापयति 'न खल्वहं केनचिदनुगन्तव्यः' इति । (विलोक्य सहर्षम्) कुमार ! कुमार !! एते भवदाज्ञासमनन्तरमेव प्रतिनिवृत्ताः सर्व एव राजानः । पश्यतु कुमारः—

सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नै-

रश्वाः कैश्चिन्निरुद्धाः खमिव खरपुटैः खण्डयन्तः पुरस्तात् ।

केचिन्मातङ्गमुख्यैर्विहतजवतया मूकघण्टैर्निवृत्ता

मर्यादां भूमिपाला जलधय इव ते देव ! नोल्लङ्घयन्ति ॥ ७ ॥

कञ्चुकी मलयकेतुं तच्छासनस्य दुरुल्लङ्घ्यतां निवेदयन्नाह—सोत्सेधैरित्यादि । देव ! महाराज ! जलधय इव भूमिपालाः जलैरिव सैन्यैः संभृता असंभृता वा समुद्रा इव सर्वेऽपि भवत्सेनापतयो नरपतयस्ते इव मर्यादां वेलामिवाज्ञां नोल्लङ्घयन्ति तथा हि कैश्चिदश्वारोहिचलाधिपतिभिः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः खरतराः लोह-कण्टककीलितास्तीक्ष्णदन्ताः याः कविनाः खलीनास्तदाकर्षणैरत्यर्थं समधिकं भुग्नैर्नमितैरत एव हेतोः सोत्सेधैरसमुन्नतीकृतमध्यभागैः स्कन्धदेशैर्ग्रीवाभागैरुपलक्षिताः (उपलक्षणे वृत्तीया) अथ च खुरपुटैः शफकोटिभिः पुरस्तात् पुरोभागो खमिव खण्डयन्तो वेगनिरोधाऽसहृतयाऽऽकाशाभोगमेव कुट्टयन्तोऽश्वासैर्न्यहयाः निरुद्धाः नियमिता इति तथा च केचिद् गजसेनामहाबला राजानो विहतजवतया निरुद्धवेगतया मूकघण्टैर्निःशब्दघण्टैर्मातङ्गमुख्यैर्महागजैस्सहेति शेषः, निवृत्ताः प्रतिगता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

कञ्चुकी—जो आज्ञा, कुमार ! (घूम फिर कर, आकाश की ओर) सुनिये, राजगण ! कुमार की आज्ञा है—कोई उनके पीछे न आये । (देखकर हर्ष के साथ) कुमार ! कुमार !! देखिये, कुमार की आज्ञा सुनते ही समस्त राजगण पीछे लौट पड़े ! महाराज ! समुद्र के समान राजगण आपकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रहे हैं—कुछ राजाओं ने, लोहे की कील वाली लगामों के खींचने में अत्यन्त झुके जबड़ों के कारण बहुत ऊँचे लगने वाले कन्धों से सुशोभित और ऊपर उठे खुरपुटों से, मानो, आकाश को खण्ड-खण्ड करने वाले अपने अपने घोड़े रोक लिये हैं और कुछ चाल की तेजी के रक जाने से निःशब्द हुये घण्टों से सुशोभित अपने अपने अहमिताओं के साथ लौट पड़े हैं ॥ ७ ॥

मलयकेतुः—आर्य जाजले ! त्वमपि सपरिजनो निवर्तस्व । भागुरायण एको मामनुगच्छतु ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः । (इति सपरिजनो निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! विज्ञापितोऽहमिहागच्छद्विभद्रभट-
प्रभृतिभिः, यथा—‘न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयणीयमाश्रया-
महे, किन्तु कुमारस्य सेनापतिं शिखरसेनमूरीकृत्य, दुष्टामात्यपरिगृही-
ताच्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः सन्तः कुमारमाभिगामिकगुणयोगादाश्रयणीयमाश्र-
यामहे’ इति । तन्मया सुचिरमपि विचारयता तेषां न वाक्यार्थोऽधिगतः ।

टिप्पणी—अत्र स्वभावोक्तिः स्वदते सुधीभ्यः ।

आभिगामिकगुणयोगादिति—यद्यपि तेषु तेषु नाटकस्यास्य प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु
‘आभिरामिकगुणयोगादि’ति पाठस्तथापि वस्तुतोऽत्राभिगामिकगुणयोगादित्येव पाठः
साधुः, राज्ञां खलु द्विविधाः गुणाः भवन्ति, अथ पूर्वे ये ह्यात्मसंपत्संज्ञका अथ चापरे
ये ह्याभिगामिका इत्युच्यन्ते । तथोक्तमर्थशास्त्रे मण्डलयोन्यधिकरणे प्रथमाध्याये—

‘महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्त्वसंपन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविसंवादकः
कृतज्ञः स्थूललक्ष्मी महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिपत्को
विनयकाम इत्याभिगामिकाः गुणाः’ इति ।

विजिगीपुमित्यारभ्य ननु न्याय्य एवायमित्यन्तं यद्वचस्तत्तु सुतरामनुहरति
कौटिलीयार्थशास्त्रवचनम् । तथा हि तत्र—

मलयकेतुः—आर्य जाजले ! परिजनो के साथ तुम भी लौट जाओ । अकेला भागुरायण
मेरे साथ चले ।

कञ्चुकी—कुमार की जैसी आज्ञा । (अनुचरों के साथ चला जाता है) ।

मलयकेतुः—भागुरायण ! भद्रभट प्रभृति जब मेरे पास आये थे तब उन्होंने मुझ से
कहा था—‘हम लोग, अमात्य राक्षस के माध्यम से, अपने आश्रयदाता कुमार की शरण
में नहीं आ रहे हैं, अपितु कुमार के सेनापति शिखरसेन को माध्यम बना कर महादुष्ट
आणक्य के वशीभूत चन्द्रगुप्त से सम्बन्ध तोड़, राजा के आभिगामिक गुणों से संपन्न
होने के नाते आश्रयग्रहण के योग्य कुमार का आश्रय ले रहे हैं ।’ किन्तु, बहुत सोचने
पर भी, उनका इस वाक्य का अर्थ मेरी समझ में नहीं आता ।

भागुरायणः—कुमार ! नायमत्यन्तदुर्बोधोऽर्थः । पश्य—‘विजिगीषुमात्मगुणसम्पन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयणीयमाश्रयेदि’ति ननु न्याय्य एवायम् ।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! नन्वस्माकममात्यराक्षसः प्रियतमो हिततमश्च ।

भागुरायणः—कुमार ! एवमेतत्, किन्तु अमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न तु चन्द्रगुप्ते, तद्यदि कदाचिच्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यमतिजितकाशिनमसहमानः साचिव्यादवरोपयेत्, ततो नन्दकुलभक्त्या, ‘नन्दान्वय एवायमि’ति कृत्वा, सुहृज्जनापेक्षया च, अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह सन्धीत । चन्द्रगुप्तोऽपि ‘पितृपारम्पर्यागत एवायमि’ति कृत्वा सन्धिमनुमन्येत । एवं सत्यस्मात्स्वपि कुमारो न विश्वसेदित्ययमेषां वाक्यार्थः ।

‘लोकयात्राविद्राजानमात्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयेत् । यं वा मन्येत यथाऽहमाश्रयेत्सुरेवमसौ विनयेत्सुराभिगामिकगुणयुक्त इति’ । यदुक्तं योगवृत्ताधिकरणे चतुर्थाध्याये तस्यैवात्र विनियोग इति ।

अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह संदधीतेत्यादि यद् भागुरायणवचनं मलयकेत्वतिसंधानपरं तद्धि चाणक्यनीतिबीजस्य निपुणमवमर्शनमिति प्राप्स्याशामेव चाणक्यस्य सुतरां प्रकारान्तरेणाभिव्यनक्तीति ।

भागुरायण—कुमार ! इसका अर्थ बहुत कठिन नहीं है देखो ! ‘किसी प्रेमी-हितैषी के माध्यम से, आत्मसंपत् तथा अभिगामिक गुणों से संपन्न विजिगीषु राणा का आश्रय लेना चाहिये—यह अर्थ तो यहाँ न्याय-संगत ही है ।

मलयकेतु—मित्र, भागुरायण ! किन्तु अमात्य राक्षस तो हमारे परमप्रिय और परम हितकारी हैं ?

भागुरायण—कुमार ! यह ठीक है ! किन्तु अमात्य राक्षस चाणक्य का कट्टर शत्रु है न कि चन्द्रगुप्त का इस प्रकार, यदि कभी चन्द्रगुप्त चाणक्य को नहीं बर्दास्त कर सके क्योंकि वह अपनी विजय के अहंकार में चूर है और उसे मन्त्रिपद से हटा दे, तथा नन्द वंश में भक्ति होने के कारण, ‘चन्द्रगुप्त तो नन्द का ही वंशज है’ यह सोचकर तथा मित्र की सुरक्षा की दृष्टि से अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त से मिल जाय और चन्द्रगुप्त भी ‘यह तो वंशपरम्परा है ।’ यह सोच उसके साथ सन्धि की बात मान लें, तब कुमारका हम लोगों पर भी विश्वास नहीं उठेगा—यह सब उनके वाक्य का अर्थ है ।

मलयकेतुः—युज्यते । सखे भागुरायण ! अमात्यराक्षसस्य गृह-
मार्गमादेशय ।

भागुरायणः—इत इतः कुमारः (इत्युभौ परिक्रामतः) कुमार ! इदम-
मात्यराक्षसस्य गृहं, प्रविशतु कुमारः ।

मलयकेतुः—एष प्रविशामि (इत्युभौ प्रवेशनं नाटयतः)

राक्षसः—(आत्मगतम्) आः ! स्मृतम् (प्रकाशम्) भद्र ! अपि
दृष्टस्त्वया कुसुमपुरे वैतालिकः स्तनकलशः ।

करभकः—अमच्च ! अध इं (अमात्य ! अथ किम्)

मलयकेतुः—सखे ! भागुरायण ! कुसुमपुरवृत्तान्तः प्रस्तूयते, तन्नो-
पसर्पावः शृणुवस्तावत्—

सत्त्वभङ्गभयान्नाम्नां कथयन्त्यन्यथा पुरः ।

अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः ॥ ८ ॥

मलयकेतुः राक्षस-गुप्तचरयोः पाटलिपुत्रवृत्तान्तप्रस्तावमाकर्णयन्निभृतं तच्छ-
वणोन्मुखो भागुरायणं संज्ञापयितुकाम आह—सत्त्वभङ्गभयादिति । भागुरायण !
निभृतं पाटलिपुत्रवृत्तान्तजातं शृणुवो यतो हि मन्त्रिणोऽमात्यादयः राज्ञां सत्त्व-

मलयकेतु—ठीक है । मित्र भागुरायण ! अमात्य राक्षस के गृह का मार्ग बताओ ।

भागुरायण—इधर आइये कुमार ! (दोनों चलते हुये) कुमार ! यह रहा अमात्य
राक्षस का घर, भीतर चलिये ।

मलयकेतु—चलो, भीतर चल रहा हूँ । (दोनों भीतर प्रवेश करने का अभिनय
करते हुये)

राक्षस—(आत्मगत) ओह ! याद आया ! (प्रकट रूप से) क्यों भाई ! क्या,
पाटलिपुत्र में, वैतालिक स्तनकलश से तुम मिले ?

करभक—अमात्य ! और क्या ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! पाटलिपुत्र का वृत्तान्त चल रहा है, वहाँ जाना ठीक
नहीं । पहले यहीं से सुनें । क्योंकि—

मन्त्रिण राजाओं की मनःस्थिति बिगड़ने के भय से, राजाओं के समक्ष, कोई बात
और ढंग से कहते हैं और परस्पर स्वच्छन्द वार्तालाप में जिसमें सारी बातें स्पष्ट होती
रहती हैं, उन्हीं बातों को दूसरे की धुन से कहते हैं ।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः ।

राक्षसः—भद्र ! अपि तत् कार्यं सिद्धम् ?

करभकः—अमच्छस्स प्पसाएण सिद्धम् (अमात्यस्य प्रसादेन सिद्धम् ।)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! किं तत् कार्यम् ?

भागुरायणः—कुमार ! गहनः खलु सचिववृत्तान्तो नैतावता परिच्छेत्तुं शक्यते, अवहितस्तावच्छृणु ।

राक्षसः—भद्र ! विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

करभकः—सुणादु अमच्चो, अत्थि दाव अहं अमच्चेणाणत्तो, जधा—
‘करभअ ! कुसुमपुरे गच्छिअ भणिदच्चो मम वअणेण तुए वैआलिओ
त्थणकलसो, जधा—‘चाणक्कहदएण तेसुं तेसुं अण्णाभङ्गेसुं चन्दउत्तो
समुत्तेअणसमत्थेहिं सिलोएहिं उवसिलोअइदच्चोत्ति (शृणोत्वमात्यः,
अस्ति तावदहममात्येनाज्ञप्तो यथा—‘करभक ! कुसुमपुरं गत्वा मम वच-
नेन त्वया भणितच्चो वैतालिकः स्तनकलशः, यथा—चाणक्यहतकेन

भङ्गभयात् राज्ञां सत्त्वस्य मनसः मनोहर्षस्य वा भङ्गो विनाशो माभूदिति भिया
तेषां पुरोऽग्रे—किमपि वृत्तमित्यध्याहारः—अन्यथा भिन्नेनैव प्रकारेण कथयन्ति
वर्णयन्तीत्यर्थः । किन्तु विवृत्तार्थेषु विवृताः विस्पष्टं प्रकटीकृता अर्थास्तत्तद्विव-
क्षितविषयाः येषु तथाभूतेषु स्वैरालापेषु सुहृद्भिस्सह निवृत्तं कृतासु तदेवान्यथाऽ-
न्येनैव प्रकारेण कथयन्ति आपन्त इत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

भागुरायण—जी आज्ञा, कुमार !

राक्षस—क्यों भाई ! क्या वह काम बना ?

करभक—अमात्य की कृपा से बन गया ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! वह कौन कार्य है ?

भागुरायण—कुमार ! इतने ही से समझ में नहीं आ सकता पहले ध्यान से सुनो ।
यह सचिव-वृत्तान्त बड़ा गूढ़ है ।

राक्षस—भद्र ! विस्तार से सुनने की इच्छा है ।

करभक—सुनिये, अमात्य ! आपने मुझे आज्ञा दी थी—‘करभक ! पाटलिपुत्र आकर,
वहाँ वैतालिक स्तनकलश को मेरी ओर से कहना कि जब-जब बुद्ध चाणक्य चन्द्रगुप्त की

तेषु तेषु आज्ञाभङ्गेषु अनुष्ठेयमानेषु चन्द्रगुप्तः समुत्तेजनसमर्थः श्लोकै-
रुपश्लोकयितव्यः' इति ।)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदो मए पाटलिउत्तं गच्छिअ सुणाविदो अमच्चस्स
सन्देसं वैआलिओ त्थणकलसो (ततो मया पाटलिपुत्रं गत्वा श्रावितोऽ-
मात्यस्तं सन्देशं वैतालिकः स्तनकलशः ।)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—एत्थन्तरे णन्दकुलविणासद्वन्मणस्स पोरजणस्स परिओसं
सम्पुपाअन्तेण चन्दउत्तेण आघोसिदो कुसुमउरे कौमुदीमहोत्सवो ।
सोवि चिरआलपवत्तमाणो जणिदपरिओसो अहिमदबन्धुजणसमागमो
विअ ससिणेहं बहुमाणिदो णअरजणेण (अत्रान्तरे नन्दकुलविनाशदुर्मनसः
पोरजनस्य परितोषं समुत्पादयता चन्द्रगुप्तेनाघोषितः कुसुमपुरे
कौमुदीमहोत्सवः । सोऽपि चिरकालप्रवर्तमानो जनितपरितोषः अभि-
मतबन्धुजनसमागम इव सस्नेहं बहुमानितो नगरजनेन ।)

अभिमतबन्धुजनसमागम इवेति—अत्र पाटलिपुत्रीयाणां कृते कौमुदीमहोत्सवस्या-
भिमतबन्धुजनेन यत्साम्यं तेन कौमुदीमहोत्सवकाल एव राक्षसाभिषेककाल इति
निपुणमुद्भावितं नाटककृता ।

उन-उन आज्ञाओं का उल्लंघन करे, तब तब ऐसी प्रशस्तियों से चन्द्रगुप्त की स्तुति की
जाय कि वह उत्तेजित हो उठे ।

राक्षस—उसके बाद ?

करभक—उसके बाद मैं पाटलिपुत्र पहुँचा और वैतालिक स्तनकलश को अमात्य का
सन्देश सुना दिया ।

राक्षस—उसके बाद ?

करभक—इसी बीच नन्दवंश के विनाश से शोकाकुल नागरिकों को परितुष्ट करने
की इच्छा से, चन्द्रगुप्त ने, पाटलिपुत्र में, कौमुदीमहोत्सव की घोषणा करवा दी । नागरिकों
ने भी, बहुत दिनों के बाद लौटे हुये बन्धुजन के समागम के समान प्रसन्नता प्रदान करने
वाले उस कौमुदी महोत्सव का बड़ा अभिनन्दन किया ।

राक्षसः—(सवाष्पम्) हा देव ! नन्द !

कौमुदी कुमुदानन्दे जगदानन्दहेतुना ।

कीदृशी सति चन्द्रेऽपि नृपचन्द्र ! त्वया विना ॥ ९ ॥

भद्र ! ततस्ततः ?

करभकः—अमच्च ! तदो सो लोअलोअणाणन्दभूदो अणिच्छन्तस्स ज्जेव तस्स णिवारिदो चाणक्कहदकेण कौमुदीमहोत्सवो । एत्थन्तरे त्थणकलसेण पवट्टिदा चन्दउत्तस्स समुत्तेअणसमत्था सिलोअपरिवाटी । (अमात्य ! ततः स लोकलोचनानन्दभूतोऽनिच्छत एव तस्य निवारितश्चाणक्यहतकेन कौमुदीमहोत्सवः । अत्रान्तरे स्तनकलशेन प्रवर्तिता चन्द्रगुप्तस्य समुत्तेजनसमर्था श्लोकपरिपाटी ।)

राक्षसः—कीदृशी सा ?

राक्षसः कौमुदीमहोत्सवस्य नाममात्रं शृण्वन् स्मृततत्तद्गतपूर्ववृत्तो भृशं दूयमानमना आह—कौमुदीत्यादि । हे नृपचन्द्र ! महाराजनन्द !! (चन्द्रगुप्तस्वयं नागनैव चन्द्रः किन्तु महाराजोऽसौ नन्दस्सर्वेषामेव नृपाणां कृते वास्तविक एव चन्द्र इति गूढं ध्वनितम्) कुमुदानन्दे चन्द्रेऽपि सति कुमुदानां विकासके शारद-पूर्णमाशगङ्गे समुदितेऽपि नभसि जाते (चन्द्रगुप्ते राजनि कियत्तुच्छजनानुरञ्ज-केऽत्र पाटलिपुत्रे प्रतिष्ठितराज्येऽपि सतीति निपुणमभिव्यक्तम्) जगदानन्दहेतुना सर्वजनरञ्जनसमर्थेन त्वया नन्देन विना कौमुदी कीदृशी कौमुदीमहोत्सवः किंविधो नानन्दकरः कस्यापि भवितेति भाव इति ॥ ९ ॥

राक्षसः—(आँखों में आँसू भरे) हा देव नन्द !

‘हा नृपचन्द्र ! जगत् के एकमात्र आनन्द-निदान आपके विना कौमुदी का महोत्सव, कुमुदों के ही आनन्ददायक चन्द्र के (चन्द्रगुप्त) रहते हुये भी कैसा होगा ? (निरानन्द ही रह जायगा) ॥ ९ ॥

आगे भद्र ! क्या हुआ ?

करभक—अमात्य ! प्रजाजन के नेत्रों के लिये आनन्दरूप कौमुदीमहोत्सव चन्द्रगुप्त के न चाहते हुये भी दुष्ट चाणक्य ने रोक दिया । इसी बीच स्तनकलश ने चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाली प्रशस्ति परिपाटी प्रारम्भ की ।

राक्षस—वह कैसी ! Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करभकः—('सत्त्वोत्कर्षस्य' 'इत्यादि' वृत्तीयेऽङ्के २३ तमं पूर्वश्लोकं पठति)

राक्षसः—(सहर्षम्) साधु सखे स्तनकलश ! साधु । काले भेद-
बीजमुपमम्, अवश्यमेव फलमुपदर्शयिष्यति । यतः—

सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत् ।

किमु लोकाधिकं धाम विभ्राणः पृथिवीपतिः ॥ १० ॥

मलयकेतुः—एवमेतत् ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदो चन्द्रउत्तेण आण्णाभङ्गकलुसिदहिअएण सुइरं
अमच्चगुणं प्पसंसिअ प्पव्भंसिदो अहिआरादो चाणक्कहदओ (ततश्चन्द्र-
गुप्तेनाज्ञाभङ्गकलुषितहृदयेन सुचिरममात्यगुणं प्रशस्य प्रभ्रंशितोऽ-
धिकारात् चाणक्यहतकः ।)

राक्षसश्चाणक्यचन्द्रगुप्तयोर्भेदोऽवश्यं भावीति मनसि कुर्वन्नाह—सद्यः क्रीडारसच्छेद-
मित्यादि । अये कौमुदीमहोत्सवप्रतिपेधो यस्स तु नियतमेव चन्द्रगुप्तं समुद्दीपयि-
ष्यति । यतो हि प्राकृतोऽपि जनः पामरोऽपि लोकः सद्यः क्रीडारसच्छेदमकस्मा-
देवोपनतः यः क्रीडारसच्छेदः मनोविनोदभङ्गस्तं न मर्षयेत् । कथमपि न सहेतः,
लोकाधिकं धाम विभ्राणः लोकोत्तरं राजतेजो धारयन् पृथिवीपतिस्सम्राट् किमु
मर्षयेदिति शेषः, कथङ्कारं सोढुं प्रभवेन्नैव मर्षयिष्यतीति भावः ॥ १० ॥

करभक—('सत्त्वोत्कर्षस्य' । इत्यादि पूर्वोक्तं श्लोकं सुना देता है ।)

राक्षस—(सहर्षं) वाह ! स्तनकलश ! धन्य हो बड़े अच्छे अवसर पर दोनों में फूट
का बीज बो दिया ! 'अवश्य ही फल दिखलायी देगा' ।

'साधारण जन भी, सहसा, अपने मनोरञ्जन में रंग-भंग किया जाना नहीं सहन
करता फिर उसका क्या कहना जो लोकातिक्रान्त राजतेज वाला सम्राट हो' ॥ १० ॥

मलयकेतु—यह तो ठीक ही है ।

राक्षस—उसके बाद ?

करभक—उसके बाद, अपनी आज्ञा के उल्लंघन से विश्वबन्धुचित्त, चन्द्रगुप्त
ने, अमात्य राक्षस के गुणों की प्रशंसा की और दुष्ट चाणक्य को मन्त्राधिकृत-पद से
हटा दिया ।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! गुणप्रशंसया दर्शितश्चन्द्रगुप्तेन राक्षसे भक्तिपक्षपातः ।

भागुरायणः—न तथा गुणप्रशंसया, यथा चाणक्यवदोर्निराकरणेन ।

राक्षसः—भद्र ! किमयमेवैकः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधश्चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यं प्रति कोपकारणमुतान्यदप्यस्ति ?

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चन्द्रगुप्तस्य अपरकोपकारणान्वेषणे किं फलमेष पश्यति ?

भागुरायणः—कुमार ! एतत् फलं पश्यति—‘अतिमतिमान् चाणक्यो निष्प्रयोजनमेव किमिति चन्द्रगुप्तं कोपयिष्यति । न च कृतवेदी चन्द्रगुप्त एतावता गौरवमुल्लङ्घयिष्यति । सर्वथा चाणक्य-चन्द्रगुप्तयोः पुष्कलात् कारणाद् यो विश्लेष उत्पद्येत, स आत्यन्तिको भविष्यति’ इति ।

करभकः—अमच्च ! ! अत्थि अण्णदपि चन्दउत्तस्स कोबकरणं चाणक्ये । (अमात्य ! अस्त्यन्यदपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारणं चाणक्ये ।)

राक्षसः—किं किम् ?

मलयकेतुः—मित्र भागुरायण ! राक्षस के गुणों की प्रशंसा करके चन्द्रगुप्त ने, राक्षस में अपनी भक्तिपक्षपात प्रदर्शित कर दिया ।

भागुरायण—गुणों की प्रशंसा करके उतना नहीं जितना दुष्ट चाणक्य को हटा करके ।

राक्षस—भद्र ! क्या केवल कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध ही चन्द्रगुप्त के चाणक्य पर विगड़ खड़े होने का कारण है या और भी कुछ है ?

मलयकेतुः—मित्र, भागुरायण ! चन्द्रगुप्त के क्रोध के और किसी कारण के अन्वेषण में राक्षस क्या लाभ देख रहा है ?

भागुरायण—यह लाभ देख रहा है ‘महानुद्धिमान् चाणक्य चन्द्रगुप्त को, बिना किसी प्रयोजन के, क्यों नाराज करेगा ? और महाकृतश्च चन्द्रगुप्त भी इतनी ही बात से, चाणक्य को मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा । सर्वथा चाणक्य और चन्द्रगुप्त में, प्रचुर कारणों से, जो विद्वलेप उत्पन्न होगा, वही, आत्यन्तिक होगा’ ।

करभक—अमात्य ! चाणक्य पर चन्द्रगुप्त के क्रोध के और भी कारण हैं !

राक्षस—अमात्य !

करभकः—जधा पदमं दाव उवेक्खिदो अणेण अवक्कमन्तो कुमारो मलयकेदू अमच्चरक्खसो अ (यथा प्रथमं तावदुपेक्षितोऽनेन-अपक्रामन् कुमारो मलयकेतुः अमात्यराक्षसश्च ।)

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे ! शकटदास !! हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति । इदानीं चन्दनदासस्य बन्धनान्मोक्षः, तव च पुत्रदारैः सह समागमः, जीवसिद्धिप्रभृतीनां क्लेशच्छेदः ।

भागुरायणः—(आत्मगतम्) जातः सत्यं जीवसिद्धेः क्लेशच्छेदः ।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! 'हस्ततलगतो मे सम्प्रति चन्द्रगुप्तो भविष्यति' इति व्याहरतः कोऽयमस्याभिप्रायः ?

भागुरायणः—किमन्यत् ? चाणक्यादपकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किञ्चित्कार्यमवश्यं पश्यति ।

राक्षसः—भद्र ! हताधिकारः साम्प्रतं कासौ बटुः ?

करभकः—तर्हि ज्जेव पाडलिपुत्ते प्यडिवसादि (तस्मिन्नेव पाटलिपुत्रे प्रतिवसति ।)

करभक—जैसे कि पहले यह कि चाणक्य ने कुमार मलयकेतु और अमात्य राक्षस के यहां से भाग जाने की उपेक्षा की ।

राक्षस—(सहर्ष) मित्र, शकटदास ! अब चन्द्रगुप्त मेरी मुट्ठी में आ गया ! अब चन्दनदास का छुटकारा, अपने बाल-बच्चों से तुम्हारा समागम, तथा जीवसिद्धि इत्यादि के दुःखों का अन्त सब सिद्ध हो गया !

भागुरायण—(स्वगत) जीवसिद्धि का कष्ट-शमन तो सचमुच ही हो गया !

मलयकेतु—मित्र, भागुरायण ! 'चन्द्रगुप्त तो अब मुट्ठी में आ गया' ऐसा कहने से, इसका क्या अभिप्राय ?

भागुरायण—यही कि जब चन्द्रगुप्त चाणक्य से पृथक् हो गया तब चन्द्रगुप्त का उन्मूलन करने से क्या लाभ ! यही कि चाणक्य से पृथक् किये गये चन्द्रगुप्त के उन्मूलन में, वह कोई प्रयोजन नहीं देखता । वस, (उसे हाथ में कर अपना काम सब बन ही जायगा !) ।

राक्षस—अरे भाई ! पदच्युत चाणक्य, अब, कहाँ है ?

करभक—पाटलिपुत्र में ही रह रहा है ।

राक्षसः—(सावेगम्) भद्र ! तत्रैव प्रतिवसति, न तपोवनं गतः, प्रतिज्ञां वा न पुनः समारूढवान् ?

करभकः—अमच्च तपोवनं गमिस्सदि त्ति सुणीआदि (अमात्य ! तपोवनं गमिष्यतीति श्रूयते ।)

राक्षसः—(सावेगम्) शकटदास ! नेदमुपपद्यते । पश्य—

देवस्य येन पृथिवीतलवासवस्य

स्वाऽप्रासनापनयजा निवृत्तिर्न सोढा ।

सोऽयं स्वयङ्कृतनराधिपतेर्मनस्वी

मौर्यात्कथं नु परिभूतिमिमां सहेत ? ॥ ११ ॥

राक्षसो 'हताधिकारश्चाणक्यः पाटलिपुत्र एव प्रतिवसती'ति शृण्वन् किमपि मनसि कुर्वन्नाह—देवस्येति । 'अये ! नेदमुपपद्यते यन्निकृतोऽपि चाणक्यो न तपोवनं गच्छति न वा प्रतिज्ञामारोहति । तथा हि येन मनस्विना—महामनस्केन मानशी-लेन चाणक्येन—पृथिवीतलवासवस्य भूलोकमहेन्द्रस्य देवस्य महाराजनन्दस्य स्वाप्रासनापनयजा स्वीयमेव न परस्य चाणक्यस्यैवेति, यदासनं ततोऽपि योऽपनय उत्थापनं तज्जा तज्जनिता विकृतिस्तिरस्कृतिरवमानना वा न सोढा न मर्षिता, सोऽयं प्रतिकृतनन्दापकारः मनस्वी तथाविधस्वाभिमानो चाणक्यः स्वयङ्कृतनराधिपतेः स्वयमात्मना कृतश्चासौ नराधिपतिश्च तस्माद् मौर्यचन्द्रगुप्तादिमां परिभूतिं निवृत्तिमवमाननां वाऽधिकारहरणरूपां कथं नु सहेत ? न कथमपि सोढुं समर्थ' इति भावः ॥ ११ ॥

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) क्यों भाई ! वहीं रह रहा है ? तपोवन नहीं चला गया, कोई दूसरी प्रतिज्ञा भी नहीं की ?

करभक—अमात्य सुना जाता है कि तपोवन जाने वाला है !

राक्षस—(उद्वेग के साथ) शकटदास ! यह सब कुछ ठीक नहीं जेंचता । देखो—

जिसने, भूलोक के महेन्द्र महाराज नन्द के राजकीय मुख्य आसन से हटाये जाने के कारण होने वाला अपना अपमान नहीं सहन किया, वह, उस मौर्य चन्द्रगुप्त द्वारा किये गये अपने अपमान को कैसे सहन कर लेगा जिसे उसने स्वयं राजा वनसा है ॥ ११ ॥

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चाणक्यस्य तपोवनगमने पुनः प्रतिज्ञारोहणे वा काऽस्य स्वार्थसिद्धिः ?

भागुरायणः—कुमार नात्यन्तदुर्बोधोऽयंमर्थः, यावद्यावत् चाणक्य-हृतकश्चन्द्रगुप्ताद् दूरीभवति तावत्तावदस्य स्वार्थसिद्धिः ।

शकटदासः—अमात्य ! अलमत्यन्तविकल्पितेन, एतदुपपद्यत एव । कुतः ? पश्यत्यमात्यः—

राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः

स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम् ।

कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखः प्रतिज्ञां

दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिज्यानिभोतः ॥ २॥

शकटदासः 'चाणक्यः हताधिकारोऽपि प्रतिज्ञां न करोति, पाटलिपुत्रे च निवसन्नास्ति' इत्याद्युपपादयितुमाह—राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिख इत्यादि । अमात्य ! अलमत्यन्तविकल्पितेन, ननूपपन्नमेव चाणक्यस्याऽधुना प्रतिज्ञाऽनारोहणमथ च चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यावमाननम् । तथा हि राज्ञां सामन्तभूपतीनां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे चूडायां मौलिमुकुटादिषु प्रत्युक्ता ये मणयस्त एवेन्दवश्चन्द्रकलास्तद्युतिभिः कान्तिभिः खचिता चर्चिता शिखा यस्य तथाभूते मूर्ध्नि मस्तकपीठे

मलयकेतुः—मित्र, भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन चले जाने या पुनः प्रतिज्ञा कर बैठने में इसका क्या स्वार्थ सिद्ध होता है ?

भागुरायण—कुमार ! यह समझना बहुत कठिन नहीं । जितना ही दुष्ट चाणक्य, जितना ही चन्द्रगुप्त से दूर रहेगा उतना ही इसका स्वार्थ सिद्ध होगा ।

शकटदास—अमात्य ! बहुत संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नहीं । यह तो ठीक ही है । क्योंकि, अमात्य स्वयं देखें कि—

‘अव, चन्द्रगुप्त, जिसके चरण राजा-महाराजाओं के चूडामणियों की चन्द्रोपम कान्तियों से खचित केशों वाले मस्तकों पर पड़ने लग गये हैं, अपने ही अनुचर-परिचरों के द्वारा अपनी आज्ञा का उल्लंघन क्यों कर सहन करने लगा ? और स्वभाव से क्रोधी, यह जानते हुये कि शत्रु-संहार के लिये अभिचार कर्म बड़ा दुःखद हुआ करता है और यह भी समझते हुये कि एक बार वह भाग्यवश पूर्ण प्रतिज्ञा हो चुका है दूसरी बार प्रतिज्ञा नहीं कर रहा, क्योंकि भविष्य में प्रतिज्ञा पूर्ण होने में उसे बड़ा है ॥ २॥’

राक्षसः—सखे शकटदास ! एवमेतत्, तद्गच्छ, विश्रामय कर-
भकम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः (इति करभकेण सह निष्क्रान्तः)

राक्षसः—अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(उपसृत्य) अहमेवार्यं द्रष्टुमागतः ।

राक्षसः—(नाटयेनावलोक्य) अये ! कुमार एवागतः । (आसना-
दुत्थाय) इदमासनमुपवेष्टुमर्हति कुमारः ।

मलयकेतुः—अहमुपविशामि । उपविशत्वार्यः (इत्युभौ यथासन-
मुपविष्टौ) आर्य ! अपि सहा शिरोवेदना ?

विन्यस्तपादः प्रतिष्ठितचरणोऽशेषनरपतिशिरस्समभ्यर्चितशासन इति वा मौर्य-
स्सम्राट् चन्द्रगुप्तस्त्वैरेवास्मीयैरेव जनैरनुचरैरुत्पाद्यमानं क्रियमाणमाज्ञाविघातं
शासनभङ्गं किमिति विपहते कथं सोढुं शक्नुयात् । अतः खलु चाणक्यस्याधिका-
रोल्लुण्ठनं सर्वथोपपन्नमेवेति । तथैव च कोपनोऽपि प्रकृत्या क्रोधी सन्नपि कौटिल्य-
श्चाणक्यस्स्वयमभिचरणज्ञातदुःखस्स्वयमेवाभिचरणे कृत्यादिविधानकर्मणि ज्ञात-
मनुभूतं दुःखं येन तथाभूतः सन्नेकदा दैवाद् भाग्यसम्पदैव पूर्णप्रतिज्ञोऽधुना-
आयतिज्यानिभीत आयत्याः भाविकालफलस्य या ज्यानिर्हानिस्ततो भीतो विभ्यत्
पुनरपि प्रतिज्ञां न करोति चन्द्रगुप्तं नाशयितुं न प्रतिज्ञामारोहेदिति । अतः खलु
चाणक्यस्यापि सर्वथाऽधुनाऽकिञ्चित्करत्वमुपपन्नमेव नानुपपन्नमिति भाव इति ॥ १ ॥ २॥

राक्षस—मित्र, शकटदास ! ऐसा ही सही । जाओ, करभक को विश्राम कराओ ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा । (करभक के साथ बाहर चला जाता है)

राक्षस—मैं भी कुमार से मिलना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(पास पहुँच कर) आर्य ! आप के दर्शनार्थ मैं ही उपस्थित हूँ ।

राक्षस—(देखने का अभिनय करते हुये) ओह ! कुमार ही आ पहुँचे !

(आसन से उठते हुये) इस आसन पर विराजिये, कुमार !

मलयकेतु—मैं बैठ रहा हूँ, आप विराजें ।

(दोनों अपने अपने आसनों पर बैठते हुये) क्या सिर-दर्द नहीं आ रहा है ?

राक्षसः—कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतः शिरो-
वेदनायाः सहायता ?

मलयकेतुः—स्वयमूरीकृतमेतदार्येण, न दुष्प्रापं भविष्यति । तत्
कियन्तं कालमस्माभिरिवं सम्भृतबलैरपि शत्रुव्यसनमवेक्षमाणैरुदा-
सितव्यम् ।

राक्षसः—कुमार ! कुतोऽद्यापि कालहरणस्यावकाशः ? प्रतिष्ठस्व
रिपुजयाय ।

मलयकेतुः—अमात्य ! अपि किञ्चिच्छत्रुव्यसनमुपलब्धम् ?

राक्षसः—बाढमुपलब्धम् ?

मलयकेतुः—कीदृशम् ?

राक्षसः—सचिवव्यसनं, किमन्यत् ? अपकृष्टश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तः ।

कुमारस्याधिराजशब्देनेति—यावत्कुमारो न भवत्यधिराजस्तावदित्यर्थ इति ।

सचिवव्यसनमिति—व्यसनमिति तु व्यस्यत्येनं श्रेयस इति व्युत्पत्तेः । तद्धि
'गुणप्रातिलोभ्यमभावः प्रदोषः प्रसङ्गः पीडा वे'ति रूपम् । स्वाभ्यमात्यव्यसनयोर-
मात्यव्यसनं गरीयो यतो हि 'मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्म-
दण्डप्रणयनममित्रादवीप्रतिपेधो राज्यरक्षणं व्यसनप्रतीकारश्चायत्तं सर्वममात्य एव ।
सचिवमूलास्सर्वारम्भा इति कृत्वा सचिवव्यसनमेव महाव्यसनमिति भावः ।

राक्षस—जब तक 'कुमार' पद के स्थान पर 'महाराज' पद से सुशोभित न हो,
तब तक सिर दर्द कैसे कम हो ?

मलयकेतु—आर्य ने जब मेरे लिये (अधिराज शब्द) स्वयं स्वीकार किया है तो
यह दुष्प्राप्य नहीं होगा । तो, अब, कब तक, हम लोग, इस प्रकार सन्नद्ध सैन्यबल के
साथ पड़े हुये, शत्रु पर पड़ने वाली विपत्ति की प्रतीक्षा करते उदासीन बैठे रहेंगे ?

राक्षस—कुमार ! अब, विलम्ब का समय कहाँ ! शत्रु-विजय के लिये प्रस्थान कर
दीजिये ।

मलयकेतु—अमात्य ! तो क्या कोई शत्रु-व्यसन पता चला ?

राक्षस—हाँ हाँ, पता चला ।

मलयकेतु—कैसा ?

राक्षस—और क्या, सचिवव्यसन । चाणक्य से चन्द्रगुप्त पृथक् कर दिया गया ।

मलयकेतुः—अमात्य ! सचिवव्यसनमेव ?

राक्षसः—कुमार ! अन्येषां भूपतीनां कदाचिदमात्यव्यसनमव्यसनमपि स्यात्, न पुनश्चन्द्रगुप्तस्य ।

मलयकेतुः—आर्य ! ननु विशेषतश्चन्द्रगुप्तस्येति ।

राक्षसः—किं कारणं यदस्यामात्यव्यसनमव्यसनम् ?

मलयकेतुः—चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां हि चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः । तस्मिन्निराकृते प्रथममपि चन्द्रगुप्तानुरक्ताः प्रकृतयः इदानीं पुनः सुतरामेव तत्रानुरागं दर्शयिष्यन्ति ।

राक्षसः—कुमार ! नैतदेवं, इह द्विप्रकाराः प्रकृतयः—चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन्यो नन्दकुलानुरक्ताश्च । तत्र चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनीनां प्रकृतीनां चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः, न नन्दकुलानुरक्तानाम् । तास्तु खलु नन्दकुलमनेन पितृकुलभूतं कृत्स्नं कृतघ्नेन घातितमित्यपरागामर्षाभ्यां विप्रकृताः सत्यः स्वाश्रयमलभमानाश्चन्द्रगुप्तमेवानुवर्तन्ते । त्वाद्दशं पुनः

मलयकेतु—तो, क्या केवल सचिव-व्यसन ही ?

राक्षस—कुमार ! और राजाओं के लिये सचिव-व्यसन, कदाचित् व्यसन (विपत्ति) न भी हो, किन्तु, चन्द्रगुप्त के लिये ऐसा नहीं ।

मलयकेतु—आर्य ! यह कहिये कि विशेष रूप से, चन्द्रगुप्त के लिये सचिव-व्यसन (मन्त्रि-संकट) कोई व्यसन (संकट) नहीं ।

राक्षस—यह कैसे कि चन्द्रगुप्त के लिये अमात्य-संकट, कोई संकट नहीं ?

मलयकेतु—चन्द्रगुप्त के प्रजावर्ग के लिये, चन्द्रगुप्त से विरक्त होने में, चाणक्य के दोष ही कारण है । चाणक्य के हटा देने से, पहले से ही चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरक्त प्रजावर्ग, अब तो, उसके प्रति और भी अधिक अनुराग प्रदर्शित करेंगे ।

राक्षस—ऐसी बात नहीं ! यहाँ प्रजावर्ग दो प्रकार का है—(नन्द विनाश के समय) चन्द्रगुप्त का सहोत्थायी (सबल समर्थक) तथा नन्दवंश का अनुरागी । इनमें, चन्द्रगुप्त के सबल समर्थक प्रजावर्ग के लिये, चन्द्रगुप्त के प्रति विराग का कारण चाणक्य दोष, नन्दवंश के अनुरागी प्रजावर्ग के लिये ऐसा नहीं है । नन्दवंश में अनुरक्त प्रजावर्ग तो यह सोचकर कि इस कृतघ्न (चाणक्य) ने ही उसके पितृकुल भूत नन्दकुल का संहार किया है, विराग और अमर्ष से विक्षुब्ध हो, अपना कोई अवलम्ब न पाकर चन्द्रगुप्त का ही अनुराग करने वाला है । किन्तु नन्दवंश का अनुरागी प्रजावर्ग जो नन्द के उखाड़

प्रतिपक्षोद्धरणे सम्भावितशक्तिमभियोगकारमासाद्य क्षिप्रमेनं परित्यज्य
त्वामेवाश्रयिष्यन्ते इति । अत्र कुमारस्य वयमेव निदर्शनम् ।

मलयकेतुः—अमात्य ! किमेतदेवैकं सचिवव्यसनमभियोगकारणं
चन्द्रगुप्तस्य ? आहोस्विदन्यदप्यस्ति ?

राक्षसः—कुमार ! किमन्यैः बहुभिरपि ? एतद्धि तत्र प्रधानतमम् ।

मलयकेतुः—अमात्य ! कथं प्रधानतमं नाम ? किमिदानीं चन्द्रगुप्तः
स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिणि आत्मनि वा समासज्य प्रतिविधातुम-
समर्थः स्यात् ?

राक्षसः—बाढम्, असमर्थ एव ।

मलयकेतुः—किं कारणम् ?

राक्षसः—स्वायत्तसिद्धिषु, उभयायत्तसिद्धिषु वा भूमिपालेषु कदा-
चिदेतत् सम्भवति, नतु चन्द्रगुप्ते । चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा, नित्यसचिवा-

कैकेने में पर्याप्तशक्ति सम्पन्न तुम्हें आक्रामक के रूप में पाकर तुरन्त उसका (चन्द्रगुप्त
का) साथ छोड़ तुम्हारा ही आश्रय लेने लगेगा । इस विषय में, कुमार के लिये, हम ही
निदर्शन (उदाहरण) हैं ।

मलयकेतु—अमात्य ! क्या चन्द्रगुप्त पर हमारे आक्रमण करने का एकमात्र कारण,
उस पर पड़ा सचिव संकट ही है या और भी कोई कारण है ?

राक्षस—कुमार ! अनेक भी अन्य कारणों से क्या ? यही सर्वप्रधान कारण हैं ।

मलयकेतु—अमात्य ! सर्वप्रधान क्यों है ? क्या, इस समय, चन्द्रगुप्त समस्त राज्य-
तन्त्रभार किसी अन्य मन्त्री पर अथवा अपने ऊपर रखकर (हमारे आक्रमण का) प्रति-
कार करने में असमर्थ है ?

राक्षस—हाँ, असमर्थ ही है ।

मलयकेतु—क्या कारण है ?

राक्षस—स्वायत्तसिद्धि अथवा उभयायत्त सिद्धि (स्वयं राज्यसंचालन करने वाले
अथवा मन्त्री के साथ मिलकर राज्यसंचालन करने वाले) राजाओं के लिये तो यह
(प्रतिकार) समर्थ है, किन्तु चन्द्रगुप्त के लिये नहीं । चन्द्रगुप्त तो दुष्ट है, सदा सचिवा-

यत्तत्सिद्धावेवावस्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षसर्वलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात् ? कुतः ?—

अत्युच्छिद्यते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादाबुपतिष्ठते श्रीः ।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १३ ॥

राक्षसः 'चन्द्रगुप्तश्चाणक्यादपरक्तस्वयं तत्तत्प्रतिविधातुमसमर्थ' इति सिद्धान्त-
यान्नाह—अत्युच्छिद्यत इत्यादि । पार्थिवे नृपे मन्त्रिणि सचिवे चात्युच्छिद्यते समभ्युद्यते
प्रभुशक्तिमन्त्रशक्तिपारस्पर्येण राज्यतन्त्रे जाग्रति सति, सदैकमत्ये स्थिते सतीति वा,
श्रीः, राजलक्ष्मीः पादौ प्रभुशक्ति-मन्त्रशक्तिरूपौ स्वचरणौ विष्टभ्येतस्ततो विसंभु-
लतामपहाय स्थिरं स्थापयित्वेत्यर्थः, उपतिष्ठते तयोस्सङ्गता सेवमाना विराजत
एवेति । (उपादेवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यमिति वास्तिकवलाद-
त्रात्मनेपदम्) किन्तु सा श्रीस्तयोर्नृपसचिवयोर्द्वयोर्विमतयोः कलहायमानयोर्वा
सतोर्द्विधीभूतयोस्तिष्ठतीरित्यर्थः, स्त्रीस्वभावात् प्रकृत्या चञ्चलत्वाद् भरस्योपस्थान-
रूपस्य नृपामात्ययोरथवा समीकृतचरणावस्थितिरूपस्य स्वभारस्यासहासमर्थ-
सती नूनमेवैकतरं तयोरन्यतरं जहाति परित्यजतीति । अर्थादैकमत्यं विहाय
वैमत्येन वर्तमानयोश्चन्द्रगुप्तचाणक्ययोरवश्यमेवास्माकं कार्यसिद्धिरित्यभिप्राय
इति ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र 'यथा काचन नर्तकी उच्छिद्यतौ समौ वंशस्तम्भौ पादाभ्यां दृढमव-
ष्टभ्य सुस्थिरा तिष्ठति तयोर्वैषम्ये विसंभुलपदतया देहभारं बोद्धुमसहा एकं हित्वाऽ-
न्यतरमवलम्बमाना तेन सह स्वयमपि पतति तद्वत् । अत्र प्रस्तुतेनाऽप्रस्तुतस्य
स्फोरणात्समासोक्तिरलङ्कारः' इत्यादि यद् दुषिदराजव्याख्यानं तदनुकरणं वाऽन्येपा-
मर्वाचीनव्याख्यानानां न तत्सर्वं साधु । अत्र हि वस्तुतः गायत्री यथा कौचिदेक-
मतौ सुहृदौ समपादावस्थिता तयोः पुरतस्तौ सममेवानुपस्थितिं तयोश्च परस्परं
स्पर्द्धमानयोस्सतोः कमप्यन्यतरमेव सेवमाना दृश्यते तथात्वे च सपद्येव समाप्यते

यत्तत्सिद्धि रदते, एक अन्धे के समान संसार और संसार के व्यवहार के अनुभव से शून्य,
मला स्वयं हमारे आक्रमण का प्रतिकार कैसे कर सकता है ? क्योंकि—

'राजलक्ष्मी, राजा और अमात्य-दोनों के परस्पर एक मत और महोन्नत बने रहने पर'
ही अपने दोनों पैर जमाकर उनके सामने खड़ी हो एक साथ, उनकी सेवा करती है'
किन्तु जब दोनों परस्पर भिन्नमत के हो जायें तब, स्त्रीस्वभाव के कारण, इस प्रकार के
सेवाभार को न सह सकने के कारण, दोनों में से किसी एक को छोड़ देती है ॥ १३ ॥

अपि च—

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनन्धयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव ।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्मुहूर्त्तमप्युत्सहते न वर्त्तितुम् ॥ १४ ॥

मलयकेतुः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि (प्रकाशम्) अमात्य ! यद्यप्येवं तथापि खलु बहुष्वभियोगकारणेषु सत्सु सचिवव्यसनमभियुञ्जानस्य शत्रुमभियोक्तुः नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति ।

राक्षसः—ऐकान्तिकीमेव सिद्धिमवगन्तुमर्हति कुमारः । कुतः ?—

च तथा सर्वमेव गोतादि-हावभावादिरूपं मनोरञ्जनं तथैव श्रियाप्यत्र क्रियते करिष्यते वेत्युन्नेयमप्रस्तुतमर्थवस्त्विति ।

राक्षसः चाणक्ये, प्रच्युताधिकारे सति, चन्द्रगुप्तससचिवायत्तसिद्धिः किङ्कर्त्तव्यविमूढ इति निश्चिन्वानो वक्ति—नृपोऽपकृष्ट इति । तदर्पणस्तस्मिन्नेव सचिवे चाणक्ये राज्यतन्त्रं सर्वमर्पयतीति तथाविधससचिवायत्तसिद्धिरयं नृपश्चन्द्रगुप्तोऽधुना स्तनन्धयः स्तनपायी ('नासिकास्तनयोध्माधेदोरि'ति सूत्रेण खशि 'अरुद्धिपदजन्तस्य मुम्' इति मुमि च रूपम्) अत एव चात्यन्तशिशुरतिवालः स्तनादिव स्वैकमात्राधारात् जननीस्तनादिव सचिवादपकृष्टः पृथक्स्थापितः पृथक्स्थितो चाऽदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्न दृष्टो लोकव्यवहारो येन सोऽत एव मन्दा किञ्चित् प्रतिविधातुमसमर्था धीर्बुद्धिर्यस्य तथाभूतस्सन् मुहूर्त्तमपि क्षणमात्रमपि वर्त्तितुं नोत्सहते राज्यतन्त्रं संचालयितुं न क्षमत इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

और भी, सचिवाश्रित राजा स्वयं लोकव्यवहार से अनभिज्ञ तथा मन्दबुद्धि होने के कारण यदि सचिव से पृथक् कर दिया जाय, तब, माता के स्तन से हटाये गये स्तनपायी, शिशु की भाँति क्षणभर भी कुछ नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

मलयकेतु—आत्मगत सौभाग्य से, मैं सचिवायत्तसिद्धि नहीं हूँ । (प्रकट) अमात्य ! यद्यपि यह ठीक है किन्तु, आक्रमण करने के बहुतेरे कारणों के रहते, केवल सचिवव्यसन को लेकर, शत्रु पर आक्रमण करने वाले की सफलता ऐकान्तिक (निश्चित) नहीं हुआ करती ।

त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरी नृपे, नन्दानुरक्ते पुरे,
चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे, मौर्ये नवे राजनि ।

स्वाधीने मयि—”

(इत्यर्द्धोक्ते लज्जां नाटयन्)

“—मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे,

त्वद्वाञ्छान्तरितानि सम्प्रति विभो ! तिष्ठन्ति साध्यानि नः ॥ १५ ॥

मलयकेतुः—अमात्य ! यद्येवमभियोगकालममात्यः पश्यति, तत्किमा-
स्यते ? पश्य—

राक्षस ऐकान्तिकीं स्वपक्षविजयस्थितिं विज्ञापयन्नाह मलयकेतुः—त्वय्युत्कृष्टबल
इत्यादि । अयि विभो ! विशेषतोऽधुना विजिगीषो ! कुमारमलयकेतो ! सम्प्रति
कालेऽस्मिन् नृपे नरपतौ त्वय्युत्कृष्टबले सन्नद्धसर्वप्रकारसैन्येऽभियोक्तरी समभिपे-
णनपरे स्थिते सति, पुरे पाटलिपुत्रे च नन्दानुरक्ते नन्दभक्ते तिष्ठति सति, चाणक्ये
कुटिलनयप्रयोक्तरी मौर्यसचिवे चलिताधिकारविमुखे चलिताधिकारश्च्युतपदश्चा-
सावत एव विमुखो निरपेक्षश्चेति तथाविधे संजायमाने संजाते वा, मौर्ये चन्द्रगुप्ते
च नवेऽज्ञातराज्यतन्त्रसञ्चालने राजनि नृपमात्रे विद्यमाने सति, मयि भवदमात्य-
प्रवरे च स्वाधीने स्वतन्त्रेऽथ च मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे मार्गमात्रस्य प्रस्था-
तव्यं पुरस्तादित्यादिमात्रस्य यः कथनव्यापारयोगः निर्देशनकार्यभरः स एवोद्यमो
निर्वाहो यस्य तथाभूते विराजमाने सति नः साध्यानि शत्रुप्रणाशराज्यावासिरूप-
फलसमीहितानि त्वद्वाञ्छान्तरितानि त्वदिच्छामात्रव्यवहितानि तिष्ठन्ति वर्तन्त
इति भावः । सैन्यानि त्वदाज्ञां प्रतीक्षन्ते, यदैवाज्ञापयसि तदैव सिद्धं सर्वमित्य-
भिप्राय इति ॥ १५ ॥

जब तुम जैसा महाशक्तिशाली महाराज आक्रामक हो, पाटलिपुत्र का नगर नन्दवंश में
अनुराग रखने वाला हो, चाणक्य पदच्युत तथा प्रतिकूल हो गया हो, मौर्य चन्द्रगुप्त नया
(अनुभवशून्य) राजा बना हो और परम स्वतन्त्र मैं (इतना आधा कहने पर लज्जा के
भाव का अभिनय करते हुये) मार्गनिर्देशक तथा कर्तव्यनिर्देश में सतत उद्युक्त रहूँ, तब, हे
राजन् ! हमारी कार्यसिद्धि में केवल तुम्हारी इच्छा का ही व्यवधान पड़ रहा है ॥ १५ ॥

मलयकेतु—अमात्य ! यदि आप इस प्रकार आक्रमण का अवसर देख रहे हैं तो
बैठे क्यों हैं ? देखिये—

उत्तङ्गास्तुङ्गकूलं स्नुतमदसलिलाः प्रस्यन्दिसलिलं
 श्यामाः श्यामोपकण्ठद्रुममलिमुखराः कल्लोलमुखरम् ।
 स्रोतःखातावसीदत्तमुद्गशनैरुत्सादिततटाः
 शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शतशः ॥१६॥

अपि च—

गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्र-
 मासारवर्षमिव शीकरमुद्गिरन्त्यः ।

मलयकेतुसैन्यप्रस्थानं राक्षसाय विज्ञापयन्नाह—उत्तङ्गा इत्यादि । अये !
 यद्यभियोगकालस्समुपस्थितः प्रस्थातव्यमेव मामकीनैर्बलैः । इमे मम महाबलस्य
 विजिगीषोरुत्तुङ्गा अत्युत्सेधवन्तः स्नुतमदसलिलाः प्रचरद्दानजलाः, श्यामाः काल-
 वर्णाः, अतिमुखराः प्रवृद्धगर्जातर्जाः, उरुदशनैरुत्सादिततटाः विशालदन्तैरुत्सात-
 विदारिततीरास्सिन्दूरशोणास्सज्जितरणस्रज्जाः गजपतयो हस्तिसेनामहागजाश्शत-
 शोऽगणितगणनास्सन्त इमं पुरोवर्तिनं तुङ्गकूलमुन्नततटं, प्रस्यन्दिसलिलं प्रचर-
 ज्जलं, श्यामोपकण्ठद्रुमं श्यामायमानतटवृक्षमालं कल्लोलमुखरं तरङ्गध्वनिवाचालं,
 स्रोतःखातावसीदत्तं प्रवाहवेगावसन्नकूलं शोणं शोणनामानं महानदं पास्यन्ति
 पायं पायं शोषयिष्यन्तीति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुरूपेणार्थेन पाटलिपुत्र-
 मुपरुन्धन्तु गजवलानीति व्यङ्ग्यार्थः प्रत्याय्यते ।

(२) अत्र स्रग्धरावृत्तस्यैव न्यूनाक्षररूपेण प्रस्तारविशेषेण सुवदनावृत्ताभिधा-
 नेन यन्मलयकेतुवचोबन्धस्तस्याऽस्ति किमपि स्वारस्यं यद्धि मलयकेतोरौद्धत्य-
 प्रकाशनरूपं विचारविलम्बासहत्वरूपं वेति ।

मलयकेतुः पाटलिपुत्रोपरोधमेव राक्षसं प्रति समर्थयते—गम्भीरगर्जितेत्यादिना ।
 अमात्य ! मदीयाः मामकीनाः गम्भीरगर्जितरवाः गम्भीराः गर्जितरवाः गर्जाध्वनयो

हमारी हस्तिसेना के बड़े-बड़े, मदजल बहाते, काले-काले, गूजते भौरों से भरे, लम्बे-
 लम्बे दाँतों से तटों को तोड़ते फोड़ते और सिन्दूर के लाल-लाल लेप से सजे-धजे झुण्ड के
 झुण्ड, गजराज जैचे-जैचे तटों वाले प्रखर प्रवाह से भरे, हरे-भरे तटवर्ती वृक्षों से श्यामवर्ण
 के तीरों वाले, जलकल्लोल से शब्दायमान तथा प्रवाह के कटाव से गिरते किनारों वाले
 शोण महानद को पीकर सुखा डालेंगे ॥ १६ ॥

और भी गजसेना के गजों की गम्भीर शब्द करता मदजल से मिश्रित जल कणों को

विन्ध्यं विकीर्णसलिला इव मेघमाला

रुन्धन्तु वारणघटा नगरं मदीयाः ॥ १७ ॥

(इति भागुरायणेन सह निष्क्रान्तो मलयकेतुः)

राक्षसः—कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः—(प्रविश्य) आणवेदु अमच्चो (आज्ञापयत्यमात्यः)

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां, सांवत्सरिकाणां द्वारि कस्तिष्ठति ?

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि । अमच्च ! एसो खलु संवत्सरिओ क्खवणओ—(इति निष्क्रम्य क्षपणकं दृष्ट्वा पुनः प्रविश्य च) (यदमात्य आज्ञापयति अमात्य ! एष खलु सांवत्सरिकः क्षपणकः—)

राक्षसः—(स्वगतमनिमित्तं सूचयित्वा) कथं प्रथममेव क्षपणक-दर्शनम् ?

प्रियंवदकः—जीवसिद्धी (जीवसिद्धिः) ।

येषां तथाविधाः वारणघटाः हस्तिसेनाः विकीर्णसलिलाः विक्षिप्तजलाः मेघमालाः इव घनघटाः इव स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरं निजमदजलमिश्रितं जलकणौघमासार-वर्षमिव धारासम्पातमिवोद्गिरन्त्य उद्धमन्त्यो नगरं पाटलिपुत्रं विन्ध्यमिव रुन्धन्तु समन्तात् परिवृत्योपरोधवैशसेन पीडयन्निवत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

अनवरतरूप से वरसती, विन्ध्यपर्वत को घेरने वाली मूसलाधार पानी की घनघटाओं की भांति, पाटलिपुत्र नगर को घेर लें ॥ १७ ॥

(भागुरायण के साथ मलयकेतु बाहर चला जाता है)

राक्षस—अरे ! कौन है यहाँ ?

पुरुष—(भीतर आकर) अमात्य ! आज्ञा दें ।

राक्षस—प्रियंवदक ! पता लगाओ, ज्योतिषियों में से द्वार पर कौन उपस्थित है ?

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा ! (बाहर जाकर क्षपणक को देख पुनः भीतर आते हुए) अमात्य । यह क्षपणक ज्योतिषी है ।

राक्षस—(स्वगत, अपशकुन सूचित करते) अरे ! पहले ही पहल क्षपणक का दर्शन !

प्रियंवदक—जीवसिद्धि ।

राक्षसः—(प्रकाशम्) अबीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि (यदमात्य आज्ञापयति) ।

(इति निष्क्रान्तः)

:(ततः प्रविशति क्षपणकः)

क्षपणकः—

सासणमल्लहन्ताणं प्पडिवज्जह मोहबावेहिज्जाणं ।

जे पढममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति ॥ १८ ॥

(शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम् ।

ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात् पथ्यमुपदिशन्ति ॥ १८ ॥)

(उपसृत्य) धम्मलाहो सावका ! भोदु (धर्मलाभ उपासक ! भवतु)

राक्षसः—भदन्त ! निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानयोग्यदिवसः ।

क्षपणकः—(नाट्येन चिन्तयित्वा) सावका ! णिलूविदे मुहुत्ते ।

आमज्झणादो णिव्वुत्तसत्तसकला सोहणा तिही संपुणचन्दा पुण्णमासी

क्षपणको जीवसिद्धिस्स्वागमनं सूचयन्नाह—शासनमित्यादि । श्रावकाः ! मोह-
व्याधिवैद्यानां मोह एव व्याधिस्तस्य चिकित्सकानामर्हतामर्हतानां शासनं देशनं
प्रतिपद्यध्वं परिपालयत । यतो हीमेऽर्हन्तो यदुपदिशन्ति तन्मुहूर्तमात्रकटुकं केवल-
मापात एव विरसं किन्तु पश्चात् पथ्यं पर्यन्ते हितकरमेवोपदिशन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

राक्षस—(प्रकट) सौम्यवेशधारी वनाकर, भीतर ले आओ ।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा, अमात्य ! (बाहर निकल जाता है)

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—‘अरे लोगो ! उन माया-मोह के महावैद्यों, अर्हन्तों के शासन की शरण
लो जो पहले क्षणमात्र के लिये कडुआ लगने वाले, किन्तु बाद में परमहितकारी उपदेश
प्रदान करते हैं’ ॥ १८ ॥

(समीप पहुँच कर) उपासक ! धर्म-लाभ हो ।

राक्षस—भदन्त ! हमारे लिये, प्रस्थान के योग्य दिन विचारो ।

क्षपणक—(सोचने का अभिनय करते हुये) उपासक ! मुहूर्त विचार लिया । मध्याह्न
काल से सम्पूर्णचन्द्र वाली पुण्णिमा तिथि हो रही है, बड़ी शोभन (वस्तुतः अशोभन)

तुह्याणं उत्तलाए दिसाए दक्खिणां दिसं प्पत्थिदाणं दक्षिणदुवालिओ
णक्खत्तओ । (उपासक ! निरूपितो मुहूर्तः । आमध्याह्नात् निवृत्तसप्त-
शकला शोभना तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी, युष्माकमुत्तरस्या दिशो
दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां दक्षिणद्वारिकं नक्षत्रम् ।)

अवि अ (अपि च)—

अत्थाहिमुहे सूते, उदिदे संपुण्णमण्डले चन्दे ।

गमणं बुद्धस्स लग्गे, उदिदत्थमिदे अ केदुम्मि ॥ १९ ॥

(अस्ताभिमुखे सूर्ये उदिते सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे ।

गमनं बुधस्य लग्ने उदितास्तमिते च केतौ ॥ १९ ॥)

क्षपणकः प्रस्थानदिवसादि गणयन् वक्ति निपुणं राक्षसम्—अस्ताभिमुख इत्यादि ।
सूर्ये सूर्येऽस्ताभिमुखेऽस्ताचलावलम्बिनि सति (प्रस्थानसमयस्य संकेतः) चन्द्रे
चन्द्रमसि च सम्पूर्णमण्डले पूर्णकल उदिते गगनमवभासयति सति (लग्नप्रदर्शनम्)
बुधस्य लग्ने कन्यालग्न इति भावः (लग्नविशेषवर्णनम्) केतौ चोदितास्त-
मिते केतुग्रहे चोदिताह्लादादस्तमिते सप्तमस्थानगते च सति गमनं पाटलिपुत्रं
प्रति सेनायाः प्रस्थानं प्रशस्तमित्यर्थः । शब्दशक्तिमूलो व्यङ्ग्यार्थस्तु—शूरे भवति
राक्षसे 'अत्थाहिमुहे' अर्थाभिमुखे मौर्यसाचिव्यस्वयं ग्राहसत्वरं संभूते सति, चन्द्रे
चन्द्रगुप्ते च राजनि वशीकृतसर्वराजमण्डले विराजमाने सति, बुधस्य कौटिल्यस्य
लग्ने सन्बन्धे समवस्थिते च केताबुदितास्तमिते मलयकेतुमुदितमपि सुतरामस्तं
गतप्रायं कर्तुं गमनं प्रस्थानं प्रशस्तमेव भवतामिति ॥ १९ ॥

और सप्तमी के अंश से सर्वथा निर्मुक्त (साथ ही साथ अमङ्गलकारी) उत्तर की ओर से
दक्षिण प्रस्थान करते हुये, तुम्हारा नक्षत्र भा दक्षिणवर्ती है ।

[ज्योतिषशास्त्र के अनुसार ऐसी तिथि में प्रयाग निषिद्ध है—'न गच्छेद् विष्टि-
भद्रायाम् । षष्ठ्यष्टमोद्वादशोपु न गच्छेत्त्रिदिनस्युशि । पूर्णिमाप्रतिपदश्चरिक्तावमदि-
नेषु च ॥']

और भी, सूर्य के अस्ताभिमुख होने, (राक्षस की महत्वाकांक्षा के अन्त होने) सम्पूर्ण-
मण्डल चन्द्र के उदित होने, (चन्द्रगुप्त के समस्त राज्यमण्डल पर आधिपत्य जमते)
बुध के शुभ लग्न के लग जाते (चाणक्य की शुभाशंसा के होने) और केतु के उदयलग्न
से अस्तलग्न पर चल पड़ने (मलयकेतु के अन्त होने) पर ही प्रस्थान शुभ है ॥ १९ ॥

राक्षसः—भदन्त ! तिथिरेव तावन्न शुध्यति ।

क्षपणकः—सावगा (श्रावक !)

एकगुणा होइ तिही चउगुणे होइ णक्खत्ते ।

चउसत्तिगुणे लग्गे एसे जोइसतन्तसिद्धन्ते ॥ २० ॥

(एकगुणा भवति तिथिश्चतुर्गुणं भवति नक्षत्रम् ।

चतुःषष्टिगुणं लग्नमेतद् दृश्यते ज्योतिषतन्त्रसिद्धान्ते ॥ २० ॥)

लग्गे होइ सुलग्गे कूलगहं पलिहलि जासु ।

पाविहि दीहं लाहं चन्द्रस्स बलेण गच्छन्ते ॥ २१ ॥

(लग्नं भवति सुलग्नं क्रूरग्रहं परिहर आशु ।

प्राप्नुहि दीर्घं लाभं चन्द्रस्य बलेन गच्छन् ॥ २१ ॥)

क्षपणको गूढाभिसन्धिना राक्षसं प्रति तिथिशुद्धिं वर्णयन्नाह—एकगुणेति । तिथिशुद्धौ गमने यदि कश्चन लाभस्ततश्चतुर्गुणो लाभो नक्षत्रशुद्धौ गमने; किञ्च नक्षत्रशुद्धौ गमनं यदि चतुर्गुणलाभकरं तर्हि लग्नशुद्धौ गमनं सांख्यसरिकाणां सिद्धान्ते चतुःषष्टिगुणलाभकरमिति निःशङ्कं शुद्धायामशुद्धायां वा तिथौ प्रस्थातव्यमेव भवेति भावः ॥ २० ॥

पूर्वोक्तमेव द्रढयति क्षपणकः—लग्नमित्यादिना । अमात्यवृहस्पते ! आशु शीघ्रं यथा स्यात्तथा क्रूरग्रहं नीचग्रहसम्बन्धं परिहर परित्यज । तथा च चन्द्रस्य बलेन गच्छन् सन् चन्द्रसम्बन्धेन प्रस्थातुकामस्त्वं दीर्घं लाभं प्राप्नुहि लाभस्व, अलं लभ्यादिचिन्तया सर्वमेव लग्नं चन्द्रबलेन गच्छतस्सुलग्नमेव भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

राक्षस—भदन्त ! पहले तो तिथि ही शुद्ध नहीं लग रही है ।

क्षपणक—उपासक !

‘ज्योतिष का सिद्धान्त है—तिथि को प्रमाण मान कर प्रयाण में एक गुना फल’ नक्षत्र को प्रमाण मानकर प्रयाण में चौगुना फल और लग्न को प्रमाण मानकर चौसठ गुना फल होता है ॥ २० ॥

अत एव ‘क्रूर ग्रह केतु का वर्जन करते ही, तुम्हारा लग्न शुभ हो गया है । चन्द्र के सम्बन्ध में प्रस्थापारम्भ करो, तुम्हें भागा फल प्राप्त होगा, ॥ २१ ॥

राक्षसः—भदन्त ! अपरैः सांवत्सरिकैस्सार्द्धं संवाद्यताम् ।

क्षपणकः—संवादेदु सावके । अहं णिअं गेहं गमिस्सं (संवादयतु उपासकः । अहं निजं गेहं गमिष्यामि ।)

राक्षसः—न खलु कुपितो भदन्तः ?

क्षपणकः—ण कुविदे तुह्माणं भदन्ते (न कुपितो युष्माकं भदन्तः ।)

राक्षसः—कस्तर्हि ?

क्षपणकः—भअवं कअन्तो । जेण अत्तणो पक्खं उज्झिअ परपक्खं प्पमाणीकलोसि (भगवान् कृतान्तः । येन आत्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षं प्रमाणीकरोषि ।)

(इति निष्क्रान्तः क्षपणकः)

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां का वेला वर्त्तत इति ? ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अत्थाहिलासी भअवं सुत्ते (यदमात्य आज्ञापयति । अस्ताभिलाषी भगवान् सूर्यः) ।

टिप्पणी—मलयकेतुर्निराकरणीयः, चन्द्रगुप्तस्तेवितव्यः, स्वामात्यपदगौरवं पुनरपि प्राप्तव्यम्, चाणक्योऽपि न विघ्नमुत्पादयिष्यतीति गूढाभिसन्धिरत्र जीवसिद्धि-वचनस्येति ।

राक्षस—भदन्त ! और ज्योतिषियों के साथ इस पर परामर्श कर देखो ।

क्षपणक—उपासक ! तुम परामर्श करो, मैं अपने घर चला ।

राक्षस—क्या भदन्त क्रुद्ध हो गये !

क्षपणक—भदन्त नहीं क्रुद्ध है ।

राक्षस—तब कौन ?

क्षपणक—भगवान् कृतान्त जिसके कारण, तुम अपना पक्ष छोड़, परपक्ष पर आस्था कर रहे हो । (क्षपणक चला जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक ! पता लगाओ क्या समय है ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा अमात्य ! (बाहर जाकर पुनः प्रवेश करते हुये) भगवान् सूर्य अब अस्ताभिलाषी हो चले ! (अर्थात् राक्षस को अब अन्त आ पहुँचा !)

राक्षसः—(आसनादुत्थाय विलोक्य च) अये ! अस्ताभिलाषी भगवान् सहस्रदीधितिः । तथाहि—

अविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिह्वानस्य भानोः
पत्रच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा ।

राक्षसोऽस्ताभिमुखं सूर्यं पश्यन् प्रस्थानवेला समायातेति चिन्तयन् कयापि चिन्तया नष्टचेताः किमपि साशङ्कं भावि वस्तु मनसि कुर्वन्नाह—अविर्भूतानुरागा-
इत्यादि । अये ! को जानाति भाविनि महायुद्धे के के स्थास्यन्ति जना अस्मत्-
पक्षमवलम्बमानाः ! के के वा शत्रूपजसा अवसर एवोपनते परित्यज्यन्ति पक्षम-
स्माकञ्च । यतो हि सूर्योदयास्तमयोरुपवनतरव इव राजसेवका नृपोद्भव-पराभ-
वयोः क्रमशो रक्तापरक्तीभवन्त एव दृश्यन्ते । तथाहि यथा एत उपवनतरव आराम-
पादपाः उदयगिरेरुदयाचलादुज्जिह्वानस्योदयमानस्य भानोस्सतः क्षणं यथा स्यात्तथा-
अविर्भूतानुरागाः प्रीतरक्तास्सन्तः पुरस्तात्सूर्याभिमुखं पत्रच्छायैश्छायाबाहुल्येन
कृत्वा आशु शीघ्रमेव दूरं गत्वा सूर्याभिनन्दनाय पुरश्चायां प्रसारयन्तः स्थिता
इत्यर्थः । तस्मिन्नेव भानौ पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तविम्बे पश्चिमाशावलम्बिनि
सत्त्वस्तोन्मुखे संभूते त एवारामवृत्ताः निवृत्ताः निवृत्ताकृष्याः संकोचितपत्रच्छायाश्च
विभाव्यन्ते । ततस्तु निश्चप्रचमेवेदं यत्सेवमानाः भृत्याः प्रायः प्रचलितविभवं प्रन-
ष्टैश्चर्यं स्वामिनं त्यजन्ति रहयन्तीति भावः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र राक्षसस्येदं भाविवस्तुविकल्पनं चाणक्यस्य प्राप्त्याशाया
एव भङ्ग्या कयाचने स्थिरीकरणमिति सुतरामङ्कोऽयं गर्भसन्धिपरिकर्मित इत्यङ्क-
त्रयपरिच्छिन्नो बीजस्योन्मुखवान् लाभाऽलाभगवेषणाद्विस्वभावो गर्भसन्धिरवसित
इति । अस्य सन्धेरवश्यनिबन्धनीयान्याक्षेपाधिवलमार्गतोदकाऽस्त्याहरणरूपाण्य-
ङ्गानि तत्र तत्र सुनिपुणं निबद्धानीति स्वयमूह्यानि सुधीभिरिति ।

राक्षसः—(आसन से उठकर देखते हुये) ओह ! सहस्रांशु भगवान् सूर्य अस्ताभिलाषी
हो पड़े !

‘भगवान् भानु के उदय लेते हुये, क्षणभर में, उपवन के जो पेड़-पौधे बालातप से
सर्वाङ्ग रञ्जित (स्नेह-सने), अपने पत्रों की प्रभुत छाया से समन्वित, बहुत शीघ्र, दूर
तक आगे, मानो, स्वागत के लिये बढ़े, खड़े दिखाई दिये वे ही अब सूर्यविम्ब के पश्चिमदिक्

एते तस्मिन् निवृत्ताः पुनरपरककुम्भान्तपर्यस्तविम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे चतुर्थोऽङ्कः ।



(२) राक्षसोद्योगोऽत्र वाच्यायमानतयाऽवस्थितः ततश्च निपुणमपश्यतां कृते
राक्षसस्य नियतासेः राक्षसचरसंवादरूपया प्रकर्या योजनमेव नाट्यशास्त्राचरनिरी-
क्षणस्य फलम् । किन्तु राक्षसोद्योगभ्रंश एव तत्र तत्राऽभिव्यङ्ग्य इति चाणक्य-
नायकस्य प्राप्त्याशौच गूढमभिव्यक्ता सहृदयावर्जनकरी नाटककृदभृदयानुमता च
विभावनीया सर्वैः खल्वेतच्चाटकानुरागिभिरित्यलं समधिकप्रकरूपनेनेति ।

इति राक्षसोद्योगो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।



प्रान्त में लटक पड़ने पर लौट पड़े हैं । प्रायः सेवा करने वाले भृत्य भी स्वामी के वैभव
के विगत होते ही, उसे छोड़ देते हैं ॥ २२ ॥

(सभी पात्र रंगमंच से निकल जाते हैं ।)

चतुर्थ अङ्क-समाप्त



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च मुद्रितामादाय सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—ही हीमाणहे ! हीमाणहे—(आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !!)

बुद्धिजलणिज्झरोहिं सिञ्चन्ती देशकालकलसेहिं ।

दंसइस्सदि कज्जफलं गुरुअं चाणक्यणीदिलदा ॥ १ ॥

(बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलशैः ।

दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता ॥ १ ॥)

अलङ्करणस्थगिकामिति—भूषणपेटिकामित्यर्थः ।

सिद्धार्थकश्चाणक्यनीत्युद्यानस्य कोऽपि निपुणः रक्षाधिकृतः कपटलेखनिष्पादन-
रूपस्य तत्कूटनयचेत्रस्य महीयस्यै फलसिद्धयै स्पृहयन् सर्वं यथाचिन्तितं यथा-
निश्चितं च परिणममानं निध्यायन् प्रसन्नस्वान्तो वक्ति—बुद्धिजलनिर्झरैरित्यादि ।
अहो ! धन्यासि चाणक्यनीतिलते ! यस्याः खलु शत्रुसंघभेदनप्रयोजनं कूटलेख-
प्रयोगरूपं महासारं बीजं वपुं त्वरायितस्य मे मनसि कोऽपि समुह्वासः, सा खलु
भवती चाणक्यनीतिलता कौटिल्यनयकत्पवल्ली गुरुकं महनीयं लोकोत्तरं समभ्य-
धिकं वा कार्यफलं कार्यस्य । राक्षसकर्तृकचन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वयं ब्राह्मस्य फलं मौर्यसा-
म्राज्यश्रेयःप्रेयोरूपं सुतरामेव सत्वरं दर्शयिष्यति लोकेभ्यः प्रकटीकरिष्यतीति ।
तथाहि बुद्धिजलनिर्झरैर्बुद्धयो जलानीव तेषां निर्झराः प्रवाहाः येभ्यस्तैस्तथाभूतैर्दे-
शकालकलशैः देशश्च कालश्च देशकालौ तावेव कलशास्सेचनघटास्तैः सिच्यमाना
विराजते भवती । ततश्च मलयकेतुकर्तृकाभिषेककाले तस्मै न्यशिविरदेश एव संघ-
भेदरूपेणाङ्कुरिता बलाधिपवर्गविनाशरूपेण द्विपत्रिता राक्षसनिराकरणरूपेण पल्ल-
विता मलयकेतुवन्धनरूपेण पुष्पिता क्रमशः चमत्करिष्यत्येव समस्तं लोक-
मित्यभिप्राय इति ॥ १ ॥

(सिद्धार्थक का राक्षस की मुद्रा से मुद्रित लेख तथा आभूषणवाली
पेटी के साथ रंगमंच पर आगमन)

सिद्धार्थक—आश्चर्य ! आश्चर्य !!

‘उचित देश और काल रूपी कलशों में भरे बुद्धि-जल के निर्झरों से सींची गयी,
चाणक्य की नीतिलता, महान् कार्यरूपी फल दिखलियेगी ॥ १ ॥’

गहिदो मए अज्जचाणक्केण पढमलेहिदो लेहो अमच्चरक्खसस्स मुहालंछिदो तस्स जेव मुहालंछिदा इअं आहरणपेटिया । चलिदेहि किल पाडलिउत्तं, ता जाव गच्छहि । (परिक्रम्य अवलोक्य च) कहं क्खवणओ आअच्छदि ? जाव मे असउणभूदं इमस्स दंसणं, ता आदित्तदंसणेण पडिहणामि (गृहीतो मयाऽऽयं चाणक्येन प्रथमलेखितो लेखः अमात्यराक्षसस्य मुद्रालाञ्छितः । तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयमाभरणपेटिका । चलितोऽस्मि किल पाटलिपुत्रं, तद्यावत् गच्छामि । कथं क्षपणक आगच्छति ? यावन्मेऽशकुनभूतमस्य दर्शनं, तस्मादादित्यदर्शनेन प्रतिहन्मि ।)

(ततः प्रविशति क्षपणकः)

क्षपणकः—

अलिहन्ताणं प्पणमामो जे दे गम्भीलदाप बुद्धीप ।

लोउत्तलेहिं लोप सिद्धिं मग्गेहिं मग्गन्ति ॥ २ ॥

(अर्हतां प्रणमामो ये ते गम्भीरतया बुद्धेः ।

लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्मर्गयन्ति ॥ २ ॥)

क्षपणकव्यञ्जनश्चाणक्यप्रणिधिर्मित्रीकृतामात्यराक्षसो जीवसिद्धिसिद्धार्थकरूपस्य राक्षसपक्षद्वन्द्वनस्य सन्धुक्तकः पवन इव प्रवदति—अर्हतामित्यादीति । अर्हतां प्रणमामो नमस्सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रमहनीयेभ्यः क्षीणकपायेभ्यो महादेशिकेभ्योऽर्हद्भ्यो ये हि बुद्धगम्भीरतया केवलज्ञानस्य महाप्राणतया करणभूतया लोके लोकोत्तरैर्मार्गैरसाधारणैः षोडशभावनामहारध्याभिः तथा-

मैंने आर्य चाणक्य द्वारा पहले से लिखवाया गया और अमात्य राक्षस की मुद्रा से मुद्रित (कूट) लेख ले लिया है । अमात्य राक्षस की ही मुद्रा से मुद्रित यह आभरण पेटा है । पाटलिपुत्र के लिये चल रहा हूँ । तो, चल् । (चलते हुये, देखकर) अरे ! क्षपणक आ रहा है ? इसका दर्शन, तो, मेरे लिये अपशकुन है, इसलिये सूर्य का दर्शन करके इस (अपशकुन) का निवारण कर लूँ ।

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—अर्हतां को प्रणाम करता हूँ, जो संसार में, अपनी बुद्धि की गम्भीरता के कारण, लोकोत्तर साधका मार्गों से अर्हता प्राप्त कर चुके हैं ॥ २ ॥

सिद्धार्थकः—भदन्त ! प्पणमामि (भदन्त ! प्रणमामि ।)

क्षपणकः—सावगा ! धम्मलाहो दे होदु । (सिद्धार्थकं निर्वर्ण्य)
सावगा ! प्रस्थाणसमुच्चहणे किदच्चवसाअं विअ दे हिअअं पेक्खामि
(उपासक ! धर्मलाभस्ते भवतु । उपासक ! प्रस्थानसमुद्रहने
कृतव्यवसायमिव ते हृदयं पश्यामि ।)

सिद्धार्थकः—कहं भदन्तो जाणादि ? (कथं भदन्तो जानाति ?)

क्षपणकः—सावगा ! किं एत्थ जाणिदच्चं ? एसो दे मग्गादेसकुसलो
सउणो करगदो लेहो अ सूचेदि । (उपासक ! किमत्र ज्ञातव्यम् ? एष
ते मार्गदेशकुशलः शकुनः करगतो लेखश्च सूचयति ।)

सिद्धार्थकः—जाणिदं भदन्तेण देसन्तलं चलिदोहि ! ता कधेदु
भदन्तो कीदिसो अज्ज दिअसो ? (ज्ञातं भदन्तेन देशान्तरं चलितोऽस्मि !
तत् कथयतु भदन्तः कीदृशोऽद्य दिवसः ?)

हि दर्शनविशुद्धि-विनयसंपन्नता-शीलव्रतातिचाराभीक्ष्णज्ञानोपयोगाभीक्ष्णसंवेग-
त्यागतपस्समाधि-वैयावृत्यकरणाहंभक्त्याचार्यभक्ति-बहुश्रुतभक्ति-प्रवचनभक्त्या-
वश्यकोऽपरिहाणि-मार्गप्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वरूपाभिसिद्धिं मार्गयन्ति महा-
कल्याणमन्त्रेपयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अत्रार्हप्रणामकरणेन चाणक्यप्रणतिस्सूचनं ध्वनिता । चाणक्य एव
सर्वलोकैकदेशिक उपासनीयस्समीहितसिद्धिमभिलषद्भिस्स एव महासिद्धोऽभ्ये-
भ्योऽपि सिद्धिप्रदातेति सर्वं सूच्यते ।

प्रस्थानसमुद्रहने इति—प्रस्थानकर्मणि यात्राकरणे वेति ।

सिद्धार्थक—प्रणाम करता हूँ भदन्त !

क्षपणक—उपासक ! तुम्हें धर्मलाभ हो । (सिद्धार्थक को अच्छी तरह देख कर)
उपासक ! मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा हृदय कहीं यात्रा करने पर उतारू है ।

सिद्धार्थक—भदन्त ! कैसे जान गये ?

क्षपणक—उपासक ! इसमें जानने की क्या बात है ? यात्रा-सूचक तुम्हारा यह शकुन
(सयुन) और हाथ में लिया लेख दोनों सूचित कर रहे हैं ।

सिद्धार्थक—भदन्त ने जान ही लिया कि मैं परदेश चल पड़ा हूँ । भदन्त ! यह
बता दे कि आज दिन कैसा है ?

क्षपणकः—(विहस्य) सावगा ! मुण्डिअमुण्डो तुमं णक्खत्ताइं पुच्छसि ? (उपासक ! मुण्डितमुण्डस्त्वं नक्षत्राणि पृच्छसि ?)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! सम्पदं पि किं जादं ? ता कवेहि, जइ अतणो अणुऊलं भविस्सदि ता गमिस्सं, अण्णधा णिवत्तिस्सं (भदन्त ! साम्प्रत-मपि किं जातम् ? तत् कथय, यद्यात्मनोऽनुकूलं भवेत्, तदा गमिष्यामि, अन्यथा निवर्त्तिष्ये ।)

क्षपणकः—सावगाणं सम्पदं एदस्सि मलयकेदुकडए अणुऊलेण अणुऊलेण वा किं ? । अगहीदमुद्देण ण गच्छीअदि (उपासकानां साम्प्रतमेतस्मिन् मलयकेतुकटके अनुकूलेनाऽननुकूलेन वा किम् ? अगृहीतमुद्रेण न गम्यते ।)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! कहेहि कुदो क्खु अअं (भदन्त ! कथय, कुतः खल्वयम् ?)

क्षपणकः—सावगा ! णिसामेहि, पढमं दाव एत्थ मलअकेदुकडए लोअस्स अणिबालिअणिककमणप्पवेसो आसी । दाणीं एदो पञ्चासपणे कुसुमउरे, ण कोवि अमुदालंछिदो णिककमिदुं प्विसिदुं वा अणुमोदी-अदि । ता जइ भाउराअणस्स मुदालंछिदोसि, तदो गच्छ वीसत्थो,

अगृहीतमुद्रेणेति । गमनागमनाद्याज्ञापनचिह्नमनवाप्यैवेति ।

क्षपणक—(हंसते हुये) उपासक ! सिर मुड़ा पूछ कर रहे हो कि नक्षत्र कैसा है ?

सिद्धार्थक—भदन्त ! अभी भी क्या हुआ ? बता दें, यदि अपने अनुकूल हुआ, तो जाऊँगा, नहीं तो रुक जाऊँगा !

क्षपणक—उपासकों के लिये, इस समय, मलयकेतु की सेनाओं के इस पड़ाव में, दिन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने से क्या ? बिना मुद्रा लिये नहीं जा सकते ।

सिद्धार्थक—कहिये, यह सब क्यों ? भदन्त !

क्षपणक—उपासक ! सुनो पहले तो लोग बिना किसी रोक-टोक के, मलयकेतु के इस सैन्य-शिविर से आ जा सकते रहे, किन्तु अब, पाटलिपुत्र के यहाँ से सन्निकट होने के कारण, बिना मुद्रा लिये, किसी भी सेना के अथवा जाति के नहीं दिया जाता । यदि तुम्हारे पास

अण्णधा णिवत्तिअ णिउक्कण्ठं चिट्ठ । मा तुमं गुम्मट्ठाणाधिबेहि संजमिदकलचलणो राअउलं प्पवेसीअसि (उपासक ! निशामय, प्रथमं तावदत्र मलयकेतुकटके लोकस्यानिवारितनिष्क्रमणप्रवेशावास्ताम् । इदानीमितः प्रत्यासन्ने कुसुमपुरे, न कोऽप्यमुद्रालाञ्छितो निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते । तद् यदि भागुरायणस्य मुद्रालाञ्छितोऽसि, तदा गच्छ विश्वस्तः, अन्यथा निवृत्त्य निरुत्कण्ठं तिष्ठ । मा त्वं गुल्मस्थानाधिपैः संयमितकरचरणो राजकुलं प्रवेश्यसे ।)

सिद्धार्थकः—किं ण जाणादि भदन्तो, जधा अमच्चरक्खसस्स केलिअरो अन्तिओ सिद्धत्थओ अहं ति ? ता अमुद्दालंछिदं पि मं णिक्कमन्तं कस्स सत्ती णिवारेदुं ? (किं न जानाति भदन्तः यथा अत्मात्यराक्षसस्य केलिकरोऽन्तिकः सिद्धार्थकोऽहमिति ? तत् अमुद्रालाञ्छितमपि मां निष्क्रामन्तं कस्य शक्तिर्निवारयितुम् ?)

क्षपणकः—सावगा ! रक्खसस्स पिसाचस्स वा केलिअरो होहि । णत्थि उण दे अमुद्दालंछिदस्स इदो णिक्कमणोवाओ (उपासक ! राक्षसस्य पिशाचस्य वा केलिकरो भव । नास्ति पुनस्ते अमुद्रालाञ्छितस्य निष्क्रमणोपायः ।)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! ण कुप्पय, भण मे कज्जसिद्धि होदु ति (भदन्त ! न कुप्य, भण, 'मे कार्यसिद्धिर्भवतु' इति ।)

भागुरायण का मुद्राचिह्न हो, तो, बेखटके चले जाओ, अन्यथा लौट पड़ो और आने-जाने की इच्छा न करो । नहीं तो, कहीं ऐसा न हो कि फौज की चौकियों के अधिकारियों द्वारा, डाय-पैर बांध कर राजकुल (कारागार) में पहुँचा दिये जाओ ।

सिद्धार्थक—पादर्वर्ती क्या भदन्त को पता नहीं कि मैं अमात्य राक्षस का मनो-विनोदक सिद्धार्थक हूँ ! तो, किसकी शक्ति है जो विना मुद्रा के भी यहां से निकलने में मुझे रोक दे ?

क्षपणक—उपासक ! चाहे तुम राक्षस के केलिकर रहो या पिशाच के, विना मुद्रा लिये यहाँ से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं ।

सिद्धार्थक—भदन्त ! अप्रसन्न न हो कह दे कि 'मेरा कार्य सिद्ध हो' ।

क्षपणकः—सावगा ! गच्छ, होदु दे कज्जसिद्धी । अहंपि भागुरा-
अणादो पाडलिउत्तं गन्तुं मुद्दं पडिच्छेमि (उपासक ! गच्छ, भवतु
कार्यसिद्धिः । अहमपि भागुरायणात् पाटलिपुत्रं गन्तुं मुद्रां प्रतीच्छामि ।)

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानो भागुरायणः)

भागुरायणः—(आत्मगतम्) अहो ! विचित्रताऽऽर्यचाणक्यनीतेः ।
कुतः ?

मुद्रां प्रतीच्छामीति । मुद्रां गृह्णामीत्यर्थः । निगूढाभिप्रायस्तु भागुरायणेन सह
संगत्य चाणक्यसमीहितं साधयामीति खलु जनपदप्रवेशनिष्क्रामयोर्मुद्राध्यक्ष-
प्रदत्तस्य राज्याधिकारिनामाद्यङ्कितस्याज्ञापनपट्टिकादेर्नाम ।

इति प्रवेशक इति । प्रवेशकस्त्वङ्कसन्धायकश्चक्यसन्धानातीतकालवानङ्कानर्ह-
स्याऽरञ्जकस्य रञ्जकस्यापि वाऽशक्याभिनयस्य वृत्तस्य वर्णनप्रकारः 'प्रवेशयति
सामाजिकहृदयेऽप्रत्यक्षानर्थानिति प्रवेशक' इति व्युत्पत्तेरिति । तथोक्तं नाट्य-
वेदिभिः—

‘वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

प्रवेशकस्तु नाट्येऽङ्के नीचपात्रप्रयोजितः ॥’ इति ।

अत्र नाटके कौटिल्यलिखितकूटलेखादेर्वृत्तस्य वृत्तभागस्य तदुपयोगरूपस्य शत्रु-
संघभेदनमहाफलस्य वर्त्तिष्यमाणस्य च वृत्तान्तस्य सिद्धार्थक-क्षपणकाभ्यामसंस्कृ-
तेन वाग्व्यवहारेण संसूचनासंगतं प्रवेशकलक्षणमिति ।

क्षपणक—उपासक ! जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो । मैं भी, भागुरायण से, पाटलिपुत्र
जाने के लिये, मुद्रा ले लूँ ।

(दोनों चले जाते हैं)

(प्रवेशक समाप्त होता है)

(भागुरायण का प्रवेश—एक अनुचर के साथ)

भागुरायण—(आत्मगतम्) अहो ! अर्यचाणक्य की नीति विचित्र है ।

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
 मुहुः सम्पूर्णाङ्गी, मुहुरतिकृशा कार्यवशतः ।
 मुहुर्भ्रम्यद्बीजा, मुहुरपि बहुप्रापितफले-
 त्यहो ! चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥ ३ ॥

भागुरायणः कौटिल्यकूटनीतिं फलोन्मुखीं विमृशन्, स्वहृदयनिहितकौटि-
 ल्यनयस्सप्रहर्षं तस्या एव स्मारं स्मारं वदति—मुहुर्लक्ष्योद्भेदेति । अहो ! आश्चर्यं
 महाश्चर्यं यन्नयविदो नयज्ञाननिधेराचार्यचाणक्यस्य नीतिः कूटराजनीतिर्नियति-
 रिव प्रकृतिशक्तिवैचित्रीव चित्राकारा विस्मयजननी बहुप्रकारा दुरधिगततत्तद्-
 व्यवहारा वेति । तथा हि, यथा नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुर्लक्ष्योद्भेदा स्थिरचलादि-
 जगतकार्यजातसाक्षात्कारादिना मुहुर्वारं वारं लक्ष्योऽनुमेयस्तर्कणीयो बोद्भेदो
 भूतभौतिकादिरूपेणाविर्भावो यस्यास्तथाभूता, तथैव चाणक्यनीतिरपि राक्षसा-
 शाविघातादिरूपपर्वतकवध-तीक्ष्णरसदादिप्रतिविधानादिभिस्तत्तत्सकलव्यापारैस्स-
 र्वानुमेयस्वरूपप्रभावाः यथा खलु नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुरधिगमाभावगहना
 पुनरपि तदधिगमस्य तत्सत्त्वासत्त्वस्य 'नासदासीन्नो सत्तदानीमि'ति श्रुतिप्रपञ्चि-
 तस्य तद्भावाऽभावादेर्विज्ञानस्य योऽभावस्तेन गहना दुर्लक्ष्यस्वरूपा तथा खलु
 कौटिल्यनीतिरपि मुहुरधिगमाभावगहना भूयोऽपि राक्षसप्रज्ञा-विक्रमादिकृततत्त-
 त्प्रतिविधानैस्तस्या योऽधिगमः किं करिष्यतीति रूपान्तरस्याऽवगतिस्तदभावेन
 गहना दुर्बोधस्वरूपेति, यथा वा नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुः सम्पूर्णाङ्गी परिणतै-
 स्तत्तद्भावजातैः कृत्वा सकलावयवा संदर्शितवैश्वरूप्या, तथा हि कौटिल्यनीतिरपि
 मुहुः संपूर्णाङ्गी समुचितदेशकालाद्यवाप्तौ संप्रति कूटलेखोपयोगादौ करिष्यमाण-
 शत्रुभेद-प्रणाशादिप्रयोजनसाकल्ये समुपचितसर्वविभववेति, यथा च नियतिः प्रकृति-
 शक्तिः कार्यवशतः पुरुषप्रयोजनकविवेकज्ञानादिपारवश्यात् मुहुरतिकृशा संहत-
 समस्तविक्षेपा पुरुषकृतकैवल्यविज्ञानाद्विज्ञातप्रातिस्विकस्वरूपाऽकिञ्चित्करी वा,

‘कमी इसकी गूढ़ चालें प्रकाश में आने लगती हैं, कमी इतनी गहन बन जाती हैं
 कि किसी की बुद्धि में ही न आ सकें ! कमी ऐसा लगती है जैसे अपने सम्पूर्ण अङ्गों में
 खड़ी हो गयी हो ! और कमी कारण वश अत्यन्त कृशकाय दोखने लगती हैं ! कमी
 ऐसा प्रतीत होता है कि इसका बीज भो नष्ट-भ्रष्ट हो गया और कमी सबको विविध
 प्रकार के अपने फल देने लगती है । आश्चर्य है ! नियति को बहुरंगी चाल की भाँति
 नीतिज्ञ (चाणक्य) को भी नीति बहुरंगी हो गयी है ॥ ३ ॥

कुले लज्जायाञ्च, स्वयशसि च, माने च, विमुखः
 शरीरं विक्रीय क्षणिकधनलाभाद्धनवति ।
 तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना,
 विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥ ४ ॥

(ततः प्रविशति प्रतीहार्यनुगतो मलयकेतुः)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहो राक्षसं प्रति मे विकल्पबाहुल्यादाकुला
 बुद्धिर्न निश्चयमधिगच्छति । कुतः ?—

भागुरायणः स्मृतमलयकेतुस्नेहो निश्चितस्वकार्यनिर्वहणश्चैकतस्सौहार्दभावेनाऽ-
 परतश्च कर्त्तव्यधियाऽऽकृष्टचेता वक्ति-कुले लज्जायामित्यादि । हन्त ! यः कोऽपि पर-
 तन्त्रः पराधीनः मादृशो जनस्स खलु किमिति विमृशति कथङ्कारं कर्त्तव्याऽकर्त्त-
 व्यविचारमपि कर्तुं शक्नोतीति । तथा च मयि स्नेहवान् कुमारो मलयकेतु-
 रतिसन्धातव्यो न वाऽतिसंधातव्य इति विचारोऽप्यधुना न कर्तुं शक्यः ।
 तथाहि परवान् जनः कुले स्ववंशे, लज्जायां कस्माच्चनापि कर्मणोऽपत्रपणे, स्वय-
 शसि स्वात्मकीर्त्तौ, माने स्वाभिमानादौ च विमुखो विरक्तीकृतोऽथ च क्षणिकधन-
 लाभादस्थिरसुखसम्पदाशया धनवति प्रभौ शरीरं विक्रीय स्वदेहं तत्सामर्थ्यं च
 तदायत्तीकृत्य, केवलं तदाज्ञां कुर्वाणस्त्वामिनो नियोगमेव निकामं परिपालयन्,
 विचारातिक्रान्तो विरहितसदसद्विवेकः परिमुपितकृत्याकृत्यविमर्शोऽधुनाऽवश्यकर-
 णीये प्रभुकृत्ये हितमहितमिति किमिति विमृशति किमपीदं हितकरमन्यच्चाहित-
 करमिति कथं विवेक्तुमपि समर्थं इति भावः ॥ ४ ॥

जिस व्यक्ति को क्षणिक धन की आशा से, किसी धनी-मानी के हाथ, अपने
 आप को बेंच कर एकमात्र उसी के संकेतों पर नाचना पड़े, जिसे अपनी कुल-मर्यादा
 की भांति अपनी शालीनता से भी निरपेक्ष हो जाना पड़े, जिसे अपनी प्रतिष्ठा की
 भांति अपने स्वाभिमान से भी विमुख हो जाना पड़े और जो वस्तुतः कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य
 विचार के अधिकार से ही बंचित हो जाय, वह पराधीन जीव यह कैसे सोच सकता है कि
 क्या ठीक है और क्या नहीं ठीक है ॥ ४ ॥

(मलयकेतु और साथ-साथ प्रतीहारी का प्रवेश)

मलयकेतु—(स्वगत) ओह ! राक्षस के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प की बहुलता के
 कारण, मेरी बुद्धि कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती । क्योंकि—

भक्त्या नन्दकुलानुरागद्वया नन्दान्वयालम्बिना
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण सन्धास्यते ? ।
स्थैर्यं भक्तिगुणस्य वाऽधिगणयन् किं सत्यसन्धो भवे-
दित्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेत्तश्चिरं भ्राम्यति ॥ ५ ॥

मलयकेतुः किमपि राक्षसविषयकं मुहुर्मुहुर्विचारयन्ननासततच्चिन्तियो वदति—
भक्त्येत्यादि । हन्त ! मे चेतो मम मन आरूढकुलालचक्रमिवारूढं कुलालचक्रं येन
तथाभूतमिव सच्चिरं भ्राम्यति घूर्णत एव कुत्रापि स्थिरां स्थितिमजानतो मम मनसः
को वा संस्तम्भयिता पर्यवष्टम्भयिता वेति न ज्ञायते । तथाहि न जाने किमयं
राक्षसो नन्दकुलानुरागद्वया नन्दकुले नन्दवंशे योऽनुरागस्नेहप्राग्भारस्तेन दृढा
स्थिरा तथा भक्त्या स्वराजसेवया हेतुभूतया नन्दान्वयालम्बिना नन्दवंशपुच्छ-
भूतेन नन्दकुलवर्तिना चाणक्यनिराकृतेन चाणक्यस्य निराकृतं तिरस्करणं येन
तेन निराकृतकौटिल्येन कृतिना यशस्विना मौर्येण चन्द्रगुप्तेन सन्धास्यते सन्धि-
विधास्यति साञ्च मध्येसमुद्रं परित्यज्यति, किमुत भक्तिगुणस्य ममैव तन्महा-
भक्तस्य स्थैर्यं भक्तिदाढ्यमधिगणयन् मनसि कदाचन कुर्वन् सत्यसन्धो वा भवेत्
मद्विषयककार्यनिर्वहणे सत्यप्रतिज्ञस्याञ्च मौर्यं कथमपि सेविष्यत इत्यर्थं इति ।
महदिदं चितकचक्रं नितरां भ्रामयत्येव मनो मेऽप्रतीकारमित्यभिप्राय इति ॥ ५ ॥

टिप्पणी—श्रीदुण्डिराजप्रभृतिभिर्न्याख्यातुमिरत्र भदन्तभागुरायणयोर्जल्पनं
निर्वहणसन्धेः परिभाषणरूपमङ्गमिति यदुक्तं न तद्विचारसुस्थिरं प्रतिभाति, विमर्श-
सन्धेरवात्रोपक्रान्तत्वात् प्रतिपिपादयिषितदिशाऽस्यैवाऽत्र सन्धिप्रकारस्य सुसङ्गत-
त्वाच्चेति । निर्वहणसन्धेरसत्त्वेऽप्यत्र परिभाषणस्य सत्त्वं नापलपामोऽपि तु समर्थ-
यामह एव । तथा हि भवतु नाम परिभाषणं निर्वहणसन्धेरङ्गं किन्त्वस्याऽङ्गान्तरस्य
वा निर्वहणसन्धौ सन्ध्यन्तरे वा योग्यतया य उपनिबन्धः स एव नाटककवीनां
रसनिवेशैकव्यवसायिनां पन्थाः । विशाखदत्तोऽयं महान् नाटककविर्नायं शब्दार्थ-
प्रथनवैचित्र्यमात्रोन्मदिष्णुर्यो हि स्वसन्धावेव सर्वेषामङ्गानां निबन्धं करोति ।

‘क्या ऐसा तो नहीं होगा कि वह, नन्दवंश के प्रति अपनी प्रेम-पगी राजभक्ति के
कारण, चाणक्य को पदच्युत कर देने वाले नन्द-वंशी यशस्वी चन्द्रगुप्त के साथ जा
मिलेगा ? अथवा अपने प्रति मेरी भक्ति की स्थिरता को सोचते हुये, अन्त तक सत्यप्रतिज्ञ
वना रहेगा ?—इस प्रकार मेरा मन, मानो कुम्हार के चाक पर चढ़ा हुआ, निरन्तर
चक्कर काट रहा है ॥ ५ ॥

(प्रकाशम्) विजये ! क भागुरायणः ?

प्रतिहारी—कुमार ! एसो कखु कइआदो णिकमिदुकामाणं मुद्रा-
संपदाणं अणुचिट्ठदि (कुमार ! एष खलु कटकाभिष्कमितुकामानां
मुद्रासम्प्रदानमधितिष्ठति ।)

मलयकेतुः—विजये ! मुहूर्त्तं निश्चृतपदसञ्चारा भव, यावदस्य पराङ्-
मुखस्यैव पाणिभ्यां नयने पिदधामि ।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणवेदि (यत् कुमार आज्ञापयति ।)

भासुरकः—(प्रविश्य) ! अज्ज ! कखु कखबणओ मुद्राणिमित्तं अज्जं
पेत्तिखदुमिच्छदि (आर्य ! एष खलु क्षपणको मुद्रानिमित्तमार्यं प्रेक्षितु-
मिच्छति ।)

भागुरायणः—प्रवेशय ।

भासुरकः—जं अज्जो आणवेदि (यदार्य आज्ञापयति ।) (इति
निष्क्रान्तः)

क्षपणकः—(प्रविश्य) सावकाणं धम्मविद्धी होदु (उपासकानां
धर्मवृद्धिर्भवतु ।)

कविरयमेकमप्यङ्गं रसपोषकत्वात्तत्सन्धौ सन्ध्यन्तरे वा द्विस्त्रिर्वा निबध्नाति तथैव
च सहृदयानां हृदयान्यानन्दयतीति किमधिकं विस्तरेणेति ।

(प्रकट) विजये ! भागुरायण कहाँ है ?

प्रतीहारी—कुमार ! शिविर से बाहर जानेवाले लोगों को मुद्रा देने के अधिकार का
सम्पादन कर रहे हैं । (पासपोर्ट या बीसा आजकल का)

मलयकेतु—विजये ! क्षण भर, चुपचाप चलो, जब तक मैं पीछे से अपने हाथों इसकी
आँखें ढकता हूँ ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा कुमार !

भासुरक—(भीतर आते हुये) आर्य ! यह क्षपणक मुद्रा के लिये आर्य का दर्शन
करना चाहता है ।

भागुरायण—आने दो भीतर ।

भासुरक—जो आज्ञा आर्य ! (बाहर चला जाता है)

क्षपणक—उपासकों का धर्मवृद्धि के लिये ।

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य स्वगतम्) अये ! राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः । (प्रकाशम्) भदन्त ! न खलु राक्षसस्य प्रयोजनमेव किञ्चिदुद्दिश्य गम्यते ?

क्षपणकः—(कणौ पिधाय) सन्तं पाबं, सन्तं पाबं ! सावगा ! तर्हि ज्जेव्व गमिस्सं, जर्हि रक्खसस्स पिसाचस्स वा णामं पि ण सुणी-अदि । (शान्तं पापं, शान्तं पापम् । उपासक ! तत्रैव गमिष्यामि, यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते ।)

भागुरायणः—भदन्त ! बलीयांस्ते सुहृदि प्रणयकोपः । तत् किमपराद्धं राक्षसेन भदन्तस्य ?

क्षपणकः—सावगा ! ण मम किं पि रक्खसेण अबलद्धं । सअं ज्जेव्व मन्दभाओ अत्तणो कम्मसु लज्जामि (उपासक ! न मे किमपि राक्षसेनापराद्धं, स्वयमेव मन्दभाग्य आत्मनः कर्मसु लज्जे ।)

भागुरायणः—भदन्त ! वर्द्धयसि मे कुतूहलम् ।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) मम च ।

भागुरायणः—श्रोतुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहमपि ।

भागुरायण—(अभिनयपूर्वकं देखकर-स्वगत) अरे ! यह तो राक्षस का मित्र जीव-सिद्धि है ! (प्रकाश) भदन्त ! क्या राक्षस के ही कार्यवश कहीं जा रहे हो ?

क्षपणक—(कान बंद कर) राम राम ! ऐसा न कहो, उपासक ! मैं तो वहां जा रहा हूँ जहां राक्षस अथवा पिशाच का नाम भी सुनाई नहीं देता ।

भागुरायण—भदन्त ! अपने मित्र पर तुम्हारा प्रेमकोप बढ़ा भारी है । राक्षस ने भदन्त का क्या विगाड़ा ?

क्षपणक—श्रावक ! राक्षस ने हमारा कुछ नहीं विगाड़ा । मैं अमागा स्वयं अपने काम से लज्जित हो रहा हूँ ।

भागुरायण—भदन्त ! तुम मेरा कुतूहल बढ़ा रहे हो ।

मलयकेतु—(स्वगत) और मेरा भी ।

भागुरायण—मैं सुनना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—मैं भी, Shu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्षपणकः—सावगा ! किं एदिणा असुणिदव्वेण सुदेण ? (उपासक ! किमेतेनाश्रोतव्वेन श्रुतेन ?)

भागुरायणः—भदन्त ! यदि रहस्यं, तदा तिष्ठतु ।

क्षपणकः—सावगा ! न हि रहस्सं (उपासक ! न हि रहस्यम् ।)

भागुरायण—तर्हि कथ्यताम् ।

क्षपणकः—सावगा ! णत्थि एदं, तधावि ण कधइस्सं अदिणिसंसं (उपासक ! नास्तीदं, तथापि न कथयिष्याम्यतिनृशंसम् ।)

भागुरायणः—भदन्त ! अहमपि मुद्रां न दास्यामि ।

क्षपणकः—(स्वगतम्) युक्तमिदानीमर्थिने कथयितुम् (प्रकाशम्) का गदी ? एसे णिवेदेमि, सुणाहु सावगो ! अत्थि दाव हगे अधण्णो पड़मं पाड़लिउत्ते णिवसमाणो रक्खसस्स मित्तत्तणं उवगदे । तर्हि अबसले । रक्खसेण गूढं विसकण्णा-पओअं समुप्पादिअ घादिदे देवे पव्वदीसले (का गतिः ? निवेदयामि, शृणोतु उपासकः । अस्ति ताव-दहमधन्यः प्रथमं पाटलिपुत्रे निवसन् राक्षसस्य मित्रत्वमुपगतः । तस्मिन्नावसरे राक्षसेन गूढं विषकन्याप्रयोगं समुत्पाद्य घातितो देवः पव्व-तेश्वरः ।)

क्षपणक—उपासक ! इसके सुनने से क्या जो सुनने के योग्य नहीं ।

भागुरायण—भदन्त ! यदि गोपनीय हो तो रहने दो ।

क्षपणक—उपासक ! गोपनीय नहीं ।

भागुरायण—तब कहिये ।

क्षपणक—उपासक ! रहस्य की बात नहीं, किन्तु अत्यन्त नृशंसता की बात नहीं कहूँगा ।

भागुरायण—भदन्त ! तो मैं भी मुद्रा नहीं दूँगा ।

क्षपणक—(स्वगत) इसे बता देना उचित है क्योंकि इसे इसकी आवश्यकता है । (प्रकट) कोई चारा नहीं । बताता हूँ । सुनो उपासक ! मैं, अमागा, पहले जब पाटलिपुत्र में रहा, तब, राक्षस का मित्र बन गया । उस समय राक्षस ने विषकन्या के गूढ प्रयोग द्वारा महाराज पर्वतक की हत्या करवाई ।

मलयकेतुः—(सबाष्पमात्मगतम्) कथं, राक्षसेन घातितस्तातः, न चाणक्येन ?

भागुरायणः—भदन्त ! ततस्ततः ?

क्षपणकः—तदो हगे रक्खसस्स मित्तं कदुअ चाणक्कहदएण सणिकालं णअरादो णिच्वासिदो । दाणीं पि रक्खसेण आणेअकज्ज-कुसलेण किंपि तादिसं आलहीअदि, जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासि-ज्जोमि । (ततोऽहं राक्षसस्य मित्रं कृत्वा चाणक्यहतकेन सनिकारं नगरान्निर्वासितः । इदानीमपि राक्षसेनानेकाकार्यकुशलेन किमपि तादृ-शमारभ्यते, येनाहं जीवलोकान्निष्कासिष्ये ।)

भागुरायणः—भदन्त ! प्रतिश्रुतराज्याद्धर्मयच्छता चाणक्यहतकेनेद-मकार्यमनुष्ठितं न राक्षसेनेति श्रुतमस्माभिः ।

क्षपणकः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावं सावगा ! चाणक्को विस-कण्णाए णामवि ण जाणादि । तेण ज्जेच्च दुष्टबुद्धिणा रक्खसेण एसा अकज्जसिद्धी किदा । (शान्तं पापम् । उपासक ! चाणक्यो विषकन्याया नामापि न जानाति । तेनैव दुष्टबुद्धिना राक्षसेनैषाऽकार्यसिद्धिः कृता ।)

भागुरायणः—भदन्त ! कष्टमिदम्, इयं मुद्रा दीयते, एहि कुमारं संश्रावयावः ।

मलयकेतु—(आंखों में आंसू लिये, स्वगत) तो क्या राक्षस ने हमारे पिता को मरवाया, चाणक्य ने नहीं ।

भागुरायण—भदन्त ! तब क्या हुआ ?

क्षपणक—तब, दुष्ट चाणक्य ने, मुझे राक्षस का मित्र घोषित कर, अपमानपूर्वक नगर से निकलवा दिया । इस समय भी, अनेकों कुकृत्यों में कुशल राक्षस कुछ ऐसा कर रहा है जिससे मैं इस दुनिया से ही निकलवा दिया जाऊंगा ।

भागुरायण—भदन्त ! हम लोगों ने तो सुना था कि पूर्व प्रतिज्ञात राज्य का आधा भाग न देने के लिये दुष्ट चाणक्य ने यह कुकर्म किया है, राक्षस ने नहीं ।

क्षपणक—(कान बन्द कर) राम कहो ! अरे उपासक ! चाणक्य विषकन्या का नाम भी नहीं जानता । उसी दुष्टबुद्धि राक्षस ने यह कुकर्म सिद्ध किया है ।

भागुरायण—भदन्त ! बड़े दुःख की बात है । अस्तु, यह मुद्रा दे रहा हूँ । आओ, कुमार की सुना दी ।

मलयकेतुः—

श्रुतं सखे ! श्रवणविदारणं वचः

सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य भाषितम् ।

पितुर्वधन्यसनमिदं हि येन मे

चिरादपि द्विगुणमिवाद्य वर्द्धते ॥ ६ ॥

क्षपणकः—(स्वगतम् । संस्कृतेन) अये ! श्रुतं मलयकेतुहृतकेन !!
कृतार्थोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं वद्ध्वा) राक्षस ! युक्तमिदम् ।

मलयकेतुः 'पिता राक्षसेन घातित' इति श्रुत्वा विचित्रचित्तो विलपति—श्रुतं सखे इत्यादि । सखे ! भागुरायण ! सुहृन्मुखात् सुहृदो भदन्तस्य मुखात् रिपुं महाशत्रुं राक्षसमधिकृत्य भाषितमुक्तं श्रवणविदारणं वचः श्रुतं मयेति शेषः । येन 'पिता मे राक्षसेन घातित' इति रूपेण वचसेदं प्रतिविधानाय चिन्त्यमानं मे पितुर्वधन्यसनं पितृवधजनितदुःखं चिरादपि बहोः कालादुपनतमप्यद्य संप्रति द्विगुणमिव वर्द्धते सुतरां द्विगुणितमिव संजायत इत्यभिप्राय इति ॥ ६ ॥

अये श्रुतं मलयकेतुहृतकेनेति—'इदं वीजानुगुणकार्यप्रख्यापनं निर्णय' इति यदुक्तं श्रीदुण्डिराजप्रभृतिभिस्सन्ध्यङ्गनिर्वर्णननदीष्णस्मन्धसानैस्तत्तु नाद्रियामहे । वस्तुतस्त्वत्र नाटककृता चाणक्यनायकस्य भङ्ग्या नियतासिं निरूपयता वीजसहकारिणः कार्यस्यैवोपनिबन्धः कृतस्तथा हि जीवसिद्धिप्रयुक्तोऽयं भेदोपायवचःक्रमः कार्यते फलं (राक्षसविघटनादिरूपम्) इति कार्यमिति व्युत्पत्तेः, कार्यरूप एवेति ।

मलयकेतुः—मित्र ! शत्रु (राक्षस) को लक्ष्य में करके मित्र के मुख से निकली कानों को विदीर्ण कर देने वाली यह बात मैंने सुन ली । इस बात से, पिता के वध का बहुत पुराना भी दुःख, आज, मानो दुगुना होकर बढ़ रहा है ॥ ६ ॥

क्षपणकः—(स्वगत) अरे ! दुष्ट मलयकेतु ने सब सुन लिया ! मेरा काम बन गया ।

(बाहर चला जाता है)

मलयकेतुः—(अन्य की ओर देखते हुये मानो राक्षस पर टुकटकी लगाये) राक्षस !

ठीक ही है ।

मित्रं ममायमिति निर्वृतचित्तवृत्तिं /
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।

तातं निपात्य, सह बन्धुजनताक्षितोयै-
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस ! राक्षसोऽसि ॥ ७ ॥

भागुरायणः—(स्वगतम्) 'रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा' इत्यार्यादेशः ।
भवत्वेवं तावत् (प्रकाशम्) कुमार ! अलमावेगेन । आसनस्थं कुमारं
किञ्चिद्विज्ञापयितुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(उपविश्य) सखे ! किमसि वक्तुकामः ?

भागुरायणः—कुमार ! स्वत्वर्थशास्त्रव्यवहारिणामर्थवशादरिमित्रोदा-
सीनव्यवस्था, न लौकिकानामिव स्वेच्छावशात् । यतस्तस्मिन् काले

मलयकेतुः पुनरपि राक्षसमेव निर्वृणं बुद्धिस्थमाक्षिपति—मित्रं ममायमिति ।
राक्षस ! ननु न नास्नैव राक्षसोऽस्यपि त्वन्वर्थत एव वस्तुतो राक्षसोऽसि ।
तथाहि तातं मत्पितं महाराजपर्वतेश्वरं ममायं मित्रमिति निर्वृतचित्तवृत्तिं राक्षस
एव मम परमोपकारी सुहृदिति धिया निर्वृता शान्ता निश्चिन्ता वा चित्तवृत्तिर्मनो-
व्यापृतिर्यस्यैवंभूतं निश्चिन्तचित्तमित्यभिप्रायः । अत एव च हेतोर्विश्रम्भतः विश्वा-
सात्त्वयि निवेशितसर्वकार्यं समर्पितसर्वभरमपि बन्धुजनाक्षितोयैस्सह निपात्य
सुहृद्गर्वाश्रुसलिलैस्समं पातयित्वा विनाश्येत्यर्थो वस्तुतस्सर्वथा क्रूराचारतया निर्वृ-
णव्यापारतया च राक्षसाभ एवेति भाव इति ॥ ७ ॥

अर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्थेति—विजिगीषू राजा न स्वभावतः प्राकृतजनवत्क-

'मेरा यह मित्र है' यह सोचकर मन में निश्चिन्त हो जाने वाले तथा विश्वास के
कारण तुम पर सभी कार्य भार छोड़ देने वाले मेरे पिता को, मेरे बन्धु-बान्धवों के
अश्रुजल के साथ, गिराकर, अरे राक्षस ! यथार्थ में तुम राक्षस निकले ॥ ७ ॥

भागुरायण—(स्वगत) 'राक्षस के प्राणों की रक्षा करना'—यह आर्य (चाणक्य)
का आदेश है ! अच्छी बात है । (प्रकट रूप में) कुमार ! क्रोध करने की आवश्यकता
नहीं । आप आसन पर बैठें, मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(बैठते हुए) मित्र ! क्या कहना चाहते हो ?

भागुरायण—कुमार ! अर्थशास्त्र (राजनीति शास्त्र) के अनुसार कार्य करने वालों
के लिये, प्रयोजन वश, शत्रु, मित्र और तटस्थ को व्यवस्था होती है, न कि जनसाधारण

सर्वार्थसिद्धिं राजानमिच्छतो राक्षसस्य चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तया सुगृहीतनामा देवः पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिरासीत् । तस्मिन् काले राक्षसेनेदमनुष्ठितमिति नातिदोषमत्र पश्यामि । पश्यतु कुमारः—

मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून् ।

नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्तं जन्मान्तरं जीवत एव पुंसः ॥ ८ ॥

स्यापि मित्रं कस्याप्यरिरुदासीनो वा, अपि तु प्रयोजनवशादेव यथोक्तम्—‘नीति-
शास्त्रानुगो राजा, हेतुतश्शत्रुमित्रे भविष्यत’ इत्यादौ चाणक्यसूत्रे ।

अर्थपरिपन्थी महानरातिरिति—अत्रेदं कौटिलीयार्थशास्त्रवचनं सर्वथा संवादि—
‘अथवा शमयेदेनमायत्यर्थमुपांशुना ।

आयत्यां च वधप्रेप्सुं दृष्ट्वा हन्याद् गतागतम् ॥’ इति ।

भागुरायणः पर्वतकवधरूपं राक्षसापचारं मलयकेतवे समादधानो वक्ति—
मित्राणीति । नीतिः राजनीतिरेव विजयते या ह्यर्थस्य वशात्तत्तत्कार्यानुरोधेन मित्रा-
णि शत्रुत्वमुपानयन्ती सुहृदोऽपि शत्रून् कुर्वाणा शत्रूँश्च मित्रत्वमुपानयन्ती महत्त-
श्चारातीन् परमोपकारिणो विदधाना अस्मृतपूर्ववृत्तं न स्मृतं पूर्ववृत्तं पूर्वकृततत्तत्कार्यं
यत्रैवभूतमनवबुद्धपूर्ववृत्तान्तमित्यर्थोऽथवा पूर्वं स्मृतं स्मृतपूर्वं न स्मृतपूर्वं वृत्तं
तत्तत्करिष्यमाणकर्मादि वा यस्मिन्नेवभूतमपूर्वध्याततत्तद्व्यवहारमित्यभिप्रायः ।
जन्मान्तरमन्यदेव जन्म भूतं वा भावि वा जन्मेति भावो जीवत एव पुंसोऽमृता-
नेव राजनयव्यवहारिणो जनान्नयति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मिन्नेवजन्मनि वर्तमानाः
राजनयव्यवहारिणो जनाः कदाचनैकदा भूतजन्मवर्तिनोऽन्यदा वा कदाचिद्
भाविजन्मस्था इव तत्तत्कुर्वन्ति कार्यन्ते वा राजनीत्येति कः पर्यनुयोक्तुं प्रभवेद्राज-
नीतिं महेश्वरीमित्यभिप्राय इति ॥ ८ ॥

को भांति स्वेच्छावश । इसीलिये उस समय, सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाना चाहने वाले
राक्षस के लिये, चन्द्रगुप्त से भी अधिक प्रबल होने के कारण प्रातःस्मरणीय महाराज
पर्वतेश्वर ही, स्वोद्देश्यसिद्धि के विघातक होने से बहुत बड़े शत्रु थे । राक्षस ने यह
कार्य उस समय किया था—इसलिये, इसमें, उसका बहुत बड़ा दोष मुझे नहीं दिखायी
देता । देखो, कुमार !

यह राजनीति है जो प्रयोजनवश मित्रों को शत्रु और शत्रुओं को मित्र बनाती हुई
जीवित मनुष्य को ही ऐसे जन्मान्तर में पहुँचा देती है जिसकी बीती बातों का उसे स्मरण
नहीं होती—

तदत्र वस्तुनि नोपालभ्यो राक्षसः, आ नन्दराज्यलाभादनुग्राह्यश्च ।
परतस्तस्य परिग्रहे परित्यागे वा कुमारः प्रमाणम् ।

मलयकेतुः—एवं भवतु सखे ! सम्यक् दृष्टवानसि अमात्यस्य वधे
प्रकृतिक्षोभः स्यात् । एवञ्च सन्दिग्धो विजयः स्यात् ।

पुरुषः (प्रविश्य)—जेदु जेदु कुमारो । अअं अज्जस्य गुम्मट्टाणाधिकिदो
दीहचक्खु अज्जं विण्णवेदि—एसो क्खु अहोहिं कडआदो णिक्कमन्तो
अगगहीदमुदो सलेहो पुलिसो गहीदो, ता पच्चक्खीकरेदु णं अज्जो त्ति ।
(जयतु जयतु कुमारः । अयमार्यस्य गुल्मस्थानाधिकृतो दीघचक्षुरार्यं
विज्ञापयति—‘एष खल्वस्माभिः कटकाग्निष्कामन्नगृहीतमुद्रः सलेखः
पुरुषो गृहीतस्तत् प्रत्यक्षीकरोत्वेनमार्य’ इति ।)

भागुरायणः—भद्र ! प्रवेशाय ।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि (यदार्य आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति पुरुषेणाऽनुगम्यमानः संयतः सिद्धार्थकः)

टिप्पणी—अत्र त्रिमर्शसन्देशशक्त्याख्यमङ्गमुपनिबद्धम् । ‘ऋद्धप्रसादिनी शक्ति’-
रिति शक्तिलक्षणम् । ऋद्धस्य राक्षसं प्रति कोपाविष्टस्य मलयकेतोः प्रसादनं भागु-
रायणेन स्वबुद्धिविभवादिना यत् कृतं तद्वर्णनापरं वाचोयुक्तिर्नाटककृतोऽत्रेति
सुश्लिष्टं शक्तिलक्षणमिति ।

इसलिये इस िपय में राक्षस को भला-बुरा कहना ठीक नहीं । नन्द-साम्राज्य के
हाथ में आने तक, उसे अपनाये रहना ही ठीक है । इसके बाद उसे रखना या निकालना
कुमार की स्वेच्छा पर निर्भर है ।

मलयकेतु—ऐसा ही रहे मित्र ! तुमने अच्छा सोचा । अमात्य राक्षस के वध से
प्रकृति-विद्रोह उठ खड़ा होगा ! और हमारी विजय सन्देह में पड़ जायगी ।

पुरुष—(प्रवेश करके) जय हो कुमार ! जय हो ! प्रधान शिविरपाल दीर्घचक्षु का
कुमार से निवेदन है—हमने इस मनुष्य को बिना मुद्रा लिये, एक लेखपत्र के साथ, शिविर
से बाहर निकलते हुये पकड़ा है । कुमार इसे स्वयं देख लें ।

भागुरायण—भद्र ! उसे भीतर लिवा-लाओ ।

पुरुष—आर्य की जैसी आज्ञा (बाहर चला जाता है)

सिद्धार्थकः—(स्वगतम्)—

तीप्पन्तीण गुणेषुं दोलेसुं परं मुहं करन्तीप ।

अह्वारिसज्जणणीप प्पणमामो सामिभक्तीप ॥ ९ ॥

(तृप्यन्त्यै गुणेषु, दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै ।

अस्मादृशजनन्यै प्रणमामः स्वामिभक्त्यै ॥ ९ ॥)

पुरुषः—(उपसृत्य) अज्ज ! अअं सो पुलिसो (आर्य ! अयं स पुरुषः ।)

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र ! किमयमागन्तुकः, आहोस्विदिहैव कस्यचित्परिग्रहः ?

सिद्धार्थकः—अज्ज अहं क्खु अमच्चरक्खसस्स सेवओ (आर्य ! अहं खल्वमात्यराक्षसस्य सेवकः ।)

भागुरायणः—भद्र ! तत् किमर्थमगृहीतमुद्रः कटकान्निष्कामसि ?

सिद्धार्थकस्संयतदेहस्वकार्यानुष्ठानं मनसि कुर्वन्नाह—तृप्यन्त्या इति । स्वामिभक्त्यै प्रणमामः प्रणतिं कुर्महे । कीदृश्यै स्वामिभक्त्यै ? अस्मादृशजनन्यै या ह्यस्मादृशानां गूढप्रणिधीनां सर्वविधसाहसिककृत्येषु हस्तधृतप्राणानां जननी मातेव परि-रक्षिका तस्यै । पुनश्च कथंभूतायै ! गुणेषु तृप्यन्त्यै प्रेषण-सन्धिपालत्व-मित्रसंग्रहण-सुहृद्भेद-गूढदण्डातिसारणोपजाप-यन्धुरत्नापहरणादितत्कर्मसु कृतेषु प्रसन्ननायै कृतज्ञाया इति । पुनश्च कथंभूताया इति ? दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै अस्माकमेव प्रमादेषु कर्मभक्षणेषु परकृतातिसन्धानेषु वा तत्तदपचारेषु मुखं स्वाननमेव पराक् लज्जया तिरश्चीनं वहन्त्यै इति साधितं मया स्वामिभक्तिकार्यम्, मम यद्भवतु तद्भवतु, प्रीयतां राजसेवैव जननी ममेत्यभिप्राय इति ॥ ९ ॥

सिद्धार्थक—(स्वगत) (सेवक में) “गुणों के होते संतुष्ट होने वाली और दोषों के होते मुँह मोड़ने वाली, हम सरीखे सेवकों की जननी स्वामिभक्ति को प्रणाम करता हूँ” ॥

पुरुष—(पास पहुँचकर) आर्य यह है वह मनुष्य ।

भागुरायण—(अभिनय के साथ देखते हुए) भद्र ! क्या यह कहीं बाहर से आया हुआ है या यहीं रहने वाला किसी का सेवक है ।

सिद्धार्थक—आर्य ! मैं अमात्य राक्षस का सेवक हूँ ।

भागुरायण—तो बिना मुद्रा लिये, शिविर से बाहर क्या चल पड़े ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! कज्जगोरवेण तुवराविदोहि (आर्य ! कौर्यगौरवेण त्वरायितोऽस्मि ।)

भागुरायणः—कीदृशं तत्कार्यगौरवं, यद्राजशासनमुल्लङ्घयसि ?

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! लेखमुपानय ।

सिद्धार्थकः—(भागुरायणाय लेखमर्पयति ।)

भागुरायणः—(सिद्धार्थकहस्ताल्लेखं गृहीत्वा मुद्रां दृष्ट्वा) कुमार ! अयं लेखः, राक्षसनामाङ्कितेयं मुद्रा ।

मलयकेतुः—मुद्रां परिपालयन्नुद्धाटय दर्शय ।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति ।)

मलयकेतुः—(गृहीत्वा वाचयति) 'स्वस्ति, यथास्थानं कुतोऽपि, कोऽपि किमपि, पुरुषविशेषमवगमयति । अस्मद्विपदां निराकृत्य, दर्शिता कापि सत्यता सत्यवादिना । साम्प्रतमेषामपि प्रथममुपन्यस्तसन्धीना-मस्मत्सुहृदां पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणवस्तुप्रतिपादनप्रोत्साहनेन सत्य-

स्वस्ति यथास्थानमित्यादि—लेखोऽयं कौटिलीयार्थशास्त्रवर्णितं शासनं सर्वथाऽनुसरति । तथाहि 'देशैश्वर्यवंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य, देशनामधेयोपचारमनीश्वर-

सिद्धार्थक - आर्य ! कार्यगौरववश जल्दबाजी में हूँ ।

भागुरायण—कैसा वह कार्यगौरव है जिससे राजाशा का उल्लंघन कर रहे हो ।

मलयकेतु—मित्र, भागुरायण ! लेखपत्र लाओ ।

सिद्धार्थ—(भागुरायण के हाथ में लेख दे देता है)

भागुरायण—(सिद्धार्थक के हाथ से लेख लेकर और उस पर मुद्राचिह्न मुहर की छाप देखकर) कुमार ! यह रहा लेख और यह रही इसपर राक्षस के नाम की मुद्रा (मुहर) ।

मलयकेतु—(लेकर पढ़ता है) मुहर को बचाते हुये, खोलकर दिखाओ ।

भागुरायण—(ऐसा करके दिखा देता है) ।

मलयकेतु—'स्वस्ति । कहीं से, कोई, किसी विशिष्ट पुरुष को, ठीक अवसर पर कुछ निवेदन कर रहा है—हमारे विपक्ष (चाणक्य) का निराकरण करके, सत्यवादी आपने बड़ी सत्यता दिखायी । अब सत्यसन्ध, आपके लिये पहले से ही सन्धि का प्रस्ताव कर चुकने वाले, हमारे प्रियमित्रों की, सन्धि के ही अनुसार, पूर्व प्रतिज्ञात वादा की पूर्ति के

सन्धः प्रीतिमुत्पादयितुमर्हति । एते ह्येवमुपगृहीताः सन्तः स्वाश्रयविनाशे-
नैवोपकारिणमाराधयिष्यन्ति । अविस्मृतमप्येतत्—सत्यवतः स्मारयामः ।
एतेषां मध्ये केचिदरेः कोषदन्तिभ्यामर्थिनः, केचिद् विषयेणेति ।
अस्मान् प्रत्यलङ्कारत्रयञ्च यत् सत्यवताऽनुप्रेषितं तदुपगतम् । अस्मा-
भिरपि लेखस्याशून्यार्थं किञ्चिदनुप्रेषितं तदुपगमनीयं वाचिकञ्चाप्तमात्
सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यम् इति ।

मलयकेतुः—भागुरायण ! कीदृशो लेखः ।

भागुरायणः—भद्र सिद्धार्थक ! कस्यायं लेखः ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! ण आणामि (आर्य ! न जानामि ।)

स्येति' सङ्केतितदिशा कपटलेखेऽत्र देशादिस्थाने कुतोऽप्यादेर्निर्देशः कृतः, एवमेव
च 'लेखपरिसंहरणार्थं इति शब्दो वाचिकस्येति चे'ति निर्देशानुसारं वाचिकञ्चाप्त-
तमात् सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमिति समुद्धृष्टम् । कौटिलीये यदपि चोक्तम्—

‘निन्दा प्रशंसा पृच्छा च तथाज्ञानमथार्थना ।

प्रत्याख्यानमुपालम्भः प्रतिपेधोऽथ चोदना ॥

सान्त्वयमभ्यवपत्तिश्च भर्त्सनानुनयौ तथा ।

एतेष्वर्थाः प्रवर्त्तन्ते त्रयोदशसु लेखजाः ॥’ इति ।

तदनुहार्यवान्न लेखशरीरं प्रशंसार्थनाचोदनाभ्यवपत्तिरूपावयवोपेतं समुल्ल-
सतीति ।

द्वारा प्रोत्साहन देकर, प्रसन्न कर देना उचित है । इस प्रकार अपने पक्ष में लाये गये ये
अपने आश्रय (मलयकेतु) के विनाश के ही द्वारा अपने परमोपकारी आप की सेवा
करने लगे सत्यवादी आप भूले न होंगे, तब भी आपको यह सब याद दिलाना है ।
इन लोगों में, कुछ लोग तो शत्रु (मलयकेतु) के कोप और गजसैन्य के अभिलाषी हैं
और कुछ लोग राज्यप्रदेश के । सत्यसन्ध आपने हमारे लिये जिन तीन अभूषणों को
भेजा है वे हमें मिल गये हैं । हमने भी, इस लेख के साथ, पत्रगुणरूप में, कुछ भेजा हैं,
उसे स्वीकार करेंगे और मौखिक सन्देश परमविश्वसनीय सिद्धार्थक से सुन लेंगे ।

मलयकेतु—भागुरायण ! कैसा पत्र है ?

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक ! किसका पत्र है ?

सिद्धार्थक—आर्य ! मैं नहीं जानता ।

भागुरायणः—हे धूर्त ! लेखो नीयते, न च ज्ञायते, कस्यायमिति । सर्व तावत्तिष्ठतु वाचिकं त्वत्तः केन श्रोतव्यम् !

सिद्धार्थकः—(भयं नाटयन्) तुह्येहिं (युष्माभिः ।)

भागुरायणः—किमस्माभिः ?

सिद्धार्थकः—मिस्सेहिं गहीदो ण आणामि, किं भणामि त्ति । (मिश्रैर्गृहीतो न जानामि किं भणामीति ।)

भागुरायणः—(सक्रोधम्) एष ज्ञास्यसि । भद्र भासुरक ! बहिर्नीत्वा ताडयतां तावत्, यावत् सर्वमनेन कथितं भवेत् ।

भासुरकः—जं अज्जो आणवेदि (यदर्थं आज्ञापयति ।)

(इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः ।)

(पुनः प्रविश्य) अज्ज ! इअं तस्स ताडीअमाणस्स कक्खादो णाम-मुदालंछिदा आहरणपेडिआ णिबडिदा । (आर्य ! इयं तस्य ताडयमानस्य कक्षातः नाममुद्रालाञ्छिताऽऽभरणपेटिका निपतिता ।)

भागुरायणः—(विलोक्य) कुमार ! इयमपि राक्षसमुद्राङ्कितैव ।

भागुरायण—अरे धूर्त ! पत्र ले जा रहे हो और पता नहीं पत्र किसका है ? और सब जाने दो, तुमसे मौखिक सन्देश सुनने वाला कौन व्यक्ति है ?

सिद्धार्थक—(भय का अभिनय करते हुये) आप ही ।

भागुरायण—क्या मैं ?

सिद्धार्थक—आप लोगों के द्वारा पकड़ा गया मैं जानता नहीं क्या कह रहा हूँ ।

भागुरायण—(क्रुद्ध होकर) अभी जान जाओगे । भासुरक ! बाहर ले जाकर इसे तब तक पीटो जब तक सब कुछ न उगल दे ।

भासुरक—जो आज्ञा महाराज !

(सिद्धार्थक के साथ बाहर निकल कर और पुनः भीतर आकर)

आर्य ! जैसे ही इस पर मार पड़ी, इसकी कौख से, नाम की मुहर लगी यह गहनों की पेटी नीचे आ गिरी !

भागुरायण—(देखते हुये) कुमार ! इस पर भी राक्षस की ही मुहर की छाप पड़ी है ।

मलयकेतुः—अयं लेखस्याशून्यार्थो भविष्यति । इमामपि मुद्रां परि-
पालयन्नुद्धाटय दर्शय ।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति ।)

मलयकेतुः—(विलोक्य) अये ! तदिदमाभरणं, यन्मया स्वशरीराद्-
वतार्य राक्षसाय प्रेषितम् । व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्यायं लेखः ।

भागुरायणः—कुमार ! एष निर्णीयते संशयः । अद्र ! पुनरपि ताडय-
ताम् ।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि ! (यदार्य आज्ञापयति) (इति निष्क्रम्य
पुनः प्रविश्य च) अज्ज ! एसो क्खु ताडीअमाणो विण्णवेदि—कुमा-
रस्स स्सअं ज्जेव णिवेदिमे त्ति । (आर्य ! एष ताडयमानो विज्ञापयति
—‘कुमारस्य स्वयमेव निवेदयामीति ।)

मलयकेतुः—प्रवेशय ।

पुरुषः—जं कुमालो आणवेदि (यत् कुमार आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रम्य सिद्धार्थकेन सह प्रविशति)

सिद्धार्थकः—(पादयोर्निपत्य) अभय मे कुमालो प्यसादं करेदु
(अभयेन मे कुमारः प्रसादं करोतु ।)

मलयकेतुः—लेख के साथ भेजा गया ‘पत्र-पुष्प’ यही है । इसे भी इस पर पड़ी मुहर
बचाते हुये, खोल दिखाओ ।

भागुरायण—(वैसा करके दिखा देता है)

मलयकेतुः—(देखकर) अरे ! यह तो वही आभरण है जिसे मैंने अपनी देह से
उत्तार कर राक्षस को भेजा था । स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के लिये यह पत्र है ।

भागुरायण—कुमार ! सब सन्देह अभी दूर हुआ जाता है । अरे ! इसे फिर पीटो ।

पुरुष—आर्य की जो आज्ञा ! (बाहर जाकर और फिर भीतर आकर) आर्य !
मारने-पीटने पर यह कहता है कि कुमार को ही सब कुछ बताऊँगा ।

मलयकेतुः—लाओ भीतर ।

पुरुष—जैसी आज्ञा कुमाराधिराज !

(बाहर जाकर सिद्धार्थक के साथ पुनः प्रवेश करते हुये)

सिद्धार्थक—(पैरों पर गिरकर) अभय मे कुमार ! प्यसादं करेदु ।
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मलयकेतुः—भद्र ! भद्र !! अभयमेव परायत्तजनस्य, तन्निवेद्यतां यथाऽवस्थितम् ।

सिद्धार्थकः—णिसामेदु कुमालो, अहं क्खु अमच्चरक्खसेण इमं लेहं देइअ चन्दउत्तसआसं प्पेसिदोहि (निशामयतु कुमारः, अहं खल्वामात्यराक्षसेनेमं लेखं दत्त्वा चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितोऽस्मि ।)

मलयकेतुः—भद्र ! वाचकमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

सिद्धार्थकः—कुमाल ! संदिष्टोहि अमच्चरक्खसेण, जहा—‘एदे मम प्पिअबअस्सा पञ्चराआणो तुए सह प्पढमसमुप्पण्णसन्धाणा । जदा—‘कुल्लदाहिबो चित्तबम्मा, मलअजणबदाहिबो सिंहणादो, कस्सीरदेसणाहो पुक्खरक्खो, सिन्धुराओ सिन्धुसेणो पारसीआधिबदी मेहक्खो’त्ति । एत्थ ज्जेव पढमभणिदा तिणि राआणो मलअकेदुणो विसअं अहिलसन्ति, इदरे दुवे कोसं हत्थिबलं अत्ति । ता जहा चाणक्कं णिराकरिअ महाराएण मम प्पीदी उप्पादिआ, तहा एदाणं पि पढमभणिदो अत्थो संपादइदब्बी’त्ति । एत्तिओ बाआसन्देसोत्ति । (कुमार ! संदिष्टोऽस्म्यमात्यराक्षसेन, यथा—‘एते मम प्रियवयस्याः पञ्च राजानस्त्वया सह प्रथमसमुत्पन्नसन्धानाः । यथा—‘कुल्लताधिपश्चित्रवर्मा, मलयजनपदाधिपः सिंहनादः, काश्मीरदेशाधिपः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सिन्धुसेनः, पारसीकाधिपतिर्मेघाक्षः’ इति । अत्रैव प्रथमभणितास्त्रयो राजानो मलयकेतोर्विषयमभिलषन्ति, इतरौ द्वौ कोपं हस्तिबलञ्चेति । तद्यथा चाणक्यं निरा-

मलयकेतुः—भद्र ! पराधीन जन के लिये अभयदान ही है । ठीक-ठीक बताओ ।

सिद्धार्थकः—सुनिये कुमार ! चन्द्रगुप्त के पास, अमात्यराक्षस द्वारा, इस पत्र के साथ, मुझे भेजा जा रहा है ।

मलयकेतुः—भद्र ! अब मौखिक सन्देश सुनना चाहता हूँ ।

सिद्धार्थकः—कुमार ! अमात्यराक्षस ने यह संदेश दिया है—‘हमारे परमस्नेही ये पाँच राजा हैं जो कि आपके साथ पहले से ही सन्धि कर चुके हैं, कुल्लताधिप-चित्रवर्मा, मलयनरेश-सिंहनाद, कश्मीराधिराज-पुष्कराक्ष, सिन्धुराजेश्वर-सिन्धुसेन तथा पारसीकाधिपति-मेघाक्ष । इनमें पूर्वनिर्दिष्ट तीन राजा मलयकेतु के राज्य के शत्रु हैं और दो उसके कोप और गुप्तसैन्य के अब जैसे महाराज ने चाणक्य को ब्रह्मचर्य मुझे प्रसन्न

कृत्य महाराजेन मम प्रीतिरूपादिता, तथैषामपि प्रथमभणितोऽर्थः संपादयितव्यः' इत्येतावान् वाक्संदेश इति ।)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) कथं चित्रवर्मादयोऽपि मामभिदुह्यन्ति अत एवैतेषां राक्षसे निरतिशया प्रीतिः । (प्रकाशम्) विजये ! अमात्यराक्षसं द्रष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणवेदि । (यत् कुमार आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमानः

सचिन्तो राक्षसः)

राक्षसः—(स्वगतम्) सम्पूर्णमस्मद्वलं चन्द्रगुप्तबलैरिति यत् सत्यं न मे मनसः शुद्धिरस्ति । कुतः ?

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं व्यावृत्तश्च विपक्षतो भवति यत्, तत् साधनं सिद्धये ।

राक्षसस्ववलं शत्रुबलैस्सम्पूर्णं ध्यायं ध्यायं स्वपक्षपराजयमाशंसमानो वक्ति—साध्ये निश्चितमित्यादि । हन्त ! चन्द्रगुप्तविषयकमन्तरमात्यकोपं प्रमाणीकुर्वता मया व्यसनाभियानं यदारभ्यते तत्तु ममैव निग्रहाय परिणममानमिव प्रतिभाति । तथाहि

किया वैसे ही इन्हें भी पूर्वकथित (पूर्व प्रतिज्ञात) वस्तु दे दी जाय-इतना ही मौखिक संदेश है ।' वस यही मौखिक संदेश रहा !

मलयकेतु—(स्वगत) तो क्या चित्रवर्मा प्रश्रुति भी हमसे द्रोह करते हैं । तभी राक्षस पर इनका अत्यधिक प्रेम है ! (प्रकट रूप से) विजये ! अमात्यराक्षस से मिलना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी—जैसी आज्ञा कुमार ! (निकल जाती है)

(अपने भवन में आसन पर विराजमान चिन्ता-मग्न राक्षस

और एक राजपुरुष की रंग-मंच पर उपस्थिति)

राक्षस—(स्वगत) हमारी सेनायें चन्द्रगुप्त के सैनिकों से भर गयी हैं—इससे मेरा मन (संशय के कारण) शुद्ध नहीं हो रहा है । क्योंकि,

'वह सैन्यबल युद्धविजय में समर्थ हो सकता है जो वादविजय में समर्थ हेतु के समान होता है । जैसे-समर्थ हेतु साध्य में निश्चित रूप से विद्यमान, अन्यथा साध्य से

तत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत् ।

तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ १० ॥

यदिदं साधनं सैन्यादिसाध्ये शत्रुविजयकृत्ये निश्चितं निर्णीतपरसैन्यनिवारणशक्ति-
निर्धारितविभवं वेति, यदिदं साधनमन्वयेन घटितं संभृतमौलबलं, यदिदं साधनं
सपक्षे स्थितिं विभ्रत् श्रेणीबलाऽटवीबल-मित्रबलादिरूपबलसमुद्धानाऽविरोधि,
यदिदञ्च साधनं विपक्षतो व्यावृत्तञ्च भवति परबलस्य प्रतिबलतया परोपजापा-
सहिष्णुतया च व्याप्रियते तदेव साधनं सिद्धयेऽभियानकर्मणो निर्धिन्ननिष्पत्तये
विजयप्राप्त्यै च भवति सञ्जायते वेति शेषः । किन्तु यत्खलु साधनं चतुरङ्गमपि
बलं स्वयमेव साध्यं क्रुद्ध-लुब्ध-भीत-मानिवर्गवाहुल्यात्तदा तदा सर्वदा वा
सामदानाभ्यां भेद-दण्डाभ्यां वा वशीकार्यं लभ्यं संयोज्यं वा, यदि वस्तुतः
उभयोरभियोक्त्रभियुक्तयोस्तुल्यं समानमुभयत्र स्थितिमदभियोक्त्रा भृतमपि कदा-
चनाभियुक्तेनाप्यभिहार्यं, यत्खलु च पक्षे विरुद्धं स्वपक्षाऽप्रवर्णं स्वपक्षविघातकमेव
वा भवति, तस्यैवंभूतस्य साधनस्य बलसमुद्धानस्याङ्गीकरणेनाऽभियानार्थं स्वीकर-
णेन स्वामिनो राजविजिगीषोर्वादिन इव वादविजिगीषोरिव निग्रहः पराभवः (निग्र-
हस्थानवन्धरूपो वादिपक्षे, सङ्ग्रामदेशवधवन्धादिरूपो वा राजपक्षे) स्यादवश्य-
मेव भवेदित्यर्थः । तात्पर्यं तु यथा वादी कञ्चन कञ्चन-प्रतिज्ञातमर्थं साधयितु-
कामः पक्षव्यापकत्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षवृत्तिरहितत्वावाधितविषयत्वादधिर्मयुक्तं हेतु-
मुपाददानस्सिद्धप्रतिज्ञस्सिद्धाभिलाषो वा भवति तथैव विजिगीषुरपि परोपजापादि-
विरहितं परबलस्य प्रत्यासेधं बलं प्रयुञ्जानो निश्चितविजयो भवति । किन्तु यथा
व्याप्तिपक्षवृत्तिनिश्चयरहितरूपस्यासिद्धस्य साध्यविपरीतव्याप्तरूपस्य विरुद्धस्थानै-
कान्तिकस्य सव्यभिचारस्य वा हेतुभूतस्य हेत्वाभासस्यावलम्बनेन वादी प्रतिवा-
दिना हेतुहानिरूपनिग्रहस्थानोद्भावनायां कृतायां निगृहीतो भवेत्तथैव विजिगीषु-
रपि बलाभासेन स्वबलेनैव पराभूतो भवेदिति ॥ १० ॥

युक्त, समक्ष में स्थित तथा विपक्ष से व्यावृत्त होता है वैसे ही समर्थ सैन्यबल शत्रुविजय
में असंदिग्ध, परम्परा से प्राप्त, मित्रसैन्य से समन्वित और शत्रुपक्ष के सर्वथा प्रतिकूल
होता है । किन्तु जो साधन (सैन्यबल) स्वयं ही साध्य अथवा परिश्रम-पूर्वक संग्राम,
स्वपक्ष तथा परपक्ष में समान रूप से अनुगत तथा स्वपक्ष के लिये प्रतिकूल होने के
नाते उस साधन (हेतु) के समान होता है जो साध्य में अनिश्चित, सपक्ष और
विपक्ष दोनों के लिये समान रूप से अनुकूल तथा पक्ष के प्रतिकूल रद्द करता है उसके
अपनापने से वादी की ही साक्षि विजयकांक्षीरपि वादी निग्रह अवश्यमपि है ॥ १० ॥

अथवा तैस्तैर्विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पयितुमर्हामि । (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! उच्यन्तामस्मद्वचनात् कुमारानुयायिनो राजानः—‘सम्प्रति दिने दिने प्रत्यासीदति कुसुमपुरम् । अतः परिकल्पितविभागैर्भवद्भिः प्रयाणे प्रस्थातव्यम् । कथमिति ?—

प्रस्थातव्यं पुरस्तात् खसमगधगणैर्मानुष्यैः सैन्यै-
गान्धारैर्मध्ययानैः सयवनपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः ।

टिप्पणी—(१) अत्र ‘एतादृशबलाभासाङ्गीकारेण स्वामिनो राक्षसमलयकेत्वो-
निग्रहोऽवश्यं भावीति दार्ष्टान्तिकेऽवश्यं योजनीय’मिति यच्छ्रीदुण्डिराजव्याख्यानं
तत्तु न बहु मन्यामहे । तथाहि साध्येनिश्चितमित्यादि सर्वमेव स्वतः प्रकरणावगाहि
प्रथमं बुद्ध्युपाकृतं पश्चादप्राकरणिकेनोपरिलप्यमाणं कस्मैचन महते स्वारस्याय
सम्पद्यते । अन्यच्चात्र कुतस्तरां स्वामिनो निग्रहो वादिनो निग्रहेण सधर्मा वर्णित
इत्यस्यापि समाधानं सुकरम् । राक्षसचिन्तितं व्यसनाभिपेक्षनमत्र शत्रोर्न बहि-
र्युद्धभूमौ किन्तु स्वमनोमहारङ्ग एवेति सुप्रयुक्तं वादिनिग्रहस्योपमानत्वमिति ।

(२) अत्र प्रसङ्गे श्रीमति कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे व्यसनाधिकारिके प्रकरणे यदुक्तम्—

‘विघ्नोपघातत्रस्तं वा शङ्कितं वाऽरिसंहितात् ।

‘दूष्यैर्वा भेदितं मित्रं साध्यं सिद्धञ्च तिष्ठती’ति तत्सर्वथा नाटककवेरपि राजन-
व्यवहारनिपुणस्य संमतमेवेति ।

राक्षसोऽभियोगप्रयाणमाज्ञापयन् वक्ति—प्रस्थातव्यमित्यादि । खसमगधगणैस्सैन्यैः
पुरस्तात् प्रस्थातव्यम्, खसाश्च मगधाश्च तेषां गणाः खसमगधगणाः ते येषां

अथवा, जब कि हमारा सैन्यबल उन-उन सैनिकों से व्याप्त है जिनके चन्द्रगुप्त से
अलगाव के कारण विदित हैं और जिन्होंने हमारी भेद-नोति को पहले से ही स्वीकार कर
लिया है, तब मुझे सन्देह भी नहीं करना चाहिये । (प्रकट रूप से) प्रियंवदक ! मेरी
ओर से, कुमार के अनुयायी राजगण से कहो ‘अब प्रतिदिन पाटलिपुत्र समीप आता जा
रहा है । इस लिये सैन्यबल का विभाग व्यवस्थित करके, विजययात्रा के लिये
प्रस्थान कर दें ।’

किस प्रकार ?

(इस प्रकार कि) मेरे पीछे-पीछे ब्यूह बनाकर खस और मगधगण की सेनायें
आगे प्रस्थान करें, हमारे सैन्यबल के साथ में, राजगण के साथ, गान्धार की

पश्चाद् गच्छन्तु वीराः शकनरपतयः संवृताश्चेदिह्नैः

कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि परिवृणुयाद्राजलोकः कुमारम् ॥११॥

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्तः)

प्रतीहारी—(प्रविश्य) जेदु जेदु अमच्चो । अमच्च ! इच्छदि तुमं कुमालो प्पेक्खिदुं । (जयतु जयत्वमात्यः । अमात्य ! इच्छति त्वां कुमारः प्रेक्षितुम् ।)

राक्षसः—भद्रे मुहूर्त्तं तिष्ठ । कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः—(प्रविश्य) आणवेदु अमच्चो । (आज्ञापयत्वमात्यः ।)

सैन्यानां तैस्सैन्यैर्वलैः सारवलैरिति भावः । पुरोयानं करणीयमित्यर्थः । किं कृत्वा ? मामनुव्यूह्य 'पुरस्ताच्चायक' इति कौटिलीयार्थशास्त्रदिशा मामेवानुव्यूह्य मम पश्चात् दुर्जयाख्यं व्यूहं व्यूहेति भाव इति । अथ च सयवनपतिभिर्यवनसेनानायकैस्समं गान्धारैर्मिन्नवलैर्मध्ययाने प्रयत्नः संविधेयो व्यामिश्रव्यूहं विधाय योद्धव्यमिति-वाहृत्सारवलैर्भाव्यमित्यर्थः । अथापि शकनरपतयो वीराश्चेदिह्नैस्संवृत्ताः पश्चाद् गच्छन्तु 'चक्रान्तेषु हस्तिन' इति नियमानुसारं हस्तिसेनाधिपा हस्तिवलैस्समं योद्धुं सन्नद्धा भवेयुरित्यभिप्रायः । किञ्च शिष्टः कौलूताद्यश्च राजलोकः पथि कुमारं परिवृणुयात् चित्रवर्मप्रभृतिराजवर्गः कुमारमलयकेतुं परितो रक्षणार्थं संव्यूह्य यायादित्यर्थ इति ॥ ११ ॥

सेनायें शत्रुविजय के प्रति प्रयत्नशील रहें, इनके पीछे-पीछे चेदिराज और हूणराज की सेनाओं को साथ लिये, शकराजगण संनद्ध रहें और कुलूताधिप प्रभृति अवशिष्ट राजगण मार्ग में कुमार (मलयकेतु) को सुरक्षित घेरे रहें ॥ २१ ॥

प्रियंवदक—जो आज्ञा अमात्य ! (बाहर चला जाता है)

प्रतीहारी—(भीतर आकर) जय हो अमात्य ! जय हो । अमात्य ! कुमार आपसे मिलना चाहते हैं ।

राक्षस—प्रतीहारी ! क्षणभर रुक जा । अरे कौन है यहाँ ?

पुरुष—(भीतर आकर) आज्ञा हो अमात्य !

राक्षसः—भद्र ! उच्यतां शकटदासः, यथा—‘परिधापिता वयमाभरणं कुमारेण, तन्न युक्तमिदानीमस्माभिरनलंकृतैः कुमारदर्शनमनुभवितुम्, अतो यदलङ्करणत्रयं क्रीतं तन्मध्यादेकं दीयतामिति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि । (ईति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अमच्च ! इदं तं अलङ्करणं । (यदमात्य आज्ञापयति । अमात्य ! इदं तदलङ्करणम् ।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्यात्मानमलङ्कृत्योत्थाय च) भद्रे ! राजकुलगामिनं मार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—एदु एदु अमच्चो । (एतु एत्वमात्यः ।)

राक्षसः—(आत्मगतम्) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् । कुतः ?—

भयं तावत् सेव्यादभिनिविशते सेवकजनं
ततः प्रत्यासन्नाद् भवति हृदयेष्वेव निहितम् ।

कुमारमलयकेतुनाऽऽहूतोऽमात्यराक्षसस्सन्देहाविष्टचित्तो वदति—भयं तावदिति । तावत् सर्वप्रथमं सेव्यात् स्वामिनो भयं साध्वसं सेवकजनमभिनिविशते (‘नेर्विश’

राक्षस—भद्र ! शकटदास से कहो—कुमार ने हमे आभूषण पहनाये थे, अब, बिना इन्हें पहने, कुमार का दर्शन करना ठीक नहीं, इस लिये खरीदे गये आभूषणों में से एक दे दो ।

पुरुष—जैसी आज्ञा, अमात्य ! (बाहर जाकर, फिर भीतर आते हुये) अमात्य ! यह रहा वह आभूषण !

राक्षस—(अभिनयपूर्वक देखते हुये, आभूषण धारणकर, उठते हुये) प्रतीहारी ! राजकुल की ओर जाने वाला रास्ता बताओ ।

प्रतीहारी—आइये अमात्य ! आइये ।

राक्षस—(आत्मगत) अधिकार का पद निर्दोष भी पुरुष के लिये, बहुत बड़ा आशङ्का-स्थान है । क्योंकि,

‘सर्वप्रथम, भय, सेवक के पास स्वामी से पहुँचता है और उसके बाद, स्वामी के निकटस्थ आत्मीयजन के कारण, वह अमक, उसके हृदय में स्थल अभाजित है । इसलिये,

अतोऽध्याख्यानं पदमसुजनद्वेषजननं

मतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥ १२ ॥

प्रतीहारी - (परिक्रम्य) अमच्च ! अअं कुमालो चिट्ठिदि, ता उप-
सप्पदु णं अमच्चो । (अमात्य ! अयं कुमारस्तिष्ठति तदुपसर्पत्वेन-
ममात्यः ।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) अये ! अयं कुमारस्तिष्ठति । य एषः—

पादाग्रे दशमवधाय निश्चलन्तीं शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषाम् ।

वक्त्रेन्दुं वहति करेण दुर्वहणां कार्याणां कृतमिव गौरवेण नम्रम् ॥ १३ ॥

इत्यात्मनेपदे संजातेऽत्र 'अनिविशश्चे'ति कर्मत्वमधिकरणस्येति) समन्तात्
हृदयमभिव्याप्य स्थितिं करोति सेवक इति ततस्तदुत्तरं प्रत्यासन्नात् स्वामिस-
होत्थायिनो जनात्तदेव भयं हृदयेष्वेव निहितं भवति, निरन्तरमधिष्ठितहृदयमेव तद्
विभाव्यत इति । ततस्तस्मादेव कारणादध्याख्यानं महाधिकारवतां समुच्चैः पद-
मधितस्थुपां राजपुरुषाणां पदमसुजनद्वेषजननं, यो वाऽधिकारस्स दुर्जनासूचितो
दुष्टजनक्रोहोद्दीपक एव भवतीति शेषः । अतश्च हन्त ! सोच्छ्रायाणां समुच्चैः पद-
स्थानां महतां वा राज्याधिकारिणामस्मादशामिति निगूढोऽर्थः, मतिर्मनः पतनम-
धिकाराच्चयवनमेवानुकूलमेतर्हि विपमे दशापरिणाम औचित्येन सदा संभाव्यमानं
कलयति विचिकित्सत इत्यभिप्राय इति ॥ १२ ॥

राक्षसः मलयकेतं दृष्ट्वा तद्विषयकं किञ्चिद् विमृशन् व्याहरति—पादाग्र इत्यादि ।
अये ! कुमारोऽयं मलयकेतुश्चिन्ताविष्ट इव लक्ष्यते । तथाहि निश्चलन्तीं विषया-
न्तरग्रहणविमुखामथ च शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषां शून्यत्वात्स्वगोचरीभूतेऽपि
विषये मनसोऽभिनिवेशवैरस्यात् चित्तस्यानवधानतया वा न परिगृहीतो न साक्षा-

दुष्ट पुरुषों के हृदय में द्वेष उत्पन्न करने वाले अधिकार के पद पर आरुढ़ उच्चपदस्थ
व्यक्तियों का मत पद से च्युत होना ही अपने लिये अनुकूल सोचा करता है ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—(घूम फिर कर) अमात्य ! कुमार बैठे हैं । आप उनके पास चलें ।

राक्षस—(देखने का अभिनय करते हुए) अरे ! ये रहे कुमार ! जो कि,

'मन के सूनेपन के कारण, दृश्य पदार्थों के रूपविशेष का दर्शन न करने वाली,
निश्चल सी बनी अपनी दृष्टि को, अपने पैरों के आगे जमा कर, सैन्योद्योग के दुर्वह
कार्यों के अग्र से पीछे कुम्भार-अथवा मुखमन्द-वर्धन के रूप में विपश्यमान है' (१३)

(उपसृत्य) विजयतां विजयतां कुमारः ।

मलयकेतुः—आर्य ! अभिवादनये । इदमासनमास्यताम् ।

राक्षसः—(उपविशति)

मलयकेतुः—अमात्य ! चिरदर्शनेनार्यस्य वयमुद्विग्नाः ।

राक्षसः—कुमार ! प्रयाणे प्रतिविधानमनुतिष्ठता मया कुमारादयमु-
पालम्भोऽधिगतः ।

मलयकेतुः—अमात्य ! प्रयाणे कथं प्रतिविहितमिति श्रोतुमिच्छामि ।

राक्षसः—कुमार ! एवमादिष्टाः कुमारस्यानुयायिनो राजानः—

('प्रस्थातव्य'मित्यादि (अङ्क ५ श्लो० ११) श्लोकं पुनः पठति)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) विज्ञायते, कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्त-

कृतो न वा साक्षात्कर्तुमिष्टस्तस्य स्वगोचरीभूतस्यापि विशेष इदमिच्छतादिरूपो
धर्मो ययेति तादृशीं दृशं स्वदृष्टिं पादाग्रेऽवधाय चरणाङ्गुलिषु नखेषु वा दौर्मनस्यात्
संस्थाप्य करणैकेन दक्षिणेन वामेन वा हस्तेन वक्त्रेनद्वं स्वस्य चन्द्रवन्मुखं किमपि
वहति धारयन् तिष्ठति । कथंभूतमिदमिति ? दुर्वहाणां बोद्धुमशक्यानां महाभा-
राणां कार्याणां विजिगीषुव्यवहाराणां गौरवेण भारप्राप्ताभारेण नम्रं कृतमिव चिन्ता-
व्यग्रतया नतीकृतमिवेत्यर्थ इति ॥ १३ ॥

(समीप पहुँच कर) विजय हो कुमार ! विजय हो ।

मलयकेतु—आर्य ! प्रणाम स्वीकार करें ! यह आसन है, बैठें ।

राक्षस—(आसन पर बैठ जाता है)

मलयकेतु—अमात्य ! बहुत दिनों बाद आर्य के दर्शन के कारण हम बहुत
उद्विग्न थे ।

राक्षस—कुसार ! सेना के प्रयाण की व्यवस्था में लगे होने के कारण, मुझे, कुमार से
यह उलाहना मिल रहा है ।

मलयकेतु—अमात्य ! प्रयाण की कैसी व्यवस्था की गयी—यह सुनना चाहता हूँ ।

राक्षस—कुमार ! कुमार के अनुयायी राजगण को यह आदेश दिया गया है—

('प्रस्थातव्य'मित्यादि (अङ्क ५ श्लो० ११) श्लोकं पुनः पठति)

मलयकेतु—(स्वगत) सब पता है । जो राजा लोग मेरा विनाश करके चन्द्रगुप्त

माराधयितुमुद्यताः, त एव मां परिवृण्वन्ति । (प्रकाशम्) आर्य ! अस्ति कश्चिद् यः कुसुमपुरं प्रति गच्छति, तत् आगच्छति वा ?

राक्षसः—कुमार ! अवसितमिदानीं गतागतप्रयोजनम् । ननु पञ्चपैर-
होभिर्वयमेव तत्र गन्तास्मः ।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) विज्ञायते, (प्रकाशम्) यद्येवं तत् किमय-
मार्येण सलेखः पुरुषः कुसुमपुरं प्रस्थापितः ?

राक्षसः—(विलोक्य) अर्ये ! सिद्धार्थकः । भद्र ! किमिदम् ?

सिद्धार्थकः—(सबाष्पं लज्जां नाटयन्) प्पसीददु प्पसीददु अमच्चो ।
अमच्च ! अतिताड्डीअन्तेण मए ण पारिदं अमच्चस्य रहस्सं धारिदुं ।
(प्रसीदतु प्रसीदत्वमात्यः । अमात्य ! अतिताड्यमानेन मया न
पारितममात्यस्य रहस्यं धारयितुम् ।)

राक्षसः—भद्र ! कीदृशं तत् रहस्यं, न खल्ववगच्छामि ।

सिद्धार्थकः—ननु विण्णवेमि, ताड्डीअन्तेण मए..... (ननु विज्ञाप-
यामि ताड्यमानेन मया.....)

(इत्यर्द्धोक्ते सभयमधोमुखस्तिष्ठति)

को सेवा में लगने वाले हैं, वे ही मुझे घेरने वाले हैं । (प्रकट में) क्या ऐसा कोई है जो पाटलिपुत्र जा रहा है अथवा पाटलिपुत्र से आ रहा है ?

राक्षस—कुमार ! अब किसी के पाटलिपुत्र आने-जाने का काम समाप्त है । अब पाँच
छः दिनों में हम लोग ही वहाँ चल रहे हैं ।

मलयकेतु—(स्वगत) पता है । (प्रकट) यदि ऐसी बात है तो आपने, पत्र के
साथ एक पुरुष को, पाटलिपुत्र क्यों भेजा है ?

राक्षस—(देखकर) अरे सिद्धार्थक ! भद्र यह क्या !

सिद्धार्थक—(आँसू बहाते लज्जित होने का अभिनय करते) कृपा हो अमात्य !
कृपा हो बहुत अधिक मार-पीट के कारण मैं अमात्य का रहस्य नहीं छिपा सका ।

राक्षस—भाई ! कैसा रहस्य !! कुछ समझ में नहीं आता ।

सिद्धार्थक—मैं निवेदन कर रहा हूँ कि मार खाने के कारण

मलयकेतुः—भागुरायण ! स्वामिनः पुरस्ताद् भीतो लज्जितश्च नैष कथयिष्यति । अतः स्वयमेवार्याय कथय ।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः । अमात्य ! एष कथयति, यथा—‘अहममात्यराक्षसेन लेखं दत्त्वा वाचिकञ्च सन्दिश्य चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितः’ इति ।

राक्षसः—भद्र सिद्धार्थक ! अपि सत्यम् ?

सिद्धार्थकः—(लज्जां नाटयन्) ‘एवढं अतिताडीअन्तेण मए णिवेदिदं । (एवमतिताडयमानेन मया निवेदितम् ।)

राक्षसः—कुमार ! अनृतमेतत् । ताडयमानः किं न ब्रूयात् ?

मलयकेतुः—भागुरायण ! दर्शय लेखं, वाचिकञ्चायमस्मै स्वभृत्यः कथयिष्यति ।

भागुरायणः—(लेखमवलोकयन्) ‘स्वस्ति यथास्थाने कुतोऽपि पुरुषविशेषमवगमयति’ इति वाचयति)

राक्षसः—कुमार ! शत्रोः प्रयोग एषः ।

मलयकेतुः—भागुरायण ? अपने स्वामी के आगे भयभीत और लज्जित हुआ, यह कुछ नहीं कहेगा । इसलिये तुम्हीं सब कुछ आर्य से कह दो ।

भागुरायण—जैसी आज्ञा कुमार ! अमात्य ! यह कहता है कि ‘मुझे अमात्य राक्षस ने, पत्र देकर तथा मौखिक सन्देश बताकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है ।

राक्षस—सिद्धार्थक ! क्या यह सच है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा का अभिनय करते हुए) बहुत अधिक मारे-पीटे जाने से मैंने कह दिया ।

राक्षस—कुमार ! यह झूठ है । मार खाने पर क्या कुछ न कह दे ।

मलयकेतुः—भागुरायण ! पत्र दिखाओ । मौखिक संदेश तो इनका सेवक स्वयं ही इन्हें निवेदन करेगा ।

भागुरायण—(पत्र देखते हुये) ‘स्वस्ति यथा स्थाने’ इत्यादि पद कर सुनाता है ।

राक्षस—कुमार ! राक्षस की यह बात है Collection. Digitized by eGangotri

मलयकेतुः—लेखस्याशून्यार्थमार्येणेदमाभरणमनुप्रेषितमिति तत् कथं शत्रोः प्रयोग एष स्यात् ? (इत्याभरणं दर्शयति)

राक्षसः—(आभरणं निर्वर्ण्य) कुमार ! नैतन्मयाऽनुप्रेषितम्, एतद्धि कुमारेण मह्यं दत्तं; मया च परितोषस्थाने सिद्धार्थकाय दत्तम् ।

भागुरायणः—भो भो अमात्य ! ईदृशस्याभरणविशेषस्य, विशेषतः कुमारेण स्वगात्रादवतार्यं दत्तस्येयं परित्यागभूमिः ?

मलयकेतुः—‘वाचिकमप्याततमात्सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमिति’ लिखितमार्येण ।

राक्षसः—कुतो वाचिकम् ? कस्य वा लेखः ? अयमेवास्मदीयो न भवति ।

मलयकेतुः—इयं तर्हि कस्य मुद्रा ?

राक्षसः—कुमार ! कपटमुद्रामप्युत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्ताः ।

भागुरायणः—कुमार ! सत्यममात्यो विज्ञापयति । सिद्धार्थक ! केनायं लिखितो लेखः ?

मलयकेतुः—लेख के साथ-साथ, आर्य ने यह आभूषण भेजा है—तो शत्रु की यह चाल कैसे हुई ?

राक्षसः—(आभूषण को ध्यान से देखकर) कुमार ! मैंने इसे नहीं भेजा । इसे तो कुमार ने मुझे दिया था और मैंने पारितोषिक के रूप में सिद्धार्थक को दिया ।

भागुरायणः—हे अमात्य ! ऐसे आभरणविशेष को, विशेषरूप से, जिसे, कुमार ने आपको अपने शरीर से उतार कर दिया था, क्या सिद्धार्थक ही देने योग्य पात्र मिला ?

मलयकेतुः—आर्य ने यह भी लिखा है कि हमारे परम विश्वासभाजन सिद्धार्थक से मौखिक निवेदन भी सुन लें ।

राक्षसः—किसका संदेस ! किसका पत्र ! यह लेख ही मेरा नहीं ।

मलयकेतुः—तो इस पर यह मुहर किसकी है ?

राक्षसः—कुमार ! धूर्तों के लिये नकली मुहर बना देना असंभव नहीं ?

भागुरायणः—कुमार ! अमात्य सच कह रहे हैं । सिद्धार्थक ! यह लेख किसने लिखा है ?

सिद्धार्थकः—(राक्षसमुखमवलोक्य तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति)

भागुरायणः—अलं पुनरात्मानं ताडयित्वा । कथय ।

सिद्धार्थकः—अञ्ज ! सअट्टासेण ! (आर्य ! शकटदासेन ।)

राक्षसः—कुमार ! यदि शकटदासेन लिखितस्तर्हि मयैव लिखितः ।

मलयकेतुः—विजये ! शकटदासं द्रष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणवेदि । (यत् कुमार आज्ञापयति)

भागुरायणः—(स्वगतम्) न खल्वनिश्चितार्थमार्यचाणक्यप्रणिधयोऽभिधास्यन्ति । आगत्य शकटदासो वा, 'सोऽयं लेखः' इति प्रत्यभिज्ञाय पूर्ववृत्तं प्रकाशयेत् । एवं सति सन्दिहानो मलयकेतुरस्मिन् प्रयोगे श्लथादरो भवेत् । (प्रकाशम्) कुमार ! न कदाचिदपि शकटदासोऽमात्यः राक्षसस्याग्रतो 'मया लिखितः' इति प्रतिपत्स्यते, अतोऽन्यलिखितमप्यानीयतां, यतो वर्णसंवाद एवैतत् सर्वं विभावयिष्यति ।

मलयकेतुः—विजये । एवं क्रियताम् ।

भागुरायणः—कुमार ! मुद्रामप्यानयत्वियम् ।

सिद्धार्थक—(राक्षस का मुंह देखते हुये चुप चाप मुंह लटकाये खड़ा रहता है) ।

भागुरायण—अब क्यों मार खाना चाहते हो । कह दो ।

सिद्धार्थक—आर्य शकटदास ने ।

राक्षस—कुमार ! यदि शकटदास ने लिखा है तब तो मैंने ही लिखा है ।

मलयकेतु—विजये ! शकटदास को बुलाओ ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा कुमार !

भागुरायण—(स्वगत) आर्य चाणक्य के प्रणिधि बिना सोचे-समझे कुछ नहीं कहेंगे । कहीं ऐसा न हो कि शकटदास आवे और इसे—'यह तो वही लेख है' ऐसा पहचान, सभी बीती बातें खोल दे । तब तो, सन्देह में पड़कर मलयकेतु इस नीति-प्रयोग को विशेष महत्त्व नहीं देगा । (प्रकट रूप से) कुमार अमात्य राक्षस के आगे शकटदास कभी भी, 'मैंने लिखा है' यह नहीं मानेगा । इसलिये इसका लिखा कोई दूसरा लेख लाया जाय जिसमें, अक्षरोंकी एक समान लिखावट ही सब कुछ स्पष्ट कर देगी ।

मलयकेतु—विजये ! ऐसा ही कर ।

भागुरायण—कुमार ! यह (विजया) मुद्रा भी ले आवे ।

मलयकेतुः—उभयमप्यानीयताम् ।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य)
कुमाल ! इदं खलु तं सअडदासेण स्सहत्थलिहिदं पत्तअं मुदा अ ! (यत्
कुमार आज्ञापयति । कुमार ! इदं खलु तत् शकटदासेन स्वहस्तलिखितं
पत्रं, मुद्रा च ।)

मलयकेतुः—(उभयमपि नाट्येनावलोक्य) आर्य ! संवदन्त्यक्षराणि ।

राक्षसः—(स्वगतम्) संवदन्त्यक्षराणि, 'शकटदासस्तु मम मित्र-
मि'ति च विसंवदन्त्यक्षराणि तत् किं शकटदासेन लिखितम् ?—

स्मृतं स्यात् पुत्रदाराणां विस्मृताः स्वामिभक्तयः ।

चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशःस्वनपायिषु ॥ १४ ॥

मलयकेतुना प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां निगृहीतः राक्षसश्शकटदासाय बुद्धिस्थाय
कुप्यन् वदति—स्मृतमित्यादि । हन्त ! शकटदासेनैव पत्रमिदं लिखितमिति कः
संदेहः ? यतो हि चलेष्वर्थेषु लुब्धेन विनाशस्वभावेषु पुत्र-कलत्र-वित्तादिष्वर्थनीयेषु
वस्तुषु गर्धावता, यशःस्वनपायिषु चिरस्थायिषु राजभक्तिमहाफलेषु कीर्तिलामेषु
न लुब्धेन कामपि स्पृहां कामनां वा न वध्नता शकटदासेन राजद्रोहिणा पुत्रदारा-
णां स्मृतं स्यात् स्वसुतकलत्रादिमोक्षोऽवश्यंभावीति निर्धारितं भवेत्ततो सुतरामु-
पपद्यते तल्लिखितमेव पत्रमिदमिति, अथवा तत् एव हेतोस्स्वामिभक्तयस्सर्वाः
सर्वविधा वा राजभक्त्यस्तेन विस्मृतास्त्युरिति शेष इति सूच्यमानं तल्लिखितमेव
कूटलेखपत्रमिदमित्यर्थ इति ॥ १४ ॥

मलयकेतु—दोनों ही लाओ ।

प्रतीहारी—जैसी आज्ञा, कुमार ! (बाहर जाकर फिर प्रवेश करके) कुमार !
यह रहा शकटदास का स्वहस्तलिखित पत्र और यह रही मुद्रा !

मलयकेतु—(दोनों को अभिनय के साथ देखभाल कर) आर्य ! अक्षर परस्पर
मिल रहे हैं ।

राक्षस—(स्वगत) अक्षर मिल रहे हैं किन्तु, शकटदास मित्र है इसलिये नहीं भी
मिल रहे हैं । तो क्या शकटदास ने ही लिखा है !

'नद्वर धन के लोभी न कि अक्षय यश के अमिलाषी शकटदास ने वीची-बच्चों का
ही ध्यान रखा होगा और स्वामिभक्ति मुला दी होगी ॥ १४ ॥

अथवा, कः सन्देहः ?

मुद्रा तस्य कराङ्गुलिप्रणयिनी, सिद्धार्थकस्तत्सुहृत्
तस्यैवापरलेख्यसूचितमिदं पत्रं प्रयोगाश्रयम् ।

सुव्यक्तं शकटेन भेदपटुभिः सन्धाय सार्द्धं परै-

भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन कृपणं प्राणार्थिना चेष्टितम् ॥ १५ ॥

मलयकेतुः—आर्य ! 'अलङ्कारत्रयं श्रीमता यदनुप्रेषितं, तदुपगतम्'
इत्यार्येण, परिलिखितं तन्मध्यादेकं किमिदम् (निर्वर्ण्यात्मगतम्) कथं
तातेन धृतपूर्वमिदमाभरणम् ? (प्रकाशम्) आर्य ! कुतोऽयमलङ्कारः ?

राक्षसस्त्वमुद्रामुद्रणया शकटदासेनैव लिखितं पत्रमिति निश्चिन्वानस्त्वगतं
वक्ति—मुद्रेत्यादि । मुद्रा यया हि पत्रमिदं मुद्रितं सा खलु तस्य शकटदासस्यैव
कराङ्गुलिप्रणयिनी राज्यकार्यकरणाय मदर्पितत्वात्सदा तदङ्गुलिवर्तिन्येवेति कः
सन्देहः । सिद्धार्थकस्तत्सुहृत् तस्यैव शकटदासस्य सौहार्दपात्रमित्यत्रापि कः
सन्देहः ! तथा चाऽपरलेख्यसूचितं तल्लिखितलेखान्तरवर्णविरचनया सर्वथा संवाधे
तद्वर्णविरचनमिदं प्रत्यक्षदृश्यमानं प्रयोगाश्रयं शत्रोरस्मत्संघभेदनौपयिककूटनय-
व्यवहारनिदानं पत्रं लेखपत्रं तस्य शकटदासस्यैवेति कः सन्देहः ! हन्त ! सुव्यक्त-
मिदं स्पष्टं निश्चितमेवैतद् यद् भेदपटुभिस्संघभेदननिपुणैः परैरस्मत्प्रतिपक्षिभि-
स्सार्द्धं समं सन्धाय मिलित्वा भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन भर्तृस्नेहान्नन्दानुरागादस्मत्सो-
हार्दाद्वा पराङ्मुखेन विमुखीभूतेन प्राणार्थिना स्वपुत्रकलत्रादिजीवनैकरक्षणाभि-
लाषुकेण शकटेन शकटदासेन लेखाध्यक्षेण कृपणं महाकदर्यचेष्टितमाचरितमित्यभि-
प्राय इति ॥ १५ ॥

अथवा, सन्देहः क्या !

'मेरी अङ्गुलीयक मुद्रा (नाम खुदी अंगूठी) उसके हाथ की अंगुली से प्रेम करने
वाली, सिद्धार्थक उसका प्रियमित्र, उसी के दूसरे पत्र की लिखावट से मिलती-जुलती
लिखावट वाला, भेद-प्रयोग का आधारभूत यह पत्र' ! यह स्पष्ट है कि भेदनीति में
निपुण शत्रुपक्ष में मिले तथा स्वामिभक्ति से विमुख, अपने प्राणों के मोही शकटदास ने
ही यह नीच कार्य किया है ॥ १५ ॥

मलयकेतु—आर्य ! 'तोन आभूषण, जो श्रीमान् ने भेजे थे, वे मिल गये' यह आर्य ने
लिखा है । इनमें से एक आभूषण क्या यह है ? (ध्यान से देखते हुये—आत्मगत) अरे !
यह आभूषण तो पहले पिता जी धारण किया करते थे ! (प्रकट में) आर्य ! यह आभूषण
कहां से आया ?

राक्षसः—वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः ।

मलयकेतुः—विजये ! अपि प्रत्यभिजानाति भवती भूषणमिदम् ?

प्रतीहारी—(निर्वर्ण्य सबाष्पम्) कुमाल ! कहां ण पञ्चभिआणिस्सं ? इदं खलु सुगिहीदणामधेएण देएण पच्चदीसरेण धारिदुव्वं । (कुमार ! कथं न प्रत्यभिज्ञास्यामि ? इदं खलु सुगृहीतनामधेयेन देवेन पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वम्)

मलयकेतुः—(सबाष्पम्) हा तात !—

एतानि तानि तव भूषणवल्लभस्य

गात्रोचितानि कुलभूषण ! भूषणानि ।

यैः शोभितोऽसि मुखचन्द्रकृतावभासो

नक्षत्रवानिव शरत्समयप्रदोषः ॥ १६ ॥

मलयकेतुरलङ्कारणानि निर्वर्णयन् स्मृतस्वपितृवियोगस्तप्यमानमना वदति—
एतानीत्यादि । आः ! एतानि—पुरोद्वश्यमानानि राक्षसाचारेण राक्षसेनाऽपात्रप्रसादी-
कृतानि तानि महाघाणि, अयि कुलभूषण ! अस्मद्राजवंशमहाविभूषण ! अस्मत्-
पूज्यपितृदेव ! तव महाराजस्य भूषणवल्लभस्य प्रियभूषणस्य धृतभूषणनिधानस्य
भूषणानि महान्त्यलङ्कारणानि यैस्त्वमिति शेषः । राज्ञां पुरतः मुखचन्द्रकृतावभास-
स्त्वमुखचन्द्रविभूषितो विद्योतितस्वमुखेन्दुस्तथाभूतो नक्षत्रवान् शरत्समयप्रदोष
इव सतारकशारदीयसांध्यसमय इव शोभितोऽसि किमप्यद्भुतं रामणीयकं प्रका-
शितवानसीति भाव इति ॥ १६ ॥

राक्षस—वनियों से खरीद कर मिले ।

मलयकेतु—विजये ! क्या तुम इस आभूषण को पहचान रही हो ?

प्रतीहारी—(ध्यान से देखकर आंखों में आंसू लिये) कुमार ! क्यों कर न पह-
चानूंगी ! यह आभूषण प्रातःस्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर पहले धारण करते थे !

मलयकेतु—(आंसू भरी आंखों से) 'हा तात ! 'हा कुलभूषण ! आभूषणों के
प्रेमी आपके शरीर के योग्य थे ही वे आभूषण हैं जिन्हें धारण कर' मुखचन्द्र की छटा
छिटकाते हुये, आप, तारों से भरे शरत्कालीन सन्ध्याकाल की भांति सुशोभित हुआ
करके थे ॥ १६ ॥ Mukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं 'पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणी'त्याह ? (प्रकाशम्)
व्यक्तमेतान्यपि तेन चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि ।

मलयकेतुः—आर्य ! तातेन धृतपूर्वाणामाभरणविशेषाणां विशेषतश्च-
न्द्रगुप्तहस्तगतानां वणिग्भ्यः क्रयादधिगम इति न युज्यते, अथवा युज्यत
एवेतत्—

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।

कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम् ॥ १७ ॥

राक्षसः—(आत्मगतम्) अहो ! सुरिलष्टोऽयमभूच्छत्रुप्रयोगः ।
कुतः ?—

टिप्पणी—अत्र नाटककृता करुणो रसस्सामाजिकहृदये समुद्वेक्षित इव
प्रकाशीकृतः ।

मलयकेतुरमात्यराक्षसं सामर्पमभिभाषते—चन्द्रगुप्तस्येति । अये राक्षस ! वणि-
ग्भ्यः क्रयादधिगता आभरणविशेषा इमे भवतेति सर्वथा समुपपन्नं भवदुत्तरम् ।
अये ! क्रूरेण क्रूरहृदयेन दारुणाचारेण भवताऽधिकं लाभमिच्छतो विशिष्टलाभा-
भिलाषुकस्य चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुः वणिजो मौर्यस्य कृत इति शेषः वयमेव भवद्भ-
क्तोऽहमेव ('अस्मदोर्द्वयोश्चे'ति बहुवचनानुशासनम्) एतेपामलङ्काराणां मूल्यं
कल्पिताः मूल्यत्वेन निश्चिताः प्रदत्ताश्चेति भाव इति ॥ १७ ॥

राक्षस—(स्वगत) अरे ! क्या इसने यह कहा कि पर्वतेश्वर के पहने ये आभूषण
हैं ! (प्रकट) अब तो स्पष्ट है कि चाणक्य की चाल चलने वाले वनियों ने ही इन्हें भी
हमारे पास बेचा है ।

मलयकेतु—आर्य ! पहले मेरे पिता के द्वारा धारण किये गये तथा बाद में विशेष
रूप से चन्द्रगुप्त के हाथ में आये इन आभरण विशेषों के वनियों से खरीदने की बात
कुछ जंचती नहीं । अथवा जंच ही रही है—

'आप जैसे महानृशंस ने, चन्द्रगुप्त जैसे वनिये से अधिक लाभ की इच्छा करते हुये,
मुझे ही इन आभूषणों का मूल्य बना दिया है ॥ १७ ॥

लेखोऽयं न ममेति, नोत्तरमिदं, मुद्रा मदीया यतः
सौहार्दं शकटेन खण्डितमिति श्रद्धेयमेतत्कथम् ?
मौर्ये भूषणविक्रयं नरपतौ को नाम सम्भावयेत् ?
तस्मात् संप्रतिपत्तिरेव हि वरं, न प्राग्यमत्रोत्तरम् ॥ १८॥

मलयकेतुः—एतदार्यं पृच्छामि ।

राक्षसः—(सवाष्पम्) कुमार ! य आर्यस्तं पृच्छ, वयमिदानीमनार्याः
संवृताः ।

राक्षसश्शत्रुप्रयोगस्य सुसंश्लिष्टां मुहुर्मुहुर्विचारन् स्वगतं वक्ति—लेखोऽ-
यमिति । हन्त ! निरुत्तरीकृतोऽस्मि । सर्वतो निगृहीतोऽस्मि । यद्यप्युत्तरं दीयते
तत्सर्वं प्राग्यमेव भवेत् नितरामसमीचीनमेव प्रतिभायादिति । तस्मात्ततो हेतो-
स्संप्रतिपत्तिरेव स्वीकृतिरेव सर्वेषामाक्षेपाणां वरं श्लाघनीयं संभवति । तथा हि
लेखोऽयं न ममेति नोत्तरमिदं यतो हि मुद्रा मदीया, यथा मुद्रीकृतोऽयं नीयमानो
विवीताध्यक्षेण निरीक्षितो मयाऽपि च निरीक्ष्यत एवेति । किन्तु शकटेन मन्मि-
त्रेण नन्दराज्यलेखाध्यक्षेण शकटदासेन सौहार्दं सुहृद्व्यवहारोः खण्डितं विनाशित-
मित्येतत् कथं श्रद्धेयम् ? नात्र विषये विश्वसिमि, किन्तु तदपरलेखवर्णसंवादविभा-
विततल्लेख्यमिदं पत्रमिति सर्वप्रकाशोऽयमर्थ इति विश्वसिष्येव, नात्र किमप्युत्त-
रम् । मौर्ये नरपतौ भूषणविक्रयं को नाम संभावयेत् ? न कस्यापि जनस्य शङ्को-
दियाद् यन्महाराजश्चन्द्रगुप्तो भूषणानि विक्रीणीते राक्षसो यानि क्रीणाति चेति
सर्वेषामियमेव संप्रतिपत्तिर्यद्राक्षस एव कृतघ्नः कुमारप्रदत्तानि भूषणानि लेखस्या-
यून्वीकरणार्थं मौर्याय प्रेषयतीति । तद्वरं दोषस्वीकरणं निर्दोषताऽघोषणादिति
भाव इति ॥ १८ ॥

‘यह पत्रलेख मेरा नहीं-यह उत्तर नहीं, हो सकता क्योंकि इस पर मुहर मेरी
लगी है ! शकटदास ने मित्रता तोड़ दी इस पर विश्वास कैसे जमे ! मौर्य सम्राट् के
सम्बन्ध में भूषण के बेचने की बात की किसे संभावना होगी ! इसलिये सब कुछ स्वीकार
करना ही उचित है, गैवारू उत्तर देना उचित नहीं ॥ १८ ॥

मलयकेतु—आर्य से यह पूछना है—

राक्षस—(आँसू गिराते) कुमार ! उससे पूछो जो आर्य हो । हम तो अब
अनार्य हो गये ।

मलयकेतुः—

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः, परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहं
दाता सोऽर्थस्य तुभ्यं, स्वमतमनुगतस्त्वन्तु मह्यं ददासि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र ते, स्वाभ्यमत्र,
स्वार्थं कस्मिन् समीहा पुनरधिकपरे त्वामनार्थं करोति ? ॥ १९ ॥

राक्षसः—कुमार ! एवमयुक्तव्याहारिणा भवतैव मे निर्णयो दत्तः ।
कुतः ?—

मलयकेतुस्सोल्लुण्ठं राक्षसमाह—मौर्योऽसाविति । अरे अनार्थ ! अन्वर्थीकृत-
नाम-राक्षस ! कस्मिन् पुनरधिकतरे स्वार्थं समीहा त्वामनार्थं करोति ? केन
प्रवृत्तरेण स्वार्थेन प्रेरित इत्थं मौर्याय सालङ्करणप्रेषणं गुप्तसन्धिपत्रं प्रेषितवान-
सीति न ज्ञायते ! यतो हि भवतो या खलु समीहितसिद्धिस्सा तु मत्त एव न
मौर्यात् ! तथाहि—मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः स्वामिनो नन्दस्य कुमार इति न भव-
दाज्ञाविधेय इत्यभिप्रायः, अहं तु मित्रपुत्रो भवन्मित्रस्य पर्वतेश्वरमहाराजस्य
पुत्रस्तव परिचरणपरस्त्वन्निदेशवशंवद एव सर्वदेति भवच्छन्दानुवर्तनमेव मम
कार्यमित्यर्थः । स मौर्यस्तुभ्यमर्थस्य दाता स्वेच्छानुसारं यदास्यति तद् दास्यति
किन्तु मह्यं भवद्भक्ताय स्वमतमनुगतस्स्वच्छन्दानुसारं त्वमेव ददासि, यद्
वाञ्छसि तत् प्रयच्छसि यन्नेच्छसि न तद् ददासीति । अभ्यञ्च तत्र मौर्ये ते तव
सचिवपदं साचिव्याधिकारग्रहणं ननु सत्कारपूर्वं दास्यं संमानितभृत्यकर्मैव केवलं
किन्त्वत्र मयि भवन्मुखप्रेक्षिणि जने ते स्वाभ्यं सर्वविधमाधिकारिकत्वमेव सर्वप्रा-
काशं वेत्यभिप्रायः । भूयो विचार्यापि तव मनः पारं नैव प्राप्तुं शक्नोमीति महा-
कृतघ्नस्त्वमिति शेष इति ॥ १९ ॥

मलयकेतुः—‘भला वह कौन सा महान् स्वार्थ रहा जिसके लिये आप को अनार्थ
वनना पड़ा ! वह, चन्द्रगुप्त, नन्द-वंश का राजकुमार और यह मैं, आपके मित्र का पुत्र,
आपका सेवापरायण । वह (चन्द्रगुप्त), अपनी इच्छा से, आपको धन देने वाला और
यह मैं जिसे आप ही अपनी इच्छा से धन देते रहे ! वहां आपके लिये, चन्द्रगुप्त के
सचिव का पद एक सम्मानित दासता के समान और यहां मुझ पर आप का ही पूर्ण
प्रभुत्व ! ॥ १९ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राक्षसः—कुमार ! ऐसा अनुचित बोलने वाले आपने ही निर्णय कर दिया । क्योंकि—

(मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः इति युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठति)

मलयकेतुः—(लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च विनिर्दिश्य) इदमिदानीं किम् ?

राक्षसः—(सबाष्पम्) विधेर्विलसितमिदं, कुतः?—

भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात् प्रभूणां सतां
पुत्रेभ्यः कृतवेदिनां कृतधियां येषामभिन्ना वयम् ।
ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः पापेन येन क्षता-
स्तस्येदं विपुलं विधेर्विलसितं पुंसां प्रयत्नच्छिदः ॥ २० ॥

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्र इति—युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठतीति व्यत्ययप्रकारस्त्वयम्—

‘मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रो मम त्वं
दाता सोऽर्थस्य मद्यं ! स्वमतमनुमतोऽहं तु तुभ्यं ददामि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तन्न मे ! स्वाम्यमन्न
स्वार्थं कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे मामनार्यं करोति ॥

राक्षसः मलयकेतुनाऽधिष्ठितस्त्वदुर्भाग्यमेवापवदति—भृत्यत्व इत्यादि । हन्त !
येन पापेन निर्घृणेन विधिना ते महान्तो लोकस्य परीक्षकाः जनचारित्रदक्षिनोगुणा-
वगुणविमर्शकाः क्षितिभृतः महाराजाः नन्दनृपतय इति शेषः, क्षताः क्षयं प्रापिताः

(मौर्योऽसौ इति श्लोक में ‘युष्मद्’ और ‘अस्मद्’ शब्दों को परस्पर बदल कर) ।

[वहाँ तो रहा मौर्य, हमारे महाराज (नन्द) का वंशज और यहाँ रहे तुम हमारे मित्र के पुत्र, हमारे भक्त; वहाँ रहा वह, मुझे सब कुछ देने वाला और यहाँ रहे तुम, मुझ से ही मेरा मुंह देख, कुछ माँगने वाले; वहाँ रहा मेरा सचिवपद, दासता कहे जाने पर भी महामहिम और यहाँ रही मेरी प्रभुता और वह भी तुम पर इस से बढ़ कर, भला और कौन स्वार्थ हो सकता है जो मुझे अनार्य बना दे !

मलयकेतु—(पत्र और आभूषणों की पेटी दिखलाते हुए) यह सब क्या है ?

राक्षस—(आँसूभरी आँखों से) भाग्य का खेल है । क्योंकि—

सेवक भाव के तिरस्कारास्पद होने पर भी, जिन परमकृतज्ञ, परम बुद्धिमान्, नन्दवंश के प्रभुतापूर्ण राजाओं के लिये हम लोग पुत्रों से अभिन्न से थे, वे, मनुष्य के परखने वाले राजराजेश्वर जिस दुष्ट दुर्भाग्य से मारे गये उसी दुर्भाग्य का यह सब इतना बड़ा खेल है जो पुत्रों की प्रयत्नों को नाश में मिला देता है ॥ २० ॥

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) कथमद्यापि निह्नूयते विधेर्विलसितभिदं
न ममेति ? अनार्य !—

कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा कृतघ्न ! त्वया
विस्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम् ।
सम्प्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपोः
प्रारब्धा. प्रणयाय मांसवदहो ! विक्रेतुमेते वयम् ॥ २१ ॥

विनाशिता वा येषां महतां महनीयचरितानां प्रभूणां सर्वप्रकारप्रभुत्वशालिनां कृत-
धियां मनस्विनां कृतात्मनां वा कृतवेदिनां कृतज्ञानां सतां सर्वं जगत्तन्त्रं तन्त्रयतां
विराजमानानां कृते वयं राजसेवकाः खलु भृत्यत्वे परिभवधामनि सति राजसेवायां
तिरस्क्रियास्पदीभूतायामपि सत्यां, स्नेहात् सेव्यस्य सेवकानुरागादेव हेतोः पुत्रेभ्योऽ-
भिन्नाः सुतनिविशेषा एव संजाताः, तस्य तथा नृशंसस्य पुंसां प्रयत्नच्छिदो जनानां
पौरुषविघातकस्य विधेर्भाग्यस्येदं लेखालङ्कारादिरूपदुर्वटनं विपुलं किमपि विकटं
विलसितं विक्रमणमिति किमधिकमत इति आव इति ॥ २० ॥

मलयकेतुरमात्यराक्षसं भर्त्सयन् वक्ति—कन्यामित्यादि । अरे कृतघ्न ! महाप-
कार ! महापचार ! राक्षस ! त्वया, न कदापि चाणक्येनेति शेषः, तीव्रविषप्रयोग-
विषमां तीव्रणरसदानेन जीवहन्त्रीं कन्यां विषकन्यां कृत्वा संपाद्य विस्रम्भप्रवणः
कृतभवद्विश्वासः मम पिता महाराजपर्वतकः पुरा प्रथमं कथाशेषतां नीतो घातित
इत्यर्थः । अथ च सम्प्रत्यधुना रिपोर्मच्छत्रोर्मौर्यस्य मन्त्राधिकारे महामन्त्रिपदे आहित-
गौरवेण कृतमनस्कारेण प्राप्तमाहात्म्येन वा भवता वयमेते भवद्वशंवदाः प्रणयाय
मौर्यं प्रसादयितुं मांसवद्विक्रेतुं प्रारब्धाः इत्यहो ! महदाश्चर्यम् ! किं वृमोऽधिकं
भवतो मौर्यप्रणयमूल्यपरित्राहिणोऽस्मत्पण्यवणिजश्चेति भाव इति ॥ २१ ॥

मलयकेतुः—(क्रुद्ध होकर) क्यों अभी छिपा रहे हो कि यह सब तुम्हारा किया-
कराया नहीं किन्तु भाग्य का खेल है ? अनार्य !

‘कृतघ्न ! वह तुम्हीं थे जिसने पहले तुम पर महाविश्वास करने वाले हमारे पिता
को, प्राणनाशक विषकन्या के द्वारा, मौत के घाट उतार दिया ? और अब भी तुम्हीं हो
जो हमारे शत्रु के मन्त्रिपद को अभिषेक से, उससे प्रेम करने के लिये हमें, मांस की
भांति उसके हाथ बेचना प्रारम्भ कर रहे हो ॥ २१ ॥

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमपरो गण्डस्योपरि विस्फोटः (प्रकाशं कर्णौ पिधाय) शान्तं पापं, शान्तं पापम् । नाहं विपकन्यामारोपितवान-पापोऽहं पर्वतेश्वरे ।

मलयकेतुः—केन तर्हि व्यापादितस्तातः ?

राक्षसः—दैवमत्र प्रष्टव्यम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) दैवमत्र प्रष्टव्यं न क्षपणको जीवसिद्धिः ?

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः ? हन्त ! हृदयमपि मे रिपुभिः स्वीकृतम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) भासुरक ! आज्ञाप्यतां शिखरसेनः सेनापतिः—‘ये एतेन राक्षसेन सह सौहार्दमुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्त-माराधयितुकासाः पञ्च राजानः, तद्यथा—‘कौल्लतः चित्रवर्मा, मलय-नरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सुपेणः, पारसीका-धिराजो मेघाक्ष’ इति । तेषु त्रयः प्रथमा मदीयां भूमिं कामयन्ते, ते गभीरश्वभ्रमुपनीय पांशुभिः पूर्यन्ताम्, इतरौ तु द्वौ हस्तिबलकामौ हस्ति-नैव घात्येतामिति ।

राक्षसः—(स्वगत) एक फोड़े पर अब दूसरा फोड़ा निकला ! (प्रकट कानों पर हाथ रखे) राम राम ! मैंने विपकन्या नहीं लगायी ! महाराज पर्वतक के सम्बन्ध में मैं निष्पाप हूँ ।

मलयकेतुः—तब किसने हमारे पिता की हत्या की ?

राक्षसः—दैव से पूछो ।

मलयकेतुः—(क्रोधपूर्वक) दैव से पूछें ? इस क्षपणक जीवसिद्धि से नहीं ?

राक्षसः—(स्वगत) तो क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का ही गुप्तचर रहा ! ओह ! शत्रुओं ने हमारे हृदय को ही वश में कर लिया !

मलयकेतुः—(क्रुद्ध होकर) भासुरक ! सेनापति शिखरसेन से कहो—इस राक्षस का साथ देने वाले और हमारा प्राण लेकर चन्द्रगुप्त की सेना के इच्छुक, पाँचों राजाओं अर्थात् कुल्लत के चित्रवर्मा, मलय के सिंहनाद, काश्मीर के पुष्कराक्ष, सिन्धु के सुपेण और पारसीक के मेघाक्ष, जिनमें पहले के जो तीन, हमारे राज्य पर आँख गड़ाये हैं उन्हें एक गहरे गड्ढे में गाड़कर, मिट्टी से ढक दिया जाय और बाढ़ के दो जो हमारी गजसेना के इच्छुक हैं, उन्हें हाथियों के पीरों तले रोदवा कर मार डाला जाय ।

पुरुषः—जं कुमारो आणवेदि (यत् कुमार आज्ञापयति) (इति निष्क्रान्तः) ।

मलयकेतुः—(सक्त्रोधम्) राक्षस ! राक्षस !! नाहं विसम्भवाती राक्षसो, मलयकेतुः खल्वहं, तत् गच्छ, समाश्रीयतां सर्वात्मना चन्द्रगुप्त इति—

विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च सममप्यागतौ त्वया ।

उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः ॥ २२ ॥

भागुरायणः—कुमार ! कृतं कालहरणेन, शीघ्रमेव कुसुमपुरोपरोधाय प्रतिष्ठाप्यन्तामस्मद्बलानि—

गौडीनां लोभधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्

किल्विनन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य ।

मलयकेतुरमात्यराक्षसं तर्जयन्नाह—विष्णुगुप्तमित्यादि । राक्षस ! गम्यतां यत्र गच्छसि, समाश्रय मौर्यं सर्वात्मना । किन्तु शृणु—पाटलिपुत्रमभिप्रेणयिताऽस्म्येवाहम् ! तथा च दुर्नयो दुराचार एकाकी त्रिवर्ग धर्मार्थकामानां संघवलमिवाहमेकाकी सन्नपि त्वया सममप्यागतौ विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च मौर्य—राक्षस—कौटिल्यसंघमित्यर्थः, उन्मूलयितुमीशो विनाशयितुं सर्वदा सर्वथा च समर्थ एवेत्यभिप्राय इति ॥ २२ ॥

भागुरायणस्साधितस्वकृत्यः परं प्रहृष्टोऽमात्यराक्षसोचितां बलेभ्य आज्ञां स्वयमेवाधोपयन् व्याहरति—गौडीनामिति । बलानामस्मच्चतुरङ्गसेनासंघातस्य तुरग-

पुरुष—जैसी आज्ञा कुमार ! (बाहर चला जाता है)

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) राक्षस ! राक्षस !! मैं मलयकेतु हूँ, विश्वासघाती राक्षस नहीं । चले जाओ, सब तरह से चन्द्रगुप्त की सेवा में लगे, किन्तु ध्यान रखना—

यदि तुम्हारे साथ साक्षात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी सामने आजायें तो तुम सब को, वैसे ही मैं सर्वनाश में मिला दूंगा जैसे दुर्नय, धर्म—अर्थ—काम के त्रिवर्ग को नाश में मिला देता है ॥ २२ ॥

भागुरायण—कुमार ! अब विलम्ब क्यों ? शीघ्र हमारी सेनाओं को पाटलिपुत्र का घेरा डालने के लिये प्रयाण करवा दें ।

दुसरो बोवों के खुद-मुर्खों के निरन्तर चूर्ण-त्रिचूर्ण और पाटलिपुत्र से लड़ी धूल, समाधवासिनी गौड़नारियों के लोभ-धूलिचर्चित अति सुरभित कपोल-फलकों को धूमिल बनाती हुई,

पांशुव्यूहा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ॥ २३ ॥

(इति सपरिजनो निर्गतो मलयकेतुः)

राक्षसः—(सावेगम्) हा धिक् कष्टम् ! तेऽपि हतास्तपस्विनश्चित्र-
वर्मादयः !! तत् कथं सुहृन्नाशाय राक्षसश्चेष्टते, न रिपुविनाशाय ?
तत् किमिदानीं करवाणि मन्दभाग्यः ?—

किं गच्छामि तपोवनं ? न तपसा शाम्येत् सवैरं मनः

खुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभास्तुरगाणामश्वसेनावर्तिनामश्वानां खुरपुटास्तैः कृतास्सम-
राङ्गणस्येति शेषः । ये क्षोदाश्चूर्णनव्यापारास्तैर्लब्धा आत्मलाभाः जन्मानि यैस्तथा-
भूताः पांशुव्यूहाः धूलिराशयो गौडीनां मगधवर्त्तिनीनां गौडनारीणां लोभ्रधूलीप-
रिमलवहलान् लोभ्ररजोविलेपनसुरभीन् कपोलान् गण्डभागान् धूत्रयन्तो धूस-
रितीकुर्वन्तो मलिनीकुर्वन्तो वा तथा च तासामेव भ्रमरकुलरुचः भ्रमरश्याम-
कान्तेः कुञ्चितस्यालकस्य कुटिलस्य केशपाशस्य कृष्णिमानं कृष्णरागं विलसन्तो
विनाशयन्तस्सन्तो गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः गजानामस्मत्सेनागजानां यानि
मदसलिलानि मदजलानि तैरिच्छन्मूलास्संजायमानाश्शत्रूणामस्मत्प्रतिबलाना-
मुत्तमाङ्गे शिरसि पतन्तु स्थितिं कुर्वन्त्विति सत्वरभारभ्यतां बलैश्शत्रूणामभिपेणन-
मिति भाव इति ॥ २३ ॥

भृशं दूनहृदयो वक्ति राक्षसः—किं गच्छामीति । किं तपोवनं गच्छामि ? कि-
मधुना विनष्टसर्वाशातन्तुना संन्यासस्स्वीकर्त्तव्यो मया ! किं तु तपसा सवैरं मनः

उनके बुंधराले, भौरों के समान काले केशों की कमनीयता को मिट्टी में मिलाती हुई और
हमारे हाथियों के मदजल की बौछार से कीचड़ उछालती हुई सीधे हमारे शत्रुओं के
गर्वोन्नत मस्तक पर गिरने लगे ! ॥ २३ ॥

(मलयकेतु अपने परिजनों समेत चला जाता है ।)

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) हाय । धिक्कार है ! बड़ा दुःख है ! अब तो बेचारे
चित्रवर्मा इत्यादि भी मारे गये ! तो क्या राक्षस मित्रों के नाश के लिये प्रयत्न कर
रहा है, शत्रुओं के नाश के लिये नहीं । अब, मुझ सा अभाग क्या करे ?

‘क्या तपोवन चला जाय ? किन्तु भला प्रतिशोध और प्रतिहिंसा से भरे मन की
तपस्या से कैसे शांति ! भला अपने विश्वमत्स्य मित्रों के नाश के लिये तपस्य करे ? किन्तु शत्रु के

किं भर्तुं ननुयामि जीवति रिपौ स्त्रीणामियं योग्यता ।

किं वा खड्गसखः पताम्यरिवले ? नेदं न युक्तं भवे-

च्चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात् कृतघ्नं न चेत् ॥२४॥

न शाम्येत् तपश्चरणेन सामर्पस्य मनसो नैवोपशमश्शक्य इति नायमुपायोऽपि कथमप्यौपयिको ममेति, तर्हि किं भर्तुं ननुयामि किं स्वामिनो यथा मृतास्तथैव मृत्यवे परिददास्यात्मानम् ? किं तु रिपौ जीवति शत्रुवर्गो धरमाणे स्त्रीणा-मियं योग्यता स्त्रीणामेवायं स्वाम्यनुमरणव्यापार इति नायमपि कदाप्युचितो ममे-ति, तदा किं खड्गसखः खड्गद्वितीय एकाकी एवारिवले शत्रुसैन्ये पतामि ? किन्तु न नैवेदं कर्त्तव्यं सम्प्रति मम यतो हि न युक्तं भवेन्नोचितं कथमपि, यतः खलु चन्दनदासमोक्षरभसं चन्दनदासः परममित्रं सुच्यतां शत्रुसंश्लेशादिति किमपि संरब्धं समुत्सुकं चेतो हृदयं रुन्ध्यान्मां निवारयेदस्माद् व्यापारादिति, न चेद् यदि न रुन्ध्यात् तर्हि कृतघ्नं सहाऽकृतज्ञं भवेत्तथा च का निष्कृतिः कृतघ्नतायाः ! इति न कोऽप्युपायः किं क्रियताम् किं वा न क्रियतामिति महामोहान्धतमसे पतितोऽहं नष्टकरूप एव वर्ते इति भाव इति । अथवा नेदं न युक्तं भवेत्..... कृतघ्नं न चेदित्यस्यायमभिप्रायः—इदं शत्रुमध्ये खड्गसहायस्य मम पतनं युक्तं न भवेदिति न सर्वथैव समुचितं भवेत्, चेत् यदि चन्दनदासमोक्षरभसमत एव कृतघ्नं चेतो न रुन्ध्यात् न वारयितुं मां प्रवर्तेतेति भाव इति ॥ २४ ॥

टिप्पणी—अत्राङ्गे विमर्शसन्धिसंदृढे सर्व एव नाटकार्थराशिरिति न निर्वहणा-शङ्का कापि मनसि कार्या । विमर्शसन्धेर्लक्षणन्तु—

‘उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभि’रिति । अत्र चाणक्यनायकस्यैव नियतासिरूपावस्थाया उद्भवो वर्ण्यते । नियतासिस्तु—

‘नियतासिरूपायानां साकल्यात्कार्यनिर्णय’ इति सुतरामन्वर्थाभिधाना । कथं राक्षसनिकारे वर्ण्यमाने चाणक्यनायकस्य नियतासिरिति चेत् ? भङ्ग्येति ब्रूमः । निवृत्तमेव राक्षसं भूयोऽपि कूटनीतिवलेनार्त्तपुरुषादिसंभाषणादिरूपावसरप्रदापनेन वशीकर्तुं चेष्टेतेऽग्रे चाणक्य इति नातितिरोहितं सामाजिकानामिति । अत्र खलु

जीते-जागते ऐसा अवलोचित कर्म करूँ ! तब क्या हाथ में तलवार लेकर शत्रु-दल पर कूद पड़े ? ठीक तो यही ठहरा ! किन्तु चन्दनदास के छुटकारे के लिये व्याकुल मेरा यह महाकृत मन यदि न रोके तब तो (ऐसा कर सकूँ !) ॥ २४ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥



वस्तुतः प्रतिनायकोऽमात्यराक्षसः प्रत्यासन्नमपि स्वसाध्यं प्रति सर्वथा सन्दिग्ध इति प्रकारान्तरेण चाणक्यस्य नियतासिरेव समुल्लसति । राक्षसस्य निकार एकतः चाणक्यस्य कृते साध्यरूपः किन्त्वपरतः 'निकृतोऽमात्यराक्षसः किं करिष्यतीति निश्चयाभावात् साध्यविघ्नसम्पातोऽपि ततश्च सुनिपुणं संदग्धोऽयं विमर्शसन्ध्युद्भव- इति तदङ्गानि तत्र स्वयमेवान्वेष्टव्यानि सुधीभिरित्यलमधिकप्रपञ्चनक्लेशेनेति ।

इति राक्षसनिकारो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।



(सभी पात्र रंग-मंच से बाहर चले जाते हैं)

राक्षस-निकार नामक पञ्चम अङ्क-समाप्त



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यलङ्कृतः सहर्षः सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—

जअदि जलदणीलो केशवो केशिघादी

जअदि अ जणदिट्ठी चन्दमा चन्दउत्तो ।

जअदि जअणसज्जं जा अकाऊण सेण्णं

पडिहदपडिपक्खा अज्जचाणक्कणीदी ॥ १ ॥

(जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती

जयति च जनदृष्टिश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः ।

जयति जयनसज्जं या अकृत्या सैन्यं

प्रतिहृतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥ १ ॥)

मलयकेतुप्रभृतिषु रङ्गान्निष्क्रान्तेषु पिनद्धाभरणस्सप्रहर्षं प्रविशन् सिद्धार्थकः आर्यचाणक्यमतिक्रान्तकेशवपराक्रमं स्तुवन्नाटकस्य निर्वहणोन्मुखतामिव सूचयन्नाह—जयतीति । केशवो भगवान् कृष्णावतारो विष्णुर्जयति सर्वोत्कर्षेण विराजताम् यो हि भूभारोद्धरणाय कृतावतरणः केशिनं तन्नामानं हररूपं महादानवं हन्तुं शीलमस्येति केशिनिषूदनोऽथ च स्वदिन्यमङ्गलविग्रहे जलदो मेघस्तद्वज्रीलस्यामलस्सर्वसन्तापनिर्वापणसमर्थश्च चकारित । चन्द्रगुप्तश्चाधिकृतसाम्राज्यो जयति

(अलङ्कृत सहर्षं सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—‘जय हो घनश्याम भगवान् कृष्ण की, जिन्होंने (महादानव) केशी का संहार किया है, जय हो (सम्राट्) चन्द्रगुप्त की, जो प्रजाजन की आँखों के लिये चन्द्रमा के समान (स्निग्ध और शीतल) हैं और जय हो आर्य चाणक्य की उस राजनीति की* जिसने विजय के लिये सेना-संनाह किये बिना ही शत्रुपक्ष का सर्वनाश कर दिया है ॥ १ ॥

* इस नाटककार की दृष्टि में राज्य की स्थिति और सुरक्षा के लिये प्रभुशक्ति से भी अधिक मन्त्रशक्ति का ही महत्त्व दिखाई देना है । इसी दृष्टि से इस नाटक में चाणक्य को नायक और उसकी राजनीति को एक प्रकार से नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यद्यपि यह नायिका रंग-मंच पर दिखाई नहीं देती, किन्तु चाणक्य की उपस्थिति में इसकी उपस्थिति की कल्पना और उसके नय-चिन्तन में इसकी दिव्य भूति की भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है ।

ता जाव चिरस्स कालस्स प्पिअवअस्सं सुसिद्धत्थअं पेक्खामि ।
(परिक्रम्यावलोक्य च) अअं उणं प्पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ इदो
ज्जेव आअच्छदि, ता जाव उवसप्पामि (तद्यावच्चिरस्य कालस्य प्रिय-
वयस्यं सुसिद्धार्थकं पश्यामि । अयं पुनः प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थक इत
एवागच्छति, तद्यावदुपसर्पामि ।)

(ततः प्रविशति सुसिद्धार्थकः)

सर्वानधिराजानतिशेताम् यः खलु जनानां प्रजाजनस्य भूतमात्रस्य वा याः दृष्ट्यो
नेत्राणि तत्कृते चन्द्रमाश्चन्द्र इव स्निग्धमधुरशीतलो विभाति । आर्यचाणक्य-
नीतिर्जयति सर्वातिशायिनी समेधताम् या हि सैन्यं चतुरङ्गबलं जयनसज्जं जीयते-
ऽनेनेति जयनं (करणे व्युट्) युद्धसंभारस्तस्य सज्जा संनाहो यस्य तथाविधम-
कृत्वैव—विना युद्धं विना रक्तपातमिति शेषः, प्रतिहतो विनाशितः प्रतिपन्नः शत्रु-
वर्गो यथेति विजितशात्रवा विराजते ॥ १ ॥

टिप्पणी—विष्णोर्जयोद्धोपणे यः प्रहर्षस्सिद्धार्थकस्य ततोऽप्यधिकः विष्णु-
गुप्तस्य जयोद्धोपणे । करचरणादिप्रहरणैः केशवः केशिघातो यथोक्तं श्रीमद्भागवत-
महापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे सप्तविंशत्तमेऽध्याये—

‘समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्रवणांश्च विचिपन् ।

प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥’

चाणक्यनीतिस्तु वस्तुतोऽनन्यसाधना प्रतिहतप्रतिपद्येति का तुलना पूर्वापरयोः ।
केशवस्तु भगवान् विष्णुः कृष्णावतार उच्यते । यथोक्तं श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये
(२-५४) श्रीमदानन्दतीर्थपादैः ‘कं ब्रह्माणम् ईशं रुद्रञ्च वर्तयतीति केशवः’ । हरि-
वंशेष्वपि तथैव निरुक्तिः—

‘हिरण्यगर्भः कः प्रोक्त ईशः शङ्कर एव च ।

सृष्ट्यादिना वर्तयति तौ यतः केशवो भवान् ॥’

बहुत दिनों के बाद आज प्रियमित्र सुसिद्धार्थक को देखूँगा । (घूमते हुये इधर-उधर
देख कर) यह मेरा प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक तो इधर ही आ रहा है ! मैं इसके पास चलूँ ।

(सुसिद्धार्थक का प्रवेश)

सुसिद्धार्थकः—

सन्तावेन्ता आबाणेसुं महुसवेसुं रुआवेन्ता ।

द्विअअच्छिआ अवि विहवा विरहे मिताणं दुम्मणाअन्ते ॥ २ ॥

(सन्तापयन्त आपानेषु महोत्सवेषु रुजायन्तः ।

हृदयस्थिता अपि विभवा विरहे मित्राणां दुर्मनायन्ते ॥ २ ॥)

सुदञ्च मए जधा—‘मलयकेतुकटकादो प्पिअवअस्सओ सिद्धत्थओ आअदोत्ति । ता जाव णं अण्णेसामि । (परिक्रम्योपसृत्य) एसो सिद्धत्थओ । (श्रुतञ्च मया यथा—‘मलयकेतुकटकात् प्रियवयस्यः सिद्धार्थक आगत’ इति । तद्यावदेनमन्विष्यामि । एष सिद्धार्थकः ।)

सिद्धार्थकमनुरङ्गं प्रविशन् सुसिद्धार्थकनामा नाटकपुरुषश्चन्द्रगुप्तस्य साम्राज्या-
रोहणमहोत्सवे करिष्यमाणे प्रियवयस्यं साधितराजकार्यं सिद्धार्थकमसंनिहितं पश्यन्
क्षिप्रमानमना वक्ति—सन्तापयन्त इति । हृदयस्थिता अपि विभवाः चन्द्रगुप्ते राजनि-
सति महोदयाशंसिनस्ते ते संरम्भास्सुखोत्सवानां करिष्यन्ते, संशुक्तयः संपीतयश्च
तास्ताः प्रचलिष्यन्तीत्येवं बहोः कालादाशंसापरिकल्पिताः उत्सवाभ्युदयाः मित्राणां
सुहृदां विरहे वियोगे दैवदुर्विपाकादसन्निधाने संभाव्यमाने, आपानेषु पानगोष्ठीषु
सन्तापयन्तो नितरामरुचिं जनयन्तोऽथ च महोत्सवेषु नृत्यगीतादिषु समारम्भेषु
रुजायन्तः मनोरोगं समुत्पादयन्तस्सन्तः केवलं दुर्मनायन्ते (‘भृशादिभ्यो भुज्य-
च्चेर्लोपश्च हल’ इति दुर्मनश्शब्दाद् भवत्यर्थे क्यङ्) निरानन्दवन्त एव सम्प-
त्स्यन्त इति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) सुसिद्धार्थकस्य हृदयात् समुच्छलन्ती शोककणिका सामाजिकानां
मनांसि द्रावयन्ती निकामं प्रधानमेव रसभावं पोषयति । अयमेव पन्थाः रसभाव-
विदः कवेर्यत् विरोधिभावानां परस्परमुपमर्द्योपमर्दकतया वर्णनादिष्टरसाभिव्य-
ञ्जनमिति ।

सुसिद्धार्थक—मित्रों के वियोग में हृदय में अवस्थित भी उत्सव, विषयक विभव
अथवा अभ्युदय, पानगोष्ठीओं में हृदय में संताप पहुँचाते तथा महोत्सवों में मन को
दुःखित करते निरानन्द बन जाते हैं ॥ २ ॥

मैंने सुना है कि ‘मलयकेतु के सैन्यकटक से प्रियमित्र सिद्धार्थक आया है’ । तब तक
होते हैं (धूमते हुये, पास पहुँच कर) यह रहा सिद्धार्थक !

सिद्धार्थकः—(विलोक्य) कथं इदो ज्जेव पिअबअस्सओ सुसिद्ध-
त्थओ ! ! (उपगम्य) अवि सुहं पिअवअस्सस्स ? (कथमित एव
प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थकः । अपि सुखं प्रियवयस्यस्य ?)

(उभावन्योन्यमालिङ्गतः)

सुसिद्धार्थकः—अह बअस्स ! कुदो मे सुहं जस्स तुमं चिरआलप्प-
वासवच्चागदोवि, अआणिअ वुत्तन्तं अण्णदो गदोसि ? त्ति । (अहो
वयस्य ! कुतो मे सुखम् यस्य त्वं चिरकालप्रवासप्रत्यागतोऽप्यज्ञापयित्वा
वृत्तान्तमन्यतो गतोऽसीति ।)

सिद्धार्थकः—पसीदतु पिअवअस्सो । अहं क्खु दिट्ठमेत्तो ज्जेव्व
अज्जचाणक्केण आणत्ता, जधा—‘सिद्धात्थअ गच्छ एदं पिअं वुत्तन्तं
पिअदंसणस्स देअस्स चन्दसिरिणो णिवेदेहि’त्ति । तदा तस्स तं
णिवेदिअ एव्वं अणुभूदपात्थिबप्पसादो अहं पिअवअस्सं पेक्खिदुं तुहं
गेहं चलिदोहि । (प्रसीदतु प्रियवयस्यः । अहं खलु दृष्टमात्र एवार्थचाण-
क्येनाज्ञातो यथा—‘सिद्धार्थक ! गच्छ, इमं प्रियं वृत्तान्तं प्रियदर्शनस्य
देवस्य चन्द्रश्रियो निवेदये’ति । ततस्तस्य तन्निवेद्य एवमनुभूतपार्थिव-

(२) अप्राणवतामपि महोत्सवविभवानां प्राणवतामिव सौमनस्यं दौर्मनस्यं वा
सर्वमसम्भवि तथात्वेऽपि तेषां तत्तत्सम्भावनमुत्प्रेक्षणमत्र वस्तुतः रसानुस्यूतमेव
सम्भवत्कवेः कौशलमुद्भावयति ।

अनुभूतपार्थिवप्रसाद इति । सम्राजश्चन्द्रगुप्ताच्छ्रुतविजयवृत्तान्तात् पारितोषिक-
रूपेण प्रदापितालङ्करण इति भावः ।

सिद्धार्थक—(देखकर) अरे ! प्रियमित्र सुसिद्धार्थक इधर ही आ रहा है ! (समीप
पहुँच कर) प्रियमित्र ! आनन्द मंगल तो है न ?

(दोनों परस्पर आलिङ्गन करते हुए)

सुसिद्धार्थक—अरे मित्र ! मुझे क्यों कर आनन्द-मंगल, जब कि चिरकाल के प्रवास
से वापस लौट कर भी तुम, बिना समाचार बताये, अन्यत्र चले गये !

सिद्धार्थक—प्रिय मित्र ! प्रसन्न रहो । जैसे ही आर्य चाणक्य ने मुझे देखा, वैसे
ही आर्य चाणक्य ने मुझे बताया कि तुम बहुत समय तक प्रवास में रहकर समाचार प्रियदर्शी सम्राट् चन्द्रगुप्त को

प्रसादोऽहं प्रियवयस्यं प्रेक्षितुं तव गेहं चलितोऽस्मि ।)

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! जदि मए एदं सुणिदब्बं भोदि, ता मं वि सुणावेहि, किं ते पिअदंसणस्स चन्दसिरिणो णिवेदिदं त्ति । (वयस्य ! यदि मयेदं श्रोतव्यं भवति, तन्मामपि श्रावय, किं तत् प्रियं प्रिय-दर्शनस्य चन्द्रश्रियो निवेदितमिति ।)

सिद्धार्थकः—प्पिअवअस्स ! तुह वि किं असुणिदब्बं अत्थि ? ता णिसामेहि । अत्थि दाव अज्जचाणक्कणीदिमोहिदमदिणा मलअकेहदएण णिराकरिअ रक्खसं हदा चित्तवम्मप्पमुहा प्पहाणा पञ्च पात्थिवा, तदो 'असमिक्खकारी एसो दुराआरो'त्ति कदुअ, उज्झिअ मलअकेदुक्कड-अभूमिं, णिअभूमिकुसलदाए भअविलोलसेण्णतनूकिदसेसपरिवारेसुं सकं सकं विसअं अभिप्पत्थिदेसु पात्थिवेसु, भदभट-पुरुसदत्त-दिङ्गुरात-वलउत्त-राअसेण-भागुराअण-रोहिदक्ख-विजअवम्मप्पमुहेहिं संजमिदो मलअकेदू । (प्रियवयस्य ! तवापि किमश्रोतव्यमस्ति ? तन्निशामय—अस्ति तावदार्यचाणक्यनीतिमोहितमतिना मलयकेतुहतकेन निराकृत्य

मलयकेतुहतकेनेति । मलयकेतुश्चासौ हतकश्चेति तेन (कुत्सितानि कुत्सितैरिति समासः) । राक्षसपक्षस्थानां कृते आर्यचाणक्यश्चाणक्यहतकश्चाणक्यपत्नीयाणां कृते चामात्यराक्षसः राक्षसहतकः कुमारमलयकेतुश्च मलयकेतुहतक इति पक्षयो-र्द्वयोर्विरोधसाम्यं कुत्सनार्थकहतकशब्दप्रयोगादुभयत्र निर्व्यूढं नाटककृतेति विभा-चनीयम् ।

बताओ । उसके बाद, चन्द्रगुप्त को सब समाचार बताकर, महाराज की कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव करके, प्रियमित्र तुम से मिलने, तुम्हारे घर जा रहा हूँ ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! यदि मेरे सुनने योग्य है तो मुझे भी सुनाओ कि प्रियदर्शन महाराज चन्द्रगुप्त से, तुमने क्या निवेदन किया ।

सिद्धार्थक—प्रियमित्र ! ऐसी क्या बात है जिसे तुम्हें न सुनाऊँ ! तो सुनो, बात यह है कि आर्य चाणक्य की नोति से किंकर्तव्यविमूढ़ बने मलयकेतु ने, राक्षस को निकाल बाहर किया और चित्रवर्मा आदि पाँचों राजाओं को मरवा डाला । इसके बाद, 'मलयकेतु विचारहीन और अत्याचारी' यह समझकर, अनेकों राजपूत, मलयकेतु के

राक्षसं, हताश्रित्रयर्मप्रमुखाः प्रधानाः पञ्च पार्थिवाः । ततो 'ऽसमीक्ष्यकारी
एष दुराचार' इत्युज्झत्वा मलयकेतुकटकभूमिं निजभूमिकुशलतया
भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेषु स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थितेषु
पार्थिवेषु, भद्रभट-पुरुषदत्त-हिङ्गुरात-वलगुप्त-राजसेन-भागुरायण-रोहि-
ताक्ष-विजयवर्मप्रमुखैः संयमितो मलयकेतुः ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! भद्दभटप्पमुहा किल देअस्स चन्दसिरिणो
अवरता मलअकेदुं समास्सिदा त्ति लोए मन्तीअदि । ता किं णिमित्तं
एदं कुकविण ङअस्स विअ अण्णं मुहे अण्णं णिव्वहणे त्ति । (वयस्य !
'भद्रभटप्रमुखाः किल देवस्य चन्द्रश्रियोऽपरक्ता मलयकेतुं समाश्रिता'
इति लोके मन्थ्यते । तत् किं निमित्तमेतत् कुकविनाटकस्येवान्यद्
मुखेऽन्यन्निर्वहण इति ?)

निजभूमिकुशलतयेति—निजभूमिषु स्वायत्तस्वीयरान्यसीमसु न तु पाटलिपुत्रोप-
कण्ठभूमिषु कुशलास्सुरक्षिताः सुरक्षितम्मन्या वा तेषां भावस्तत्ता तथा तद्धेतोरिति
स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थितेष्वित्यनेनानान्वयः ।

भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेष्विति । भयविलोलानि भयात्प्रद्रुतानि प्रद्रावि-
तानि वा सैन्यानि चतुरङ्गबलानि येषामथ च तनूकृताः क्षीणक्षीणाः शेषाः कियन्त-
एव परिवाराः रक्षकसैनिकाः येषां तेष्विति ।

कुकविनाटकस्येवान्यद् मुखेऽन्यन्निर्वहण इति । आमुखोपसंहारयोः वस्तुनेद्वयसवर्ण-
नायां सामरस्यमेव नाटकेष्वभिप्रेतं व्यतिक्रमश्च परिवर्जनीय इत्येव सम्प्रदायो

सैन्य-शिविर को छोड़कर, अपनी-अपनी सेनाओं के भयभीत होकर भाग खड़े होने के
कारण, अपने-अपने अङ्गरक्षक दल के भी अल्पसंख्यक हो जाने से, अपने-अपने राज्यों
की ओर चल पड़े क्योंकि वहाँ पहुँचे बिना उनकी कुशल नहीं थी । तब भद्रभट, पुरुषदत्त,
हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा इत्यादि ने मलयकेतु
को पकड़ लिया ।

सुसिद्धार्थक—क्यों भाई ! लोग तो समझ रहे हैं कि भद्रभट इत्यादि सम्राट् चन्द्रगुप्त
से रह्ये होकर मलयकेतु से जा मिले हैं । तो, क्योंकि, यह सब, किसी कुकवि के नाटक
की भाँति आरम्भ में कुछ और अन्त में कुछ साधारण रहस्य है ।

सिद्धार्थकः—वअस्स ! सुणु दाव, दैवगदीए बिअ असुणिदगदीए णमो अज्जचाणक्कीदीए । (वयस्य ! तावत्, देवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्य-चाणक्यनीत्यै ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! तदो तदो ? (वयस्य ततस्ततः ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! तदो प्पहुदि सारसाहणसमुदण इदो णिक्कमिअ अज्जचाणक्केण पडिवण्णं अराअलोअं असेसराअबलं । (वयस्य ! ततः प्रभृति सारसाधनसमुदयेनेतो निष्क्रम्य आर्यचाणक्येन प्रतिपन्नमराजलोकमशेषराजबलम् ।)

महतां नाटककृताम् । अत्र कथावस्तुसूत्रमनुशीलयतां मुखसन्धावन्यन्निर्वहण-सन्धौ चान्यदिव किमप्याभाति यतो हि पूर्वं भद्रमदादयश्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः मलय-केतुमाश्रितास्संवर्णिता अत्र च मलयकेतुसंयमने समुद्युक्ताः प्रदर्शिताः किन्तु नेदं कुकविनाटकं सुकविनाटकमेतत् । आपाते यद्वा तद्वा प्रतिभायात् पर्यन्ते तु सर्वमेव समञ्जसमेव नाटककृता करिष्यत इति निपुणमन्त्रैतन्नाटककविस्सामाजिकान् विस्मापयन् स्वीयनाटकनैपुणीमभिनयनक्ति ।

दैवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै इति । आर्यचाणक्यनीतिरेव दैवगति-रिवाश्रुतगतिरपि तु तन्नीतिमुपजीव्य कृतैतन्नाटकगतिरपि तथैवाश्रुतगमनिकाऽ-पूर्वप्रस्थानेति द्वयोरपि सामाजिकानां प्रह्वीभाव एव सूक्ष्ममुद्भावितस्स्वयमेव कविना ।

सारसाधनसमुदयेनेति । शत्रुविजयसमर्थचतुरङ्गवलसन्नाहेनेति । अत्र जयनसज्ज-सैन्येनेत्यादिपदमनादृत्य सारसाधनसमुदयेनेति पदं निबध्नता नाटककविना सका-रस्यावृत्त्या चाणक्यपक्षविजये कश्चनानन्दसान्द्रो मनोलयस्सभ्यानां सूचितः ।

प्रतिपन्नमिति । वशीकृतम् ।

सिद्धार्थक—मित्र सुनो ! पहले तो भाग्य की अगम्य गतिविधि की भांति आर्य चाणक्य की अगम्य नीति को नमस्कार है ।

सुसिद्धार्थक—अच्छा, मित्र ! आगे कहो !

सिद्धार्थक—उसके बाद, प्रबल सैन्य और साधन के साथ, आर्यचाणक्य पाटलिपुत्र से चल पड़े और समस्त शत्रुदल को, जिसके सेनापति राजगण का कहीं पता न था, अपने वश में कर लिया ।

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! कहिं ? (वयस्य ! कुत्र ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! जहिं एदे—(वयस्य ! यत्रैते)—

अदिस अगुरुपणं दाणदप्पेण दन्ती

सजलजलदलीलां उब्बहन्तो णदन्ति ।

कलपहरभणं जादकम्पा तुरन्तो

गद्दिदजअणसज्जा संपदन्ते तुलंगा ॥ ३ ॥

(अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण दन्तिनः

सजलजलदलीलामुद्रहन्तो नदन्ति ।

कशाप्रहारभयेन जातकम्पास्त्वरयन्तो

गृहीतजयनसज्जाः सम्पद्यन्ते तुरङ्गाः ॥ ३ ॥)

सैन्यसज्जां वर्णयन् सिद्धार्थको विना युद्धं प्रतिहतप्रतिपक्षां चाणक्यनीतिं पुनरपि प्रस्तौति—अतिशयेति । यत्रातिशयगुरुकेण शृशं प्रवृद्धेन दानदर्पेण दानं मदजलं तज्जितेन दर्पेणोद्दामेन दीर्याभिमानेनोपलक्षिता इति शेषः, दन्तिनो दन्तवन्तस्सैन्यगजास्सजलजलदलीलां सजलाः जलभरिताः ये जलदाः मेघास्तेषां लीलामिव लीलां विलासरसमुद्रहन्तो धारयन्तो नदन्ति गर्जाभिर्विजयप्रहर्षमन्तरमान्तमुद्धोषयन्ति । अथ च गृहीतजयनसज्जाः गृहीताः विजयाशंसया स्वयमेव परिधृता जयनसज्जाः समरसज्जाहाः यैस्ते तथाभूतास्तुरङ्गास्सबलवेगा अश्वाः कशाप्रहारभयेन कशानां ताडिनीनां प्रहारा आघातास्तेभ्यो भयं तेन हेतुना जातकम्पाः प्रत्यङ्गं त्वरमाणाः किञ्च त्वरयन्त आरोहसैनिकानपि त्वरावतो विदधानाः सम्पद्यन्ते सन्नद्धास्सन्तीति भावस्तत्र रणाङ्गणे इति शेषः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—रणाङ्गण इति वक्तव्ये काचनोदात्तवर्णना युद्धक्षेत्रस्य कृता कविना । कुत इति चेत् ? नात्र युद्धवीरता विवक्षिता, विवक्षास्पदं तु नीतिवीरत्वमेव । नाट-

सुसिद्धार्थक—मित्र ! कहाँ ?

सिद्धार्थक—अरे मित्र ! वहाँ—जहाँ पर—

‘(हस्ति-सेना के) बड़े-बड़े हाथी अपने मदजल की वाढ़ से सजल मेघों की भाँति लोला में लगे गर्जन-तर्जन करते सुनाई पड़ रहे हैं और (अश्व-सैन्य के) युद्धभूषा में सज्जे-धजे घोड़े (अपने आरोहियों के) कोड़ों की चोट के डर से चपल-चञ्चल दिखाई पड़ रहे हैं ’ ॥ ३ ॥

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! एदं सव्वं दावं चिट्ठदु, तहा सव्वत्तो-
अप्पच्चक्खं उज्झिआहिआरो भविअ कहं अज्जचाणक्को पुणो बि तं ज्जेव
मन्तिपदं आरूढो ? (वयस्य ! एतत् सर्वं तावत् तिष्ठतु । तथा सर्वलोक-
प्रत्यक्षमुज्झिताधिकारो भूत्वा कथमार्यचाणक्यः पुनरपि तदेव मन्त्रि-
पदमारूढः ?)

सिद्धार्थकः—बअस्स ! अदिमुद्धो दाणीं सि तुमं, जो अमच्चरक्खसेण
अणवगाहिदुप्पवं अज्जचाणक्कबुद्धिं अवगाहिदुं इच्छसि ? (वयस्य !
अतिमुग्ध इदानीमसि त्वं, योऽमात्यराक्षसेनानवगृहीतपूर्वमार्यचाणक्य-
बुद्धिमवगाहितुमिच्छसि ।)

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! अध अमच्चरक्खसो दाणीं कहिं ?
(वयस्य ! अथाऽमात्यराक्षस इदानीं कुत्र ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! सो क्खु तस्सि प्पलअकोलाहले वड्ढमाणे
मलअकेदुक्कडआदो णिक्कमिअ उन्दुरणामहेएण अणुसरन्तो इमं ज्जेव
कुसुमउरं आगदो ति अज्जचाणक्कस्स णिवेदिदं (वयस्य ! स खलु
तस्मिन् प्रलयकोलाहले वर्द्धमाने मलयकेतुकटकात् निष्क्रान्तुन्दुरनाम-
धेयेन चरेणानुस्त्रियमाण इदमेव कुसुमपुरमागत इत्यार्यचाणक्यस्य
निवेदितम् ।)

सुसिद्धार्थकः—मित्र ! यह सब रहने दो । यह बताओ कि जब कि आर्य चाणक्य ने
सब के सामने अपने पद का परित्याग कर दिया तब क्यों कर फिर उसी मन्त्रिपद-पर
आरूढ़ हो गये ?

सिद्धार्थकः—अरे भाई ! अभी तुम बिलकुल भोले-भाले हो, तभी आर्य चाणक्य की
उस नीति का पार पाने चले हो, जिसे, अभी तक अमात्य राक्षस भी न पा सके !

सुसिद्धार्थकः—मित्र ! तो, अब अमात्यराक्षस कहाँ है ?

सिद्धार्थकः—मित्र ! जब कि चारों ओर प्रलय का-सा कोलाहल मचने लगा, तब,
अमात्य राक्षस मलयकेतु के सैन्य-शिविर से बाहर निकल कर इसी पाटलिपुत्र में आ गये
जहाँ उन्दुर नाम का गुप्तचर उनके पीछे लगा है—यह सब बात आर्य चाणक्य को
बतायी जा चुकी है ।

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! तहा णाम अमच्चरक्खसो णन्दरज्जपच्चणअणे किदच्चअसाओ णिक्कमिअ सम्पदं अकिदत्तो पुणो वि कहं इमं जेव कुमुमउरं आअदो ? (वयस्य ! तथा नाम अमात्यराक्षसो नन्दराज्यप्रत्यानयने कृतव्यवसायो निष्क्रम्य साम्प्रतमकृतार्थः पुनरपि कथमिदमेव कुसुमपुरमागतः ?) ।

सिद्धार्थकः—वअस्स ! तक्केमि 'चन्दनदासस्स सिणेहेण' ति (वयस्य ! तर्क्यामि—'चन्दनदासस्य स्नेहेने' ति ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! सच्चं चन्दणदासस्स सिणेहेण ति ? अध चन्दणदासस्स मोक्खं प्पेक्खसि ! (वयस्य ! सत्यं चन्दनदासस्य स्नेहेनेति ? अथ चन्दनदासस्य मोक्षं प्रेक्षसे ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! कुदो से अधणस्स मोक्खो ? सो क्खु सम्पदं अज्जचाणक्कस्स आणतीए दुवेहिं पि अम्हेहिं वज्जट्ठाणं प्पवेसिअ बावादइदव्वो (वयस्य ! कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षः ? स खलु साम्प्रतमार्थ-चाणक्यस्याऽऽज्ञपया द्वाभ्यामप्यावाभ्यां वध्यस्थानं प्रवेश्य व्यापादयितव्यः ।)

केऽत्र चाणक्यनीतिरेव शत्रून् पराजयते मौर्यसैन्यं तु साम्राज्योपकाराय अत एव न साधकतमत्वेन गजाश्वसंकुलस्य मौर्यबलस्य वर्णनमपि तु योधनाधिकरणभूतायाः रणभूमेरुपलक्षकत्वेनेति महर्षेः पुण्यमाविष्कृतं राजनयोत्साहमङ्गिरसभावरूपेण निबध्नता नाटककविनेति सर्वं समञ्जसम् ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! जो अमात्य राक्षस नन्द-राज्य की पुनः प्रतिष्ठा में इतना प्रयत्नशील रहा, वह, अब निष्फल-प्रयत्न हो जाने पर, इसी पाटलिपुत्र में क्यों कर लौट आया ?

सिद्धार्थक—मित्र ! मुझे ऐसा लगता है कि चन्दनदास के स्नेह से (ऐसा किया है) ।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! तो क्या सचमुच चन्दनदास के ही स्नेह से ? तो क्या चन्दनदास का छुटकारा हो सकता है ?

सिद्धार्थक—मित्र ! उस अभागो का छुटकारा कहाँ ? उसे तो, अब हम दोनों को आर्य जगत् की आंखों से बचाने के लिए और आगे बढ़ना है ।

सुसिद्धार्थकः—(सक्रोधम्) वअस्स ! किं अज्जचाणक्कस्स घादअजणो अण्णो णत्थि, जेण अह्मे ईदिसे णिसंसे कम्मे णिजुज्जीअदि ? (वयस्य ! किमार्यचाणक्यस्य घातकजनोऽन्यो नास्ति, येनावामीदृशे नृशंसे कर्मणि नियुज्यावहे ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! को जीवलोए जीवितुकामो अज्जचाणक्कस्स आणत्ति पडिऊत्तेदि ? ता एहि, चण्डालवेषधारिणो भविअ चन्दणदासं वज्झट्ठाणं णेह (वयस्य ! को जीवलोके जीवितुकामः आर्यचाणक्यस्याज्ञातिं प्रतिकूलयति ? तदेहि, चाण्डालवेषधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः ।) (इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः ।)

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः)

पुरुषः—

छग्गुणसंजो अदिड् उवाअपरिवाडिदपासमुहो ।

चाणक्कणीदिरज्जू रिउसंजमणउज्जुआ जअदि ॥ ४ ॥

वशीकृतेऽप्यशेषराजवले राक्षसवशीकारमन्तराऽस्थैर्य शौर्यराज्यश्रियः मन्वान-
स्यार्यचाणक्यस्य राक्षसं वशीकर्तुमप्यस्ति कश्चनानतिक्रमणीयो वीर्योद्दामः कूट-
नय इति मनसि प्रहृष्यन् चाणक्यनयमनुवर्त्तमानस्तच्चरो वक्ति—षड्गुणसंयोगदृढे-
त्यादि । चाणक्यस्य नीतिः कूटनीतिरेव रज्जुर्जयति केनाप्यप्रधृष्येणोत्कर्षेण विराजते

सुसिद्धार्थक—(क्रोध के साथ) क्यों मित्र ! क्या आर्य चाणक्य को कोई और हत्यारा नहीं मिलता कि हम दोनों को ही इस क्रूर-कर्म में लगा रहे हैं ?

सिद्धार्थक—मित्र ! इस संसार में जीवित रहने का इच्छुक कौन है जो आर्य चाणक्य की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करे । तो, चलो, चाण्डालवेषधारी होकर, चन्दनदास को वध्यस्थान पर ले चलें ।

(प्रवेशक का अन्त)

(हाथ में रस्ती लिए पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—बलिहारी है चाणक्य की राजनीति की जो कि सन्धि-विग्रहादि षाड्गुण्य के संयोग से सुदृढ़ और साम-दामादि उपपद्यन्तुष्य से सर्वथा संश्लिष्ट उस रस्ती के

(षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।
चाणक्यनीतिरञ्जू रिपुसंयमनञ्जुका जयति ॥ ४ ॥)

(परिक्रम्यावलोक्य च) एसो सो अञ्जचाणकस्स उन्दुरएण चरेण कधिदो प्पदेसो, जहिं मए अञ्जचाणाक्काणत्तीए अमच्चरक्खसो त्पेक्खिदन्वो । कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव इमेहिं जिण्णुज्जाणपादवेहिं अवबारिदसरीरो प्पेक्खामि, कहिं आसणपरिगहं करेदि (इति परिक्रम्य तथा स्थितः) (एष स आर्यचाणक्यस्योन्दुरकेण चरेण कथितः प्रदेशः, यत्र मयाऽऽर्य-चाणक्याज्ञाप्त्याऽमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः । (विलोक्य) कथमेष खल्व-

कथमिति चेत् ? सा हि खलु षड्गुणसंयोगदृढा पट् च ते 'सन्धिर्ना विग्रहो यान-मासनं द्वैधमाश्रयः' (अमरकोषे) इति सन्ध्यादयो गुणास्तेषामुपकार्योपकारकतया संग्रथनमिवाऽवस्थापनं तेन दृढा त्रोटनासमर्थेवाऽशक्यविनिपाता, अथ चोपायपरि-पाटीघटितपाशमुखी-उपायानां प्रथनाध्यवसायानामिव सामदामदण्डभेदानां चतु-र्णां राज्ययोगक्षेमङ्कराणामुपायानां या परिपाटी भूयोऽनुशीलनपरम्परा तथा घटितं पाशमुखमिव मुखं प्रतिद्वन्द्विदृष्टं सामुख्यं यस्यास्तथाविधास्त एव हन्त ! रिपुसंयमनञ्जुका रिपोरेकशत्रोः परमप्रतिस्पर्द्धिनः राष्ट्रस्य संयमने सर्वतो बन्ध्यग्रयनताऽऽपादनरूपे बन्धने ञ्जुका विना प्रयासं समर्थेति ॥ ४ ॥

टिप्पणी—नाटककविरयं चाणक्यनीतं रञ्जूपमानेन बहुशो वर्णयन् बहुविधाः भावभङ्गीः प्रस्फोटयन् दृश्यते । पूर्वमपि यथा प्रथमाङ्कावसाने सेनाशतेभ्योऽप्यधि-कसमर्था चाणक्यबुद्धिमुपमित्समानेन कविना 'बुद्ध्या विगृह्य वृषलस्य कृते क्रिया-यामारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमी' त्यादौ रञ्जुरेव कथाचन भङ्ग्या स्मर्यते । अत्रापि तादृश्येव सरणिः । कोऽर्थो ननु सिषाधयिषितः कवेः ?

समान अपने शत्रुओं के बन्धन और वशीकरण में समर्थ है जो ६ गुनी बटी होने के कारण दूटना नहीं जानती और जिसका फन्दा अनेकों उपायों से बना होता है' ॥ ४ ॥

(इधर-उधर घूमते हुये, देख कर)

अरे ! गुप्तचर उन्दुरक कै द्वारा आर्य चाणक्य को बताया गया यही वह स्थान है जहां मुझे आर्य चाणक्य की आज्ञा से अमात्य राक्षस को देखना है ! (देखते हुये) तो

मात्यराक्षसः कृतशीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति, तद्यावदेभिर्जीर्णो-
द्यानपादपैरपवारितशरीरः प्रेक्षे, कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति ?)

राक्षसः—(सबाष्पम्) कष्टं ! भोः कष्टम् !!

उत्सन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरं श्रीगता
तामेवानुगता गतानुगतिकास्त्यक्तानुरागाः प्रजाः ।

किं 'चाणक्यस्स्वनीतेरपि तथैवागम्यमहिमा यथा कश्चन रज्जुनिर्माणनिपुणः
स्वकृतरज्जुकौशलदप्यपरिच्छिन्नकौशलः' उत 'चाणक्यात् कुटिलनीतेस्तथैव
विभेति राक्षसो यथा रज्जुहस्तात् पुरुषात् कश्चन गवादिस्थवा कूटनीतिविशारदस्य
चाणक्यस्य पुरतोऽमात्यराक्षसो गज इव स्थूलबुद्धिः कायसारस्सम्पनीपद्यते,
अन्यद्वा किमपि । सर्वमिदं यावच्चिन्त्यमानं वेति ब्रूमः । अतिदक्षिणोऽयं नाटक-
कविः महता संयमेन वाचि रमते, वागेव च वश्या तमनुवर्तते ।

उत्सन्नेति । मलयकेतुना चाणक्यनयविमूढेन निराकृतः नैराश्याविष्टमानसः
राक्षसः यद्भूतं यच्च भावि तत्सर्वमेकपद एव स्वनीतिनैष्कल्यं निध्यायन् प्रथमं
राजलक्ष्मीमेव कुत्सयते—श्रीराजलक्ष्मीः कुलटेव कुलात्कुलमटतीति बन्धकी
पुंश्चलीवोत्सन्नाश्रयकातरा उत्सन्नो नष्टः आश्रयोऽवलम्बो नन्दः पतिरिव यस्यास्सा
चाऽसौ कातरा किंकर्तव्यविमूढा चेति तथाभूता सती गोत्रान्तरं नन्दभिन्नराज-
वंशम् अन्यद्गोत्रमिव कुलीनमकुलीनं वा मौर्यं गता प्रसूता । अथ च त्यक्तानु-
रागास्त्यक्तोऽनुरागः पितृवंशस्नेह इव नन्दराजभक्तिर्याभिस्ताः प्रजाः अपत्योपमाः
प्रकृतयो गतानुगतिकाः गतायाः कुलटायाः लक्ष्म्या अनुगतिरनुसृतिर्यासां तथा
सत्योऽविचारिण्य इति भावः, तामेव लक्ष्मीमनुगता अनुसृताः । अन्यच्चाप्तैरपि

क्या यही अमात्यराक्षस है जो अपना सिर ढके हुये, इधर ही चला आ रहा है ! तो, तब
तक इस जीर्णोद्यान के पेड़ों की झुरमुट से छिपकर देखूँ कि यह कहाँ बैठता है ।

(इधर-उधर घूम-वाम कर पेड़ों की झुरमुट में खड़ा हो जाता है)

(हाथ में शस्त्र लिये, सिर ढके, राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—(आँखों में आँसू भरे) कितने दुःख की बात है । राजलक्ष्मी अपने एक
मात्र अवलम्ब महाराज नन्द-के विनष्ट हो जाने से विह्वल बनी एक पुंश्चली की भाँति
एक नीच कुल (मौर्यवंश) में जाकर बस गयी है और उसकी सन्तान की भाँति उसकी
प्रजायें भी, पिछले-मौर्य-वंश की कुल-माँ की भाँति न कर उसी के पीछे, बिना कुछ सोचे-समझे,

आप्तैरप्यनवाप्तपौरुषफलैः कार्यस्य धूरुज्जिता
किं कुर्वन्त्यथवोत्तमाङ्गरहितैर्नागैरिव स्थीयते ॥ ५ ॥

अपि च—

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता च्छिद्रेण श्रीवृषलमविनीतेव वृषली ।
स्थिरीभूता चास्मिन् किमिह करवाम स्थिरमपि
प्रयत्नं नो येषां विफल्यति दैवं द्विषदिव ॥ ६ ॥

विश्वासपात्रैरपि सम्बन्धिभिरिव प्रधानराजपुरुरैस्माभिरिवेति भावः, अनवाप्त-
पौरुषफलैरनवाप्तमप्राप्तं पौरुषस्य कुलटाया उद्धारस्येव राजलक्ष्म्यास्समुद्धारस्य फलं
यैस्तथाभूतैस्सन्निः कार्यस्य धूरुज्जिता पौनःपुन्येन प्रयत्यमानस्य कर्त्तव्यस्य भारः
परित्यक्तः । अथवा किमन्यद् बहु विलप्य को लाभः । सत्यन्तिवदं यदासा अपि किं
कुर्वन्तु, कार्यविमूढैस्तैरपि वस्तुत उत्तमाङ्गरहितैरिच्छन्नशिरस्कैर्नागैः गजैस्सर्पैरिव
वा स्थीयते भूयत इति भावः ।

छिन्नमस्तकानां गजानामहीनां वा यथाकथञ्चिदपि वर्त्तनं वन्ध्यमेव, तथै-
वास्माकं विनष्टनन्दराजानां किमपि कृत्यं निष्फलमेवेति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

पतिमिति । नैराश्यावेगेन निरुध्यमानेनाऽपि प्रसर्पता निर्मथ्यमानमना राक्षसो
दैवं द्वेष्टि—श्री राजलक्ष्मीः अविनीता पातिव्रत्यभ्रष्टास्त एव वृषली घटदासी शूद्राव
देवं द्योतमानं भुवनपतिं सम्राजमुच्चैरभिजनं प्रसिद्धराजवंशं पतिं नन्दं छिद्रेण
महता च्छलेन त्यक्त्वा विहाय, वृषलं चन्द्रगुप्तं शूद्रमिव कञ्चन गता समाश्रिताऽथ
चास्मिन् नीचैरभिजने मौर्ये स्थिरीभूता सर्वं चापल्यं विहाय तद्वशवर्तिनी
संजातेति भावः । इहास्मिन् प्रयतितेऽप्यप्रतीकार्ये विषये किं करवाम वयमिति

निकल पड़ी है ! जो भी कुछ विश्वसनीय लोग बचे-खुचे थे, वे भी अपने आपको (मर्यादा-
रक्षा में) निष्फल-प्रयत्न देखकर हाथ पर हाथ रखे बैठ चुके हैं ! अथवा, करते भी तो
क्या करते ! वे तो सिर कटे हाथी अथवा सांप की भाँति निष्क्रिय हो चुके हैं ॥ ५ ॥

और भी—

राजलक्ष्मी, महाकुलीन महाराजाधिराज नन्द को छोड़ कर, एक दुश्चरित्र वृषली
की भाँति, छल-बल से, वृषल (चन्द्रगुप्त) के पास चली गयी है और उसके साथ स्थिर
रूप से बैठ चुकी है । हम क्या करें ! हमारा वैरी बना हमारा भाग्य, हमारे सुदृढ
प्रयत्नों की भी विफल कर दे रहा है ॥ ६ ॥

मया हि—

देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये

शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः ।

तस्मिन् हते तनयमस्य, तथाप्यसिद्धि-

दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ॥ ७ ॥

अहो ! विवेकशून्यता म्लेच्छस्य मलयकेतोः ?—

शेषः । न किमपि कर्तुं शक्नुम इति भावः । के वयमिति ? हन्त ! येषां नोऽस्माकं स्थिरमपि सुतरां दृढमपि प्रयत्नं क्रियमाणमुद्योगजातं द्विपदिव द्वेपं विदधदिव दैवं दुर्भाग्यं विफल्यति निष्फलमापादयदेव सततं वर्तते ॥ ६ ॥

देवे गते इति । सर्वतो निष्फलप्रयत्नोऽपि राक्षसश्चाणवयं तृणायैव मनुते—अत-
द्विधमृत्युयोग्ये तद्विधस्तादृशः पामरजनसुलभो यः मृत्युस्तस्य योग्यो न भवति
तस्मिन् महावीरवद् महापुरुषवद् वा मर्तुं योग्येऽपि किंपुरुषवत् तृणवद्वा मृते
तस्मिन् देवे महाराजे नन्दे दिवं गते स्वर्गाभिमुखं प्रस्थिते मया हि खलु तं महा-
बलं शैलेश्वरं पर्वतेश्वरमधिकृत्य समाश्रित्य प्रयत्नश्शत्रुपराभवरूपो नन्दराज्यपुन-
रुद्धरणरूपो वा कृतो यथाशक्ति संपादित एव । अथ च तस्मिन् पर्वतेश्वरेऽपि हते
चाणक्यप्रयुक्ताद्विषकन्यासप्रयोगरूपाद्विनाशमुपगते सत्यस्य तनयं कुमारमलय-
केतुमधिकृत्य महानुद्योगः कृत इति शेषः । तथापि भूयो भूयः महत्याशंसया
महता चाशासंरम्भेण कृतेऽपि यथासामर्थ्यं तत्तदायोगेऽसिद्धिरसफलतैव केवलं
फलतीत्यभिप्रायः । किं क्रियताम् ? देवं हि वस्तुतो नन्दकुलशत्रुर्नन्दपक्षप्रतिपक्षः,
असौ मत्साम्मुख्ये तृणवद् गणनीयो विप्रश्चाणक्याभिधानो ब्राह्मणो न कथमपि नन्द-
कुलं द्वेष्टुं प्रभवेदिति भावः ॥ ७ ॥

मैंने तो (सब कुछ किया !)

उस प्रकार की अनुचित मृत्यु के सर्वथा अयोग्य महाराज नन्द के स्वर्ग चले जाने पर, उस पर्वतेश्वर का सहारा लेकर प्रयत्न किया । उसके भी मर जाने पर, उसके पुत्र (मलयकेतु) का सहारा लेकर उद्योग किया । किन्तु, तब भी सफलता नहीं मिली । वस्तुतः भाग्य नन्दवंश का शत्रु है, वह विप्र (चाणक्य) नहीं ॥ ७ ॥

(ओह ! म्लेच्छ मलयकेतु की विवेकशून्यता की कैसी) Digitized by eGangotri

यो नष्टानपि जीवनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन-
स्तेषां वैरिभिरक्षतः कथमसौ सन्धास्यते राक्षसः ?
इत्थं वस्तुविवेकमूढमतिना म्लेच्छेन नालोचितं
दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यति ॥ ८ ॥

यो नष्टानिति—मलयकेतुकर्तृकं स्वनिकारं मनसि विमृशन् पुनरपि दुर्दैवमेव
दुरालोचयन्नाह राक्षसः—वस्तुविवेकमूढमतिना वस्तुनः यथावस्थितस्व तत्तद्विष-
यस्य यो विवेको विमर्शस्तत्र मूढा मोहमुपगता मतिर्विद्विष्यस्य तेन म्लेच्छेन
मलयकेतुना इत्थमेवंप्रकारं नालोचितं न समीक्षितं यद् यः राक्षसो जीवनाशं नष्टा-
नपि समूलघातं घातितानपि स्वामिनो नन्दनृपतीन् अधुनाऽपि शुश्रूषते न केवलं
सेवते किन्तु सेवितुमिच्छति प्रयतते च, सोऽसौ राक्षसोऽक्षतस्वस्थगात्रः आप्रा-
णान्तमिति भावः, तेषामेव नन्दमहाराजानां वैरिभिरशशुभिः कथं किमुद्दिश्य, कं
स्वार्थमभिसन्धाय सन्धास्यते सन्धिं करिष्यति ? अथवा कथं विमृशतु स वराक
इति भावः, दैवेन दुर्भाग्येणोपहतस्य विनाशितस्य, महतोऽपि, का कथा क्षुद्रस्येति
शेषः, बुद्धिर्विवेकिता पूर्वमेवाऽसमीक्ष्यकारितायाः प्रागेव विपर्यस्यति विपर्यासमु-
पगच्छतीत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—‘उत्पन्नाश्रयकातरे’त्याद्यारभ्य ‘बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यती’त्यन्तो
यस्सन्दर्भस्तत्र राक्षसचित्रं चाणक्यचरितप्रतिपक्षभूतं शृशमुन्मीलयति नाटककवि-
रयम् । राक्षसः राज्यश्रियं कामयतेऽत एवाप्रणयिण्यां तस्यां नैराश्यमुपगच्छति ।
न चाणक्यरस्वार्थसिद्धये तां प्रार्थयते, निरीहो हि सः, निरीहाणां लक्ष्मीस्तृणमिव
तिरस्कारविषया । राक्षसो दैवे विश्वसिति, प्रतिकूले च तस्मिन् खिद्यति । न
चाणक्यस्तादृशः, पौरुषं प्रमाणयन् स खलु दैवमपि योद्धुं समुत्सहते राक्षसो नष्ट-
तेजस्को निराशामालिङ्गति । चाणक्यस्तु का निराशा किंरूपा चेत्पि न जानीते ।
राक्षसस्वपक्षस्थानां साहाय्यं-स्वसाफल्ये प्रमाणयति; चाणक्यस्तु केवलमेकां स्व-
बुद्धिमेवाघटितघटनापटीयसीं सर्वत्र प्रमाणयति । द्वे चित्रे चित्रिते कविना । एकं
प्रत्यक्षीकुर्वतामत्र सामाजिकानामपरं तदन्तरा सुतरामभिग्यज्यत इति सर्वं
समञ्जसम् ।

जो राक्षस अपने महाराज के सर्वथा समूल नष्ट हो जाने पर भी अभी भी उनकी
सेवा करता आ रहा है, वही शरीर में प्राण रहते क्योंकर, उन्हीं के शत्रुओं के साथ
संधि कर सकता है ! वस्तु-विवेक में मूढ़ बुद्धि उस म्लेच्छ (मलयकेतु) ने यह सब कुछ
नहीं सोचा । अथवा, दुर्भाग्य से मार गये व्यक्ति को बुद्धि पहले ही नष्ट हो जाती है ॥८॥

तददानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येद्राक्षसो न तु चन्द्रगुप्तेन सह सन्धिं कुर्यादिति अथवा मम काममसत्यसन्ध इति वरमयशः, न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः । (समन्तादवलोक्य साक्षम्) एतास्ता देवस्य पादक्रमणपरिचयपवित्रीकृतस्थाः कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः । इह हि—

शार्ङ्गज्याकृष्टमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेणात्र देशे
देवेनाकारि चित्रं प्रजविततुरगं बाणमोक्षश्चलेषु ।

अथवा मम काममसत्यसन्ध इति वरमयशः । न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः—राक्षसोऽपूर्णप्रतिज्ञ इति जना यन्मन्त्रयिष्यन्ते न तत्र मम कापि हानिः । किन्तु राक्षसश्चाणव्यकृताभिः प्रतारणाभिस्तथा प्रतारितो यथाऽऽस्मैव समर्प्यते तेनेति यदयशस्तत्तु परमसह्यम् ।

देवस्येयादि—सम्राजो नन्दस्य पादक्रमणानि चरणसञ्चरणानि तेषां यः परिचयो भूयोऽनुभूतस्नेहसंस्तवस्तेन पवित्रीकृताः धन्यम्मन्याः रथ्याः राजप्रतोल्यो यासां तथाभूता इति भावः ।

शार्ङ्गंति—बहोः कालात्पाटलिपुत्रे प्रविष्टोऽमात्यराक्षसो भावसञ्चितान् तांस्तान् विपयान्मुहुर्मुहुः पश्यन् नन्दमहाराजे स्मृतिपथमायाते दुख्यन्नाह—अहो ! पाटलिपुत्रोपकण्ठभूमय एताः यतो ह्यत्र देशेऽयं स भूभागो यत्र देवेन महाराजेन नन्देन शार्ङ्गज्याकृष्टमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेण शार्ङ्गस्य धनुषो या ज्या प्रत्यञ्चा तस्याः या आकृष्टिर्वाणमोक्षाय बलादाकर्षणं तत्र मुक्तोऽत एव प्रशिथिलः कविकाप्रग्रहोऽश्वरशनाकर्पो यस्य तेन तथाभूतेन सता चलेषु द्रुतगतिष्वपि लचयेषु शरव्येषु प्रज-

और, राक्षस, यदि अभी भी शत्रुओं के हाथ में पड़ जाय, तो अपना प्राण दे देगा न कि चन्द्रगुप्त के साथ जा मिलेगा ? अथवा मेरे लिये यह अपयश, कि राक्षस सत्यसन्ध नहीं निकला (क्योंकि प्रतिज्ञा कर के भी मलयकेतु को चन्द्रगुप्त का राज्य नहीं दे सका) उस अपयश से कि 'राक्षस' शत्रु की भेदनीति में परास्त हो गया कहीं अच्छा है !

(चारों ओर देखते हुये—आँखों में आँसू भरे) ओह ! पाटलिपुत्र के ये ही वे प्रान्त-भाग हैं जिनके मार्ग कभी, महाराज नन्द के चरण-संचरण से अनेकों बार पवित्र किये जा चुके हैं ! यही वह भूमि है जहाँ पर ।

'कभी महाराज नन्द ने धनुष की प्रत्यञ्चा के खींचने में हाथ के व्यस्त होने से बागडोर की पकड़ के ढीले पड़ जाने पर बहुत वेग से दौड़ते घोड़े पर से ही, भागते हुये वज्र-धनु आदि लक्ष्यों पर बड़ी विचित्रता के साथ, दाँव चलाया था । और जहाँ की

अस्यामुद्यानराजौ स्थितमिह कथितं राजभिस्तैर्विनेत्यं
सम्प्रत्यालोक्ष्यमानाः कुटुम्बपुरभुवो भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

तत् क खलु गच्छामि मन्दभाग्यः ? (विलोक्य) भवतु दृष्टमेतज्जी-
र्णोद्यानम्, अत्र प्रविश्य कुतश्चिच्चन्दनदासस्य वृत्तान्तमुपलप्स्ये (परिक्लृप्त्य
स्वगतम्) अहो ! अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभाग-
परिणतयो भवन्ति । कुतः ?—

वितो द्रुतगतिगामी तुरगोऽश्वो यस्मिन् कर्मण्यथ च चित्रं महदाश्चर्यकारि यथा
स्यात्तथा बाणमोक्षशरप्रहारोऽकारि कृत इति भावः । इयं सा उद्यानराजिः प्रत्य-
न्तोपवनपङ्क्तिर्यत्र देवेन स्थितं मृगयाश्रमापनोदाय विश्रान्तम् । अयं स देशो यत्र
देवेन राजभिरनुयायिराजलोकैः कथितं किमपि किमप्यालपितम् । हन्त, तैर्विना
पूर्वानुभूता य इमे विषयाः कामपि प्रीतिमुत्पादितवन्तस्तानन्तरा सम्प्रति सर्वविष-
यं संघटमाने इत्थमालोक्ष्यमानाः शून्यशून्यत्वेन परिदृश्यमानास्ता इमाः कुसुम-
पुरभुवः पाटलिपुत्रप्रत्यन्तभागाः भूयसा भृशं दुःखयन्ति खेदयन्तीत्यभिप्रायः ॥९॥

टिप्पणी—अत्र हि राक्षसहृदि निमग्नोन्मग्नास्ते तेऽसूयानिर्वेदादिभावाः कविना
सुनिपुणं वर्ण्यमानास्सामाजिकहृदि कामपि प्रीतिमुत्पादयन्तो विभाव्यन्ते । शार्ङ्ग-
ज्येत्यादौ समासभूयस्त्वेन या गौडी रीतिराश्रीयतेऽथ च यदोजःप्रकाशकवर्णवन्ति
पदानि संघटयन्ते तत्त्वतीव हृदयहारि, यतो हि गतेषु दिवसेषु यो वा वैभवोत्कर्ष-
स्तस्य प्रत्यक्षायमाणतामिव पश्यतो राक्षसस्य वाचोयुक्तिरियं कमपि भावसंरम्भ-
मेवाविश्विकीर्यति ।

अलक्षितोपनिपाता इत्यादि । पुरुषाणां न तेषां ये केवलं जायन्ते प्राणन्ति जीवन्ति
वाऽपि तु पौरुषाधिकरणानां मानवानां समविषमदशाविभागपरिणतयः समाश्च ताः

इस उद्यान पंक्ति में बैठे थे और जहां साथी राजगण के साथ वार्तालाप किया था ! अब
उनके बिना, हमारी आंखों के सामने पड़ने वाली, पाटलिपुत्र की ये प्रत्यन्त भूमियां
हृदय में हूक भर कर रह जाती हैं ॥ ९ ॥

अब मैं अमागा कहाँ जाऊँ ! (देखकर) अच्छा ! यह जीर्णोद्यान दिखायी दे रहा है ।
इसके भीतर चलकर, कहीं से चन्दन दास का हालचाल पता लगाऊँ । (घूमते-फिरते
हुये, स्वगत)

आश्चर्य है ! पुरुषों पर अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के पृथक्-पृथक् परिणाम,
बिना उनके कुछ जाने, पड़ा करती हैं ।

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनै-
र्यो राजेव पुरा पुराग्निरगमं राक्षं सहस्रैर्वृतः ।

भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव वन्ध्यश्रमो

जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद् विशामि द्रुतम् ॥ १० ॥

विपमाश्च समविपमा अनुकूलप्रतिकूला या दशा अवस्थास्तासां याः विभागपरिण-
तयः विभक्ततया पूर्वापरीभावतया संघटमानाः परिणामास्ते खलु अलक्षितोपनि-
पाताः न लक्षिताः नावधारिताः उपनिपाताः आगमाः इतीत्थंभूताः भवन्ति । अद्य
यदि कस्यचित् पुरुषस्य सुखदशा श्रोऽकस्मादेव दुःखी भवन् स दृश्यते । एवमेव ह्यो-
यदि विपमपतितोऽद्य सुखमेधते । जीवनमिदममृतकर्ममाणोदयास्तमयं किमपि
विचित्रमेव वस्त्विति भावः ।

पौरैरिति—जीर्णोद्यानं पश्यतस्तदिवात्मानञ्चानुपश्यतो गतगौरवस्य स्मृत-
पूर्वैश्वर्यस्य राक्षसस्योक्तिरियम्—योऽहं राक्षसः पुरा, नन्दराज्यं तन्त्रयति सति
मयीति शेषः, पौरैः पाटलिपुत्रीयैः प्रजाजनैरङ्गुलिभिः संकेतकारिणीभिर्नवेन्दुवत्
नवोदितचन्द्र इव निर्दिश्यमानः—‘अयमसौ महामात्य’ इति रूपेण संकेतविषयी-
कृतः शनैः प्रजाकृतसंवर्द्धनादीनां स्वीकारे मन्दीकृतपात्राडम्बरः राजेव महैश्वर्यमा-
हाभाग्यादिना सर्वतस्संयुष्टापदान इति शेषः । राज्ञामनुयायिनां पुरोयायिनामुभ-
यतो यायिनां वा नृपतीनां सहस्रैर्वृतः परितो वेष्टितस्सन् पुरादस्मादेव कुसुम-
पुराग्निरगमं गतागतमकरवम् । स एवैषोऽहं तत्रैव नगरे पूर्वानुभूतानां महैश्वर्याणां
साक्षिभूते पाटलिपुत्रे वन्ध्यश्रमः वन्ध्यः विफलीकृतो विफलीभूतो वा नन्दराज्य-
प्रतिष्ठापनरूपः प्रयत्नो यस्यैवंभूतस्सन् सम्प्रति कालेऽस्मिन् विपमदशासंकुले भूयः
पुनरपि तस्कर इव चौरवद् जीर्णोद्यानकम् अनुकम्पाविषयीभूतमिदं परिदृश्यमानं
पुराणोपवनं त्रासात् कश्चन पश्येदिति भयाद् द्रुतं झटिति धावमानो विशामि-
प्रविशामीति ॥ १० ॥

टिप्पणी—परस्वापहारकेण तस्करेणाऽमात्यराक्षसं पूर्वानुभूतैश्वर्यं प्रसक्तानुप्र-
सक्त्योपमित्समानोऽयं कविरत्र रसभावौपयिकीं कामपि महतीमुपमासम्पत्तिं निद-
धाति यथा खलु वहवो हि कवयो विरहिताः सहितास्तु द्वित्रा उत पञ्चपाः केवलम् ।

‘जो मैं पहले कभी, नगर निवासियों द्वारा अंगुलियों से नवोदित चन्द्रमा के दिखाये जाने की भांति दिखाये जाते हुये, धीरे-धीरे, सहस्रों राजाओं से घिरा, इस पाटलिपुत्र से बाहर निकलता था, वही, मैं, अब, इसी पाटलिपुत्र में, विफल प्रयत्न होकर, चोर के समाप्त करते हुये, खली-बखली वस-जीर्णोद्यान में प्रवेश कर रहा हूँ ॥ १० ॥

अथवा, येषां प्रसादादिदमासीत् ते एव न सन्ति (नाट्येन प्रविश्य विलोक्य च) अहो ! जीर्णोद्यानस्य नाभिरमणीयता । अत्र हि—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं

सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदः ।

फलैर्हीना वृक्षा विगुणविधियोगादिव नया-

स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीत्या ह्यविदुषः ॥ ११ ॥

विपर्यय इति । जीर्णोद्याने प्रविशन् राक्षसस्तदीयं भूतपूर्वं रामणीयकं नष्टप्रायं पश्यन् किमपि दुःखमनुभवन्नाह—अहो ! तदिदमुद्यानं यदीयं महारम्भरचनं महान्-
श्चासाचारम्भः महारम्भः महत्याऽऽशंसया महता वस्तुसंभारेण महता च वास्तुकर्म-
विधानेन यः निर्माणोद्योगस्तेनोपलब्धता रचना निर्मितिर्यस्यैवम्भूतं सौधं सुधा-
लिसं गृहं किंचन महारम्भरचनं कुलमिव वस्तुतः प्रथितापदानं कृतविपुलकृत्यं नन्द-
कुलमिव सम्प्रति विपर्यस्तं नष्टभ्रष्टमेव संजातम् । तदीयं सरः यद्धि पुरा साधो-
र्हृदयमिव निर्मलं सरसं सुरचिरञ्च तदपि सुहृदः मित्रस्य नाशेन विरहेण तस्यैव
साधोर्महात्मनः हृदयमिव शुष्कं नीरसमेव संभूतम् । वस्तुतस्तु पुरा सरसेन राक्षस-
हृदयेन स्पर्द्धमानं सर इदमद्यत्वे शुष्कं सत् सुहृद्विनाशविरसेन राक्षसहृदयेन विडम्ब्य-
मानमिव दृश्यत इति भावः । अन्यच्च वृक्षा अपि तथैव फलैर्हीनाः विरहिताः स्थू-
णायमानाः वर्तन्ते यथा विगुणविधियोगाद् विगुणः प्रतिकूलो यो विधिर्देवदुर्विपाक-
स्तस्य योगात् सम्बन्धात् नयाः अस्मत्प्रयुक्ताः नीतिविधयो निष्फलाः वर्तन्त
हन्त ! भूमिरुपवनस्थली अपि तथा खलु तृणैर्विरूढैः कुशकाशादिभिश्छन्ना सर्व-

अथवा, अब तो वे ही नहीं रहे जिनकी कृपा से यह सब कुछ था ! (प्रवेश करने का अभिनय करते-देखकर) अरे ! इस जीर्णोद्यान में रमणीयता कहाँ । यहाँ तो,

‘कभी पहले महान् वास्तु संभार से बना भवन, अब, महान् राजवंश (नन्दवंश) के समान नष्ट-भ्रष्ट हुआ पड़ा है; पहले का जलपूर्ण सरोवर, अब, उसी भाँति सूख चुका है जिस भाँति किसी सज्जन पुरुष का सरस हृदय (जैसे मुक्ष राक्षस का हृदय) मित्र-
नाश से सूख जाता है; पहले कभी फलों से लदे वृक्ष अब, उसी प्रकार, फलों के बिना निष्फल लग रहे हैं जिस प्रकार, भाग्य के विपरीत होने से किसी राजनीतिज्ञ के (जैसे कि मुक्ष राक्षस के) नीति-प्रयोग निष्फल लग रहे हैं और पहले की हरी-भरी यहाँ की भूमि अब उसी भाँति घास-फूस से ढक गयी है जिस भाँति किसी मूर्ख पुरुष (जैसे कि मलयकेतु) की बुद्धि दुर्नीति से ढक जाती है ॥ ११ ॥

अपि चात्र—

क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां

रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः ।

स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया

श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निवध्नन्ति फणिनः ॥१२॥

तस्संकुला यथा हि कस्यचनाविदुषोऽविवेकिनः मलयकेतोरिति तात्पर्यम्, मति-
बुद्धिः कुनीत्या दुर्नीत्या नितरामन्धकारिता स्यात् ॥ ११ ॥

टिप्पणी—राक्षसोऽयं जीर्णोद्याने स्थितः कामपि निर्विग्नतामनुभवति । मनो-
ल्लयोऽयं खिन्नस्य राक्षसस्यात्र तथा काष्ठाप्राप्तो यत्सर्वमेव जीर्णोद्यानायमानमेव
विभाव्यते । कविरयं जीर्णोद्यानवर्गने नाटकौपयिकीमुपमां निबध्नाति न काव्यौ-
पयिकीम् । अत्रैव सौरस्यं सहृदयानाम् । इयमेव च सरणिरलङ्कारयोजनायाः
सुकवीनामिति ।

क्षताङ्गानामिति । निर्वेदस्य परस्मिन् धामनि स्थितः राक्षसः स्वमेवैकमसहायं
न केनाप्याश्वास्यमानं च पश्यन्नाह—अये ! मयेव दारुणमाचर्यते दैवेन । न
कोऽपि तादृशो यः यन्मर्मव्रणं भिषज्यति । हन्त ! जीर्णारण्येऽत्र चेतनवदेव परदुःख-
दुःखितानि दृश्यन्तेऽचेतनकृपाणि तत्तद्वस्तुजातानि । तथा हि—तीक्ष्णैर्निशित-
निशितैरुदग्रैर्महता बलेनोत्तोलितैः परशुभिः कुठारादिभिः क्षताङ्गानां क्षतान्यङ्गानि
यासां तथाविधानां क्षितिरुहां शाखानामुपवनवृक्षसम्बन्धिनीनां शाखानां—या हि
खलु अविरतकपोतोपरुदितैः अविरतं यथा स्यात्तथा कपोतानां पारावतानां यान्यु-
परुदितानि रोदनानीव कूजितानि तैः कृत्वा तद्व्याजेन वा रुजा पीडोत्पीडनया
कूजन्ति विरुन्ति तासां शाखानां व्रणं क्षतं फणिनः फगावन्तो भीषणास्सर्पाः परि-
चितपरिक्लेशकृपया परिचितानां जातसंस्तवानां सहवासिनां यः परिक्लेशः 'कष्ट-
पातस्तत्र या कृपाऽनुकम्पा तथा हेतुभूतया सत्या श्वसन्तो निःश्वासं कुर्वन्तस्सन्तः
स्वनिर्मोकच्छेदैः स्वस्य ये निर्मोकच्छेदाः कञ्चुकखण्डास्तेव्रणवन्धपटैरिव सद्भिर्निव-
ध्नन्तीव विरोपणाय वेष्टयन्तीवेति ॥ १२ ॥

और भी यहाँ पर,

'तीक्ष्ण धार वाले बड़े-बड़े कुल्हाड़ों से काटे-पिटे गये पेड़ों की शाखाओं के जो, मानो,
कपोतों के निरन्तर निकलते करुण कूजन के व्याज से, कष्ट के कारण रो रही हैं, धाव
पर, परिचित को पीड़ा पर उमड़ती करुणा के वशोभूत हुये, ये सांप अपनी केंचुल के
डकड़ों से, आँकड़ों से, और, मानो, मरहम पट्टी कर रहे हैं ॥ १२ ॥

एते च तपस्विनः—

अन्तःशरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तः

कीटक्षतिस्त्रुतिभिरस्त्रमिवोद्धमन्तः ।

छायावियोगमसिना व्यसने निमग्ना

वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—कुठारच्छिन्नासु शाखासु यत्र तत्रावलम्बिनां सर्पनिर्मोकप्रणधानां दर्शनेन राक्षसस्य हृदि काऽपि रसमयी काव्यसंभावना स्फुरति जीर्णोऽस्मिन्नुपवने निवसन्ति तत्तज्जीवजातानि परस्परं दुःखं संवेदयन्ते । राक्षसोऽपि दुःखी तथाऽर्थयते च कञ्चन स्वदुःखं सह्यवेदनीकर्तुम् । सुहृत्संविभक्तं हि दुःखं सोढुमलं नान्यथेति भूयसीध्वनिभङ्गीराविष्करोति वाचोयुक्तिरियम् ।

अन्तःशरीरेति । निर्वेदसागरे निरुद्धारं पतितः राक्षसः भूयोऽपि स्वगतं चिन्तयते—अये जीर्णोद्यानेऽस्मिन् निःसंवेदनेष्वपि पादपेषु काचन समदुःखता परिस्फुरति । तथा हि—छायावियोगमलिनाः छायायाप्रियतमाया इव स्वकान्तेरनातपरूपायाः यो वियोगो विरहस्तेन मलिनाः दीनदीनतयोपलक्ष्यमाणाः वृक्षाः उपवनवर्तिनस्तरवोऽन्तःशरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तश्शरीरस्यान्तरित्यन्तःशरीरं यः परिशोषः जीर्णतया सेचनाद्यभावेन वा संजायमानं रसहानिरूपं शोषणं तदुपाश्रयन्तः प्राप्नुवन्तः छायाविरहेण प्रियाप्रणाशेनेव शुष्कान्तःशरीरधातव इति भावः, अथ च कीटक्षतिस्त्रुतिभिरस्त्रमिवोद्धिरन्तः कीटानां याः क्षतयस्ताभ्यो याः स्त्रुतयः रसविन्दुच्युतयस्ताभिः कृत्वाऽक्षमश्रुजलमुद्धमन्तः निकामं मुञ्चन्त इव स्थितास्सुतरां व्यसने दारुणे दुःखे निमग्नाः मृशं दूनदूनास्तथा प्रतीयन्ते यथा श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः स्युः प्रियां छायां चितामारूढामन्वारश्चवः वस्तुत आत्मघातायैव समुद्युक्तमानसा भवेयुरित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितमिति' वादिनां मतेन किमप्युक्तिवैचित्र्यं विजृम्भते यदुपोद्बलकमत्र संभावनमुत्प्रेक्षणं वा द्वितीयचतुर्थचरणयोः । अथ च

ये वेचारे. (पेड़-पौधे)—

'अपनी पत्रच्छाया की शोभा से सर्वथा विछुड़े, दीन-हीन, अपने शरीर के भीतर ही भीतर सूख कर काँटे बने, अपनी छालों में कीड़ों के किये छेदों से बहते द्रव के रूप में औँस बहाते, महाशोक में डूबते-उतराते, ये पेड़-पौधे, ऐसे हो रहे हैं जैसे श्मशान जाने की तैयारी कर चुके हों । ॥ १३ ॥

यावदस्मिन् विषमदशापरिणामसुलभे भग्नाप्रशिलातले मुहूर्त्तमुपवि-
शामि (उपविश्याकर्ण्य च) अये ! किमयमाकस्मिकः शङ्खपटहविमिश्रो
नान्दीनादः श्रूयते ? य एषः—

प्रकुर्वन् श्रोतॄणां श्रुतिपथमसारं गुरुतया
बहुत्वात् प्रसादैः सपदि परिपीतोऽञ्जित इव ।

‘रस एव काव्यजीवानुरि’तिवादिनामभिप्रायेण करुणरस आभासमानः आस्वाद-
विषयीभवति प्रेक्षकाणामिति यथा तथा वा विचार्यते, किमपि रामणीयकमत्र
अशयस्येव सहृदयहृदयानि ।

विषमदशापरिणामसुलभ इति । विषमा या दशा प्रतिकूला परिस्थितिस्तस्याः यः
परिणामः क्रमशो जनिस्थित्यादिरूपेण पराकाष्ठाप्राप्तिस्तत्र सति यदमृग्यमाणमेव
सुलभं सुग्रापं तस्मिन्निति, भग्नाप्रशिलातल इत्यत्रानुपगमः । सुखदुःखादिसाधारण-
शब्देषु प्रयोक्तव्येषु समविषमदशेत्यादिभङ्गीभणितिमुररीकुर्वाणोऽयं कविर्यद्वक्तुका-
मस्तत्त्विदं—यत् साधारणाः जनाः ‘सुखमनुभवामो दुःखं वाऽनुभवाम’ इत्यादि
प्रयुञ्जन्तां नाम पदानि, किन्तु राक्षसवदतिगभीराणां महतां मनस्विनां कृते सुखं
काचन समदशा जगद् धातोर्दुःखं च विषमदशा तस्य, यत् सत्त्वासत्त्वयोर्लोकातिगं
धाम प्रसार्यते सङ्कोच्यते वातैर्न तु पामरवन्तृत्यत सोरस्ताडं रुद्यते वेति ।

प्रकुर्वन्निति । निर्विग्नतां नाशयतेव शत्रुजयाघोषेण जागरितामर्षः राक्षसः
पटुपटहनिनादं शृण्वन्नाह—श्रूयते कोऽपि नान्दीनादशत्रुप्रहर्षसूचको ध्वनिर्योऽसौ
पटुपटहशङ्खध्वनिमहान् पटु यथा स्यात्तथा पटहानां रणवाद्यानां शङ्खानां च जय-
घोषकाणां ये ध्वनयो निनादास्तैर्महानतिप्रवृद्धस्सन् गुरुतया महारावभारतया
श्रोतॄणां शृण्वतां जीवानां श्रुतिपथं श्रोत्रमसारं दुर्वलं श्रवणभारवाहनाशक्तं प्रकुर्वन्
नितरां विदधानोऽथ च प्रसादैः कुसुमपुरवर्तिभिर्भवनैरचेतनैरपि नादमहासंख्ये
बलादाशीर्षं वृडितैर्वहुत्वान्नादपूरोत्पीडस्य दुर्धर्षत्वात् सपदि द्रुततरमेव परिपीतो-

जब तक, हमारी दुर्दशा की अन्तिम अवस्था में सुलभ, इस टूटे-फूटे शिलाखण्ड पर,
क्षण भर के लिये बैठ जाऊँ । (बैठकर, सुनते हुये) अरे ! यह अकस्मात् शङ्ख और
पटह के महानाद से भरा माङ्गलिकनाद क्यों कर सुनाई दे रहा है ?

यह तो,

‘महानाद होने के कारण सुनने वालों के कर्ण कुहरों को सुनने में अशक्त हुआ
वनात् दुःखान्नादस्य गुरुतया महारावभारतया श्रोतॄणां शृण्वतां जीवानां श्रुतिपथं श्रोत्रमसारं दुर्वलं श्रवणभारवाहनाशक्तं प्रकुर्वन्
नितरां विदधानोऽथ च प्रसादैः कुसुमपुरवर्तिभिर्भवनैरचेतनैरपि नादमहासंख्ये बलादाशीर्षं वृडितैर्वहुत्वान्नादपूरोत्पीडस्य दुर्धर्षत्वात् सपदि द्रुततरमेव परिपीतो-

असौ नान्दीनादः पटुपटहशङ्खध्वनिमहान्

दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं प्रसरति सकौतूहल इव ॥ १४ ॥

(विचिन्त्य) आं, ज्ञातम् । एष हि मलयकेतुसंयमनसञ्जातो राज-
कुलस्य (इत्यर्द्धोक्ते सासूयम्) मौर्यकुलस्याऽधिकपरितोषं पिशुनयति ।
(सवाष्पम्) कष्टं भोः ! कष्टम् !!

श्रावितोऽस्मि श्रियं शत्रोरभिनीय च दक्षितः ।

इक्षित इव पूर्वं परिपीतः पश्चाच्चोक्षित उद्धान्त इव विभाव्यमानो नादजलराशि-
रिति शेषः, दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं कियान् दिगाभोगो यः खलु नाक्रान्तः मदनुनिनाद-
वलैरिति दिक्प्रसारं परिमातुं सकौतूहल इव कौतुकाक्रान्तो यथा प्रसरति सर्वतो
धावतीति भावः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—कापि नितरां नवीनोत्प्रेक्षासंपदत्र कवेः प्रतिभावैभवमन्त्र्यं प्रकाश-
यति ! संस्कृतकान्यसाहित्यं महद्भिरपि कविवरैर्न तथोत्प्रेक्षाप्रगल्भनमाचरितं यथाऽ-
ऽचरति कविरत्र । ध्वनेश्वरगणेन्द्रियविषयस्य कयाचन भङ्ग्या जङ्गलतापादने यथा
प्रथमचरणे, तस्यैवाऽपरया विच्छिन्त्या रसनेन्द्रियविषयतापादने यथा द्वितीयचरणे-
ऽन्तिमे च सचेतनताचमत्काराधाने यथाऽवधानवान् कविस्तस्य तु निगूढाभिप्रायो-
ऽयमेव यद्वाजसो विक्षिप्तचित्तः किमपि जनातिगमाचरति ।

श्रावित इति । शत्रुकर्तृकं स्ववशीकारमुपनिपतिष्यमाणं निध्यायतोऽमात्यराजस-
स्योक्तिरियम् हन्त ! जयाघोषेण कृत्वा शत्रोः प्रतिष्ठापितमौर्यस्य चाणक्यस्य श्रियं
वैजयिर्कीं सम्पदं श्रावितोऽस्मि अनुपदमेव कर्णगोचरीकारितोऽस्मि, अथ चानन्तर-

सहसा उगला हुआ जोर जोर से बजाये गये शङ्खों और नगादों की ध्वनिओं से निरन्तर
बढ़ता हुआ माझलिक नाद, ऐसा लगता है जैसे, दिङ्मण्डल का व्यापक विस्तार देखने के
लिये उत्कण्ठित सा फैलता जा रहा है ॥ १४ ॥

(कुछ सोचते हुए) अच्छा, पता चल गया ! मलयकेतु के पकड़ लिये जाने से
उत्पन्न, राजकुल की (इतना मुँह से निकलते ही ईर्ष्या के भाव के साथ) नहीं, नहीं,
मौर्यकुल की प्रसन्नता की सूचना दे रहा है ।

(आँखों में आँसू भरे)

ओह ! कितने दुःख की बात है !

पहिले हमें भासा के द्वारा शत्रु की प्रशंसा का अर्थ समझना पड़ा, फिर यहाँ लाकर

अनुभावयितुं मन्ये यत्नः सम्प्रति मां विधेः ॥ १५ ॥

पुरुषः—आसीणो अअं । ता जाब अज्जचाणक्कस्स आणत्ति संपादेमि (आसीनोऽयम् । तद्यावदार्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं सम्पादयामि) (राक्षसमपश्यन्निव तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति ।)

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! कथमयमात्मानमुद्बध्नाति ? नन्वयमहमिव दुःखितस्तपस्वी । भवतु, पृच्छाम्येनम् (उपसृत्य प्रकाशम्) भद्र ! भद्र !! किमिदमनुष्ठीयते ?

पुरुषः—(सबाष्पम्) अज्ज जं प्पिअवअस्सविनासदुःखिदो अह्मा-दिसो मन्दभाओ अणुचिट्ठदि (आये ! यत् प्रियवयस्यविनाशदुःखितोऽस्मादृशो मन्दभाग्यो जनोऽनुतिष्ठति ।)

मेव मलयकेतुसंयमनसंजातेन नान्दीनादेन कृत्वाऽभिनीय दृगोचरविषयतां प्राप्य तां श्रियं दर्शितोऽप्यस्मि । सम्प्रति अधुना तु विधेर्दुर्दैवस्य यत्नस्सर्व आरम्भो मामनुभावयितुं तामेव श्रियं सर्वात्मना स्वीकारयितुं संजाघटीतीति मन्ये सम्भावय इति भावः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—निर्वेदे सति जनाः ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-ध्यासितव्यः’, इत्यौपनिषदिकमेव पन्थानमाश्रयन्ते । किन्तु निर्विण्णस्य राक्षसस्यै-तावद्वैभाग्यं यच्छ्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि विक्रियन्ते । मोक्षस्य यः कोऽपि मार्गोऽवरुद्ध एव स तस्य प्रतिभातीत्यभिप्रायः ।

उसका दर्शन कराया गया और अब, ऐसा लगता है जैसे, उसका मुखे पूर्ण अनुभव कराने के लिये भाग्य बड़ा प्रयत्नशील हो रहा है ॥ १५ ॥

पुरुष—यह (राक्षस) बैठ गया । अब आर्य चाणक्य की आज्ञा के अनुसार कार्य करूँ । (राक्षस को देखे-अनदेखे, उसके आगे रस्सी का फन्दा अपने गले में डाल देता है)

राक्षस—(देखकर-स्वगत) ओह ! यह तो फाँसी लगा रहा है ! क्या मुझ सरीखा ही यह कोई हतभाग है ! अच्छा, पूछ कर देखूँ । (समीप पहुँच कर-प्रकट रूप में) अरे भाई ! यह क्या कर रहे हो ?

पुरुष—(आँसू मरी आँखों से) आर्य ! बही कर रहा हूँ जो मुझसा अभाग, अपने प्रियमित्र के निजालाओ दुर्भिक्षा को सब कसबा है ।

राक्षसः—(स्वगतम्) प्रथममेव मया ज्ञातं—‘नूनमहमिवायमार्त्तस्त-
पस्वीति’ । भवतु, पृच्छाम्येनम् (प्रकाशम्) भद्र ! व्यसनसत्रह्यचारिन् !
यदि न गुह्यं, नातिभारिकं वा, ततः श्रोतुमिच्छामि किं ते प्राणपरित्याग-
कारणम् ?

पुरुषः—(निरूप्य) अज्ज ! ण रहस्सं, ण वा अतिगुरुअं, किन्तु ण
सक्खणोमि पिअबअस्सबिणासदुक्खिददिअओ एत्तिअमत्तम्पि मरणस्स
कालहरणं कादुं । (आर्य ! न रहस्यं, न वाऽतिगुरुकं, किन्तु न शक्नोमि
प्रियवयस्यविनाशदुःखितहृदय एतावन्मात्रमपि मरणस्य कालहरणं
कर्तुम् ।)

राक्षसः—(निःश्वस्याऽऽत्मगतम्) कष्टमेतेषु सुदृढचसनेषु परवदु-
दासीनाः प्रत्यादिश्यामहे वयमनेन । (प्रकाशम्) भद्र ! यदि न रहस्यं
नाऽतिगुरुकं वा, तत् पुनः श्रोतुमिच्छामि । कथ्यतां का गतिः दुःख-
स्येति ?

व्यसनसत्रह्यचारिन्निति—जीवनस्य शालायां दुःखविद्यामेव राक्षसोऽधीते, दुःखा-
भिधानं ब्रह्मैव चरतीति तत्सधर्मणस्तत्समानस्य जनस्य सम्बुद्धौ स्वारस्यमस्य पदस्य
किमपि विराजते । अतिभारिकमिति त्वतिभारवदित्यर्थं मन्थर्ययिष्ठम् ।

राक्षस—(स्वगत) अरे ! मैंने पहले ही ताड़ लिया था कि हो न हो यह भी
कोई मुझ सा ही दुःखी व्यक्ति है । अच्छा, पूछता हूँ । (प्रकट) अरे भाई ! दुःख भोगने
में मेरे साथी ! यदि बहुत गोपनीय बात न हो अथवा बहुत हृदय-विदारक न हो, तो
बताओ क्योंकर अपने प्राण दे रहे हो ?

पुरुष—(देख-भाल कर) आर्य ! हृदय गोपनीय नहीं और न विदारक है किन्तु
अपने प्रिय-मित्र के विनाश से संतप्त-हृदय में थोड़ा सा भी मरने में विलम्ब नहीं करना
चाहता ।

राक्षस—(आइ भर कर-आत्मगत) कितने दुःख की बात है कि इस व्यक्ति ने,
अपने मित्रों पर पड़े इन संकटों में उदासीन बने रहने वाले मुझे लांछित और लज्जित
कर दिया है । (प्रकट रूप से) अरे भाई ! यदि गोपनीय न हो और न हृदय-विदारक
हो, तो तुम्हारा शोक इस प्रकार का नहीं है ।

पुरुषः—अहो ! णिव्वन्धो अज्जस्स, का गदी एसो णिवेदेमि, अत्थि एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी जिण्णुदासो णाम । (अहो ! निर्बन्ध आर्यस्य, का गतिरेष निवेदयामि । अस्त्यत्र नगरे मणिकारश्रेष्ठी जिण्णुदासो नाम ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) अस्ति जिण्णुदासश्चन्दनदासस्य परं मित्रम् । (प्रकाशम्) किं तस्य ?

पुरुषः—सो मम पिअबअस्सो । (स मम प्रियवयस्यः ।)

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) अये ! प्रियवयस्य इत्याह । अत्यन्त-सन्निकृष्टः सम्बन्धः । हन्त !!! ज्ञास्यति चन्दनदासस्य वृत्तान्तम् (प्रकाशम्) भद्र ! किं तस्य ?

पुरुषः—(सबाष्पम्) संपदं सो दीणअणदिण्णविहवो ज्वलणं प्पविसिदुकामो णअरादो णिक्कन्तो । ता अहं पि जाब तस्स पिअब-अस्सस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव अत्ताणं उव्वन्धिअ बाबादेमि त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आअदो । (साम्प्रतं स दीनजनदत्तविभवो ज्वलनं प्रवेष्टुकामो नगरान्निष्क्रान्तः । तदहमपि यावत्तस्य प्रियवयस्यस्या-

पुरुष—अरे ! आपका आग्रह है, क्या करूँ, सुनाना ही पड़ेगा ! सुनिये इस नगर के एक सबसे बड़े जौहरी हैं सेठ जिण्णुदास.....

राक्षस—(स्वगत) अरे ! जिण्णुदास तो हमारे चन्दनदास के परम मित्र हैं (प्रकट रूप में) क्या हुआ उन्हें ?

पुरुष—वे मेरे प्रिय मित्र थे.....

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ, आत्मगत) अरे ! इसने इन्हें अपना परम प्रिय मित्र कहा ! तब तो संबन्ध घनिष्ठ है ! अवश्य ही यह चन्दनदास का हाल जानता होगा ! (प्रकट) क्या हुआ उन्हें ?

पुरुष—(आँसू भरी आँखों से) इस समय, वे, दीन-दुःखियों को अपना धन-वैभव दान में देकर, आग में जल कर मर जाने की इच्छा से, नगर से बाहर निकल चुके हैं । तो, मैं भी, जब तक प्रियमित्र (जिण्णुदास) के संबन्ध में अमङ्गल की बात न सुनूँ तब तक, फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेने के लिये इस जीर्णोद्यान में आया हूँ । वे इस नगर की ही छोड़ चले, दीन-दुखियों को अपना सर्वस्व दान करिये, आग में जलकर मर

श्रोतव्यं न शृणोमि, तावदात्मानमुद्बध्य व्यापादयामीतीदं जीर्णोद्यान-
मागतः ।)

राक्षसः—

भद्र ! अथाऽग्निप्रवेशे तव सुहृदः को हेतुः ? किमौषधपथातिगैरु-
पहतो महान्याधिभिः ॥

पुरुषः—अञ्ज ! णहि णहि (आर्य ! नहि नहि ।)

राक्षसः—

किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ? ।

पुरुषः—अञ्ज ! सन्तं पाबं, सन्तं पाबं । चन्द्रउत्तस्स जणपदेसु
अणिसंसा पहिवक्षी । (आर्य ! शान्तं पापं, शान्तं पापम् । चन्द्रगुप्तस्य
जनपदेष्वनृशंसा प्रतिपत्तिः ।)

राक्षसः—

अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

किमौषधेति—श्रेष्ठिनो जिष्णुदासस्यात्मघातनिमित्तानि संभावयतो राक्षसस्य
वचनमिदम्—औषधपथातिगैः औषधस्य यः पन्थास्तमतिगच्छन्तीति तथाभूतैरचि-
कित्स्यैः महान्तश्च ये व्याधयस्तैः प्रवलरोगैः क्षयादिभिः कैश्चनोपहत उत्पीडितः
किम् ? किंवाऽग्निविषकल्पया अग्निश्च विषश्च ताभ्यामीपदूनया बहुशस्तुल्यया

जाने के इच्छुक ! और इधर मैं आ पड़ा इस जीर्णोद्यान में, अपने आप को फौसी लगाकर
मार डालना चाहता हूँ क्योंकि अपने प्रियवयस्य की मृत्यु का समाचार कैसे सुनना चाहूँ !

राक्षस—अरे भाई ! तुम्हारे मित्र के आग में जल मरने का कारण क्या है ? क्या
ऐसी कोई भयंकर व्याधि तो नहीं जिसका औषध से उपचार संभव न हो ?

पुरुष—आर्य ! ऐसा नहीं ।

राक्षस—क्या ऐसा तो नहीं कि आग और विष के समान भयंकर राजकोप का
भागी हो चला हो ?

पुरुष—राम ! राम !! आर्य ! ऐसा नहीं, चन्द्रगुप्त के राज्य में नृशंसता का व्यवहार
नहीं होता !

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राक्षस—तो क्या ऐसा तो नहीं कि किसी अलभ्य पर-स्त्री पर आसक्त हो गया हो ?

पुरुषः—(कर्णौ पिधाय) अञ्ज ! सन्तं पाबं, सन्तं पाबं । अभूमी क्खु एसो विणअणिधानस्स सेट्टिजणस्स, विसेसदो जिण्णुदासस्स । (आर्य ! शान्तं पापं शान्तं पापम् । अभूमिः खल्वेष विनयनिधानस्य, वणिग्जनस्य, विशेषतो जिण्णुदासस्य ।)

राक्षसः—

किमस्य भवतो यथा सुहृद् एव नाशोऽवशः ॥ १६ ॥

पुरुषः—अञ्ज ! अध इं ? (आर्य ! अथ किम् ?)

राक्षसः—(सावेगमात्मगतम्) चन्दनदासोऽस्य सुहृद्ः प्रियसुहृत् तस्य प्रियसुहृद्विनाश एवाऽग्निप्रवेशहेतुरिति यत् सत्यं समाकुलित एवाऽस्मि सुहृत्स्नेहपक्षपातिना हृदयेन (प्रकाशम्) भद्र ! तस्यापि तव सुहृद्ः सुचरितं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

पुरुषः—अञ्ज ! अदो अवरं ण सक्कणोमि मन्दभाओ मरणस्स विघ्नमुप्पादेहुं (आर्य ! अतोऽपरं न शक्नोमि मन्दभाग्यो मरणस्य विघ्नमुत्पादयितुम् ।)

नरपतेः क्रुधा-राजकोपेनेति भावः, निरस्तः प्रताडितः ? किमुतायमात्मजिघांसुः अलभ्यमन्यनारीजनमगम्यां काञ्चन परपत्नीमनुरक्तवान् कामितवान् ? अथवा भवतो यथाऽस्यापि सुहृद्ः एकमित्रस्य कस्यचन नाशो विप्रणाश एवाऽवशोऽप्रती-कार्यस्संजातः किम् ? आत्मघातस्य हेत्वन्तरेण तु नैव भाव्यमित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

पुरुष—(कान वन्द कर) राम ! राम !! आर्य ! ऐसा न कहो ? स्वभावतः सदाचारी वणिग्जन का और विशेषतः सेठ जिण्णुदास का यह सब विषय नहीं ।

राक्षस—‘तव क्या ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे मित्र के लिये तुम्हारी मृत्यु के समान, अपने मित्र के लिये इसकी भी मृत्यु हो रही हो जिसका कोई प्रतीकार नहीं ? ॥ १६ ॥

पुरुष—आर्य ! ऐसा ही है ।

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ-स्वगत) ओह ! इसके प्रियमित्र के प्रियमित्र चन्दन दास हैं । तो क्या इस (जिण्णुदास) के आग में जल मरने का कारण इसके प्रियमित्र (चन्दनदास) का विनाश ही तो नहीं है ? वस्तुतः अपने प्रियमित्र (चन्दनदास) के रनेहवश मेरा हृदय उद्विग्न हो रहा है । (प्रकट रूप में) भाई ! तुम्हारे प्रियमित्र के विषय में विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

पुरुष—आर्य ! अब इस से अधिक मैं अपनी मृत्यु में विघ्न नहीं होने देना चाहता ।

राक्षसः—श्रवणीयां कथां कथयतु भद्रमुखः ।

पुरुषः—का गद्दी ? एसो क्खु णिवेदेमि, णिसामेदु अज्जो । (का गतिः ? एष खलु निवेदयामि, निशामयत्वार्यः ।)

राक्षसः—भद्र ! दत्तावधानोऽस्मि ।

पुरुषः—अत्थि, जाणादि अज्जो, एत्थट्ठणअरे मणिआरसेट्ठी चन्दण-दासो णाम । (अस्ति, जानात्यार्यः इह नगरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम ?)

राक्षसः—(सविषादमात्मगतम्) एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षा-प्रकाशद्वारं दैवेन । हृदय ! स्थिरमिव किमपि ते कष्टतरमाकर्णनीयम् । (प्रकाशम्) भद्र ! श्रूयते मित्रवत्सलः स साधुः । किं तस्य ?

एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारं दैवेनेति । दुर्भाग्यमद्यावधि राक्षसं विनाश-मेव विधिवदध्यापयाम्बभूव किन्तु सम्प्रति यथाऽऽचरति तत्तु वस्तुतो विनाशदी-क्षायाः 'एवमपुनरुद्धारमात्माऽवसादयितव्य' इत्यादिरूपेण विनाशव्रतादेशस्य सम्प्र-दास्यमानस्य यत् प्रकाशद्वारं चन्दनदासाऽनिष्टनिवेदनादिरूपं मुख्यद्वारं तस्य समुद्घाटनमेव नान्यदिति ।

अस्तं गमिष्यमाणस्य राक्षससूर्यस्याऽन्तस्तापं वर्णयतो नाटककवेरस्य मनसि स्फुरति सूक्तिरौपनिषदिकी 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' इत्यादिरूपा या खलु 'आवितो-ऽस्मि श्रियं शत्रो'रिति रूपेण विपरिणमते प्रसक्तानुप्रसक्त्या । 'विनाशदीक्षाप्रकाश-द्वारादि' कल्पनं तु तस्या एव स्फुरणाया विवर्तरूपमिति विभावनीयम् ।

राक्षस—अरे भाई ! ऐसी बात कहो जो सुनने योग्य हो ।

पुरुष—क्या करूँ ! अच्छा कहता हूँ । सुनिये—

राक्षस—हाँ भाई ! मैं बड़े ध्यान से सुन रहा हूँ ।

पुरुष—आर्य ! आप जानते ही हैं कि इस नगर के सब से बड़े जौहरी सेठ चन्दन दास हैं ।

राक्षस—(दुःख के साथ आत्मगत) अब तो दुर्दैव ने हमें विनाश की दीक्षा देने के लिये, अपना मुख्य द्वार खोल ही दिया ! अरे मेरे हृदय ! कड़ा कर अपने आपको । अब तो कोई न कोई अत्यन्त दुःखद बात सुननी पड़ेगी ! (प्रकट रूप में) भाई ! वे भलेमानुस-
तो बहुत बड़े मित्रवत्सल रहे ? उसका क्या हुआ ?

पुरुषः—सो एदस्स जिष्णुदासस्स पिअबअस्सो होदि । (स एतस्य जिष्णुदासस्य प्रियवयस्यो भवति ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य । (प्रकाशम्) ततस्ततः ?

पुरुषः—तदो जिष्णुदासेण पिअवअस्सस्स सिणेहसरिसं अज्ज विण्णत्तो चन्दउत्तो । (ततो जिष्णुदासेन, प्रियवयस्यस्य स्नेहसदृशमद्य-विज्ञप्तश्चन्द्रगुप्तः ।)

राक्षसः—कथम् किमिति ?

पुरुषः—देव ! अत्थि मे गेहे कुटुम्बभरणपज्जत्तो अत्थो । तस्स विणिमएण मुळिचज्जदु मे पिअबअस्सो चन्दनदासो त्ति । (‘देव ! अस्ति मे गेहे कुटुम्बभरणपर्याप्तोऽर्थः । तस्य विनिमयेन मुच्यतां मे प्रियवयस्य-श्चन्दनदास’ इति ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु जिष्णुदास साधु !! अहो ! दर्शितो मित्रस्नेहः कुतः ?—

पितृन् पुत्राः, पुत्रान् परवदभिदिसन्ति पितरो

पितृनिति—जिष्णुदासस्य मित्रस्नेहं मुहुर्मुहुरालोचयतोऽथाऽत्मानं च मित्रद्रो-हिणं चिन्तयतः राक्षसस्य हृदयोद्गारोऽयम्—यदर्थं यस्य कस्यचन स्वात्मनः प्रियस्य

पुरुष—वे इन जिष्णुदास के परम मित्र हैं ।

राक्षस—(स्वगत) अब तो हृदय पर वज्रपात हुआ ही चाहता है ! (प्रकटरूप में) तब क्या हुआ !

पुरुष—यह हुआ कि जिष्णुदास ने, अपने परम प्रियमित्र के प्रति अपने प्रेम के नाते, चन्द्रगुप्त से निवेदन किया ।

राक्षस—क्यों ? क्या निवेदन किया ?

पुरुष—यही कि ‘महाराज ! मेरे घर में कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त धन-संपत्ति है उसके बदले मेरे प्रियमित्र चन्दनदास को छोड़ दिया जाय’ ।

राक्षस—(स्वगत) धन्य हो जिष्णुदास ! धन्य हो । तुमने मित्रप्रेम निवाहा ! क्योंकि, ‘वैश्य-होने के साते कृष्ण-काहे जासे परवसी तुम्हीं एक ऐसे वैश्य निकले जिसकी अर्थ-

यदर्थं सौहार्दं सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदः ।

प्रियं मोक्तुं तद्यो व्यसनमिव सद्यो व्यवसितः

कृतार्थोऽयं सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिजः ॥ १७ ॥

(प्रकाशम्) भद्र ! ततस्तथाऽभिहितेन सता किं प्रतिपन्नं मौर्येण ?

निमित्तेन पुत्राः पितृन्, पितरश्च पुत्रान् परवदभिहिंसन्ति परान् शत्रून् यथा ब्रून्ति, यस्य चैतस्य प्रियस्य वस्तुनः प्रयोजनेन सुहृदः सौहार्दवन्तस्सखायः सुहृदि समान-धर्मणि सख्यावपि सौहार्दं स्नेहबन्धं विमुञ्चन्ति परित्यजन्ति तत्प्रियं प्रेयोभूतं स्वा-भीप्सिततमं धनाभिधानं वस्तु वणिक्त्वेपि सति लोभकार्पण्यादिसम्भावनाभूमि-भूतवणिग्जातीयत्वेऽपि सति जिष्णुदासः व्यसनं दारुणं दुःखमिव किञ्चन मोक्तुं त्यक्तुं व्यवसितो व्यवसायवान् संवृत्तः हे जिष्णुदास ! कृतमित्रकार्यं !!' वणिजो वणिग्वंशावतंसस्य तवैव न कस्याप्यन्यस्यायं सोऽर्थो यो हि जनैर्जगति प्रियतम-त्वेन स्वाभीष्टतमत्वेन वा सदाऽर्ध्यतेऽभिकाम्यत इति तथाभूतः कश्चन प्रेयस्सारः कृतार्थः मित्रकार्याय विनिर्मुक्तत्वे सति कृतकार्यस्सफलस्संपन्न इत्यभिप्रायः । लो-केऽर्थ्यते स्वप्रियायेत्येवार्थोऽर्थशब्दस्य, किन्तु जिष्णुदासेऽर्थ्यते मित्रायति रूपेण चरितार्थाभिधानोऽर्थशब्द इति भावः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—अत्र तु टीकाकृतो दुर्गिराजस्य 'तदिति सामान्ये नपुंसकम्, तद्यो सद्यो' इति अनुप्रासलोभेन प्रयुक्तमिति यदनुप्रासलोभस्य नाटककर्तारि संभावनं तत्तु न विचारसहम् । नायं नाटककविः कुत्राप्यनुप्रासाय लुब्धः । अस्ति कश्चनाभि-प्रायविशेषोऽत्र तदिति नपुंसकं प्रयुक्तानस्य कवेः । स किंविध इति विचार्यमाण इत्थमाभाति यदन्तिमे चरणे पुंस्त्रिणेन निर्दिष्टस्यार्थ इति शब्दस्य लोके योऽभिप्रायः प्रथते तत्र तु किमपि प्रियतमं किमपि स्वस्मै निकाममभीष्टं वस्तु स्फुरति । किन्तु जिष्णुदासो लोकातिगोस्त एव तत्प्रसङ्गे तदेव किमपि प्रियं वस्तु परमार्थरूपेण परो-पकारायार्थ्यत इति कृत्वाऽर्थ इति विपरिणमते ।

सम्पत्ति सचमुच अर्थ—सम्पत्ति है ! भला उस, धन को, उस प्यारी वस्तु को, जिसके लिए बेटे, मां-बाप को और मां-बाप, बेटों को शत्रु समझ कर मार डालते हैं और जिनके लिये मित्र गण; अपने मित्रों के प्रति मैत्री का भाव छोड़ देते हैं, तुम इस प्रकार छोड़ देने के लिये तत्पर हो मानो वह कोई महापाप हो ॥ १७ ॥

(प्रकट) क्यों माई ! मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्या कहा जब उससे ऐसा निवेदन किया गया ?

पुरुषः—अज्ज तदो एवं भणिदेण चन्दउत्तेण प्पडिभणिदो सेट्ठी जिण्णुदासो—‘जिण्णुदास ! ण मए अत्थस्स कालणेण सेट्ठी चन्दणदासो संजमिदो, किंदु प्पच्छादिदो अणेण अमच्चरक्खसस्स घरअणो, बहुसो जाचिदेणावि ण समप्पिदोत्ति ता जइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि, तदो अत्थि से मोक्खो, अण्णधा प्पाणहरो से दण्डोत्ति भणिअ बज्झट्ठाणं आणीदो चन्दणदासो । तदो ‘जाव प्पिअबअस्सस्स चन्दणदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, तावज्जेव अत्ताणं वावादेमि’ त्ति उज्जलणे प्पविसिदुकामो सेट्ठी जिण्णुदासो णअरादो णिगगदो । अहं त्रि जाव प्पिअबअस्सस्स जिण्णुदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव उव्वन्धिअ अत्ताणं वावादेमि त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आगदो ह्वि । (आर्य ! तत एवं भणितेन चन्द्रगुप्तेन प्रतिभणितः श्रेष्ठी जिण्णुदासः—जिण्णुदास ! न मयाऽर्थस्य कारणेन श्रेष्ठी चन्दनदासः संयमितः, किन्तु प्रच्छादितोऽनेनामात्यराक्षसस्य गृहजनः, बहुशो याचितेनाऽपि न समर्पित’ इति । तद्यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति, ततोऽस्त्यस्य मोक्षः, अन्यथा प्राणहरोऽस्य दण्ड’ इति भणित्वा वध्यस्थान-मानीतश्चन्दनदासः । ततो ‘यावत् प्रियवयस्यस्य चन्दनदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदेवात्मानं व्यापादयामि’ इति ज्वलने प्रवेष्टुकामः श्रेष्ठी जिण्णुदासो नगरान्निर्गतः । अहमपि यावत् प्रियवयस्यस्य जिण्णुदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदुद्वध्यात्मानं व्यापादयामि, इतीदं जीर्णोद्यानमागतोऽस्मि ।)

पुरुष—आर्य ! ऐसा निवेदन किये जाने पर चन्द्रगुप्त ने सेठ जिण्णुदास से कहा—‘जिण्णुदास ! मैंने धन के लिए सेठ चन्दनदास को बन्धन में नहीं डाला है किन्तु इसलिये डाला है कि इसने अमात्यराक्षस का परिवार अपने यहाँ छिपा रखा है और बहुत मॉंगने पर सौपने को तैयार नहीं हो रहा है । तो यदि यह अमात्यराक्षस का परिवार हमें सौंप दे तो, इसका छुटकारा हो जाय । अन्यथा इसे प्राणदण्ड मिलना है ! ऐसा कहने के बाद चन्दनदास वध्यभूमि पर लाया गया है । इसके बाद, ‘जब तक प्रियवयस्य चन्दनदास के संबन्ध में कोई अमंगल बात न सुननी पड़े; तब तक अपनी हत्या कर लूं, यह निश्चय कर, आग में कूद कर प्राण देने के लिये, सेठ जिण्णुदास नगर से बाहर निकल गये हैं । मैं भी, ‘जब तक प्रियमित्र जिण्णुदास के संबन्ध में कोई अमंगल न सुनूं तब तक, फाँसी लगा कर आत्महत्या कर लूं । यह सोचकर, इस जीर्णोद्यान में आया हुआ हूँ ।

राक्षसः—न खलु व्यापादितश्चन्दनदासः ?

पुरुषः—अज्ज ! ण दाव बाबादीअदि । सो क्खु संप्पदं पुणो पुणो अमच्चरक्खसस्स घरजणं जाचीअदि । ण सो मित्तबच्छलदाए जाचीअन्तो वि तं समप्पेदि । ता एदिणा कालणेण होदि से मरणस्स कालहलणं । (आर्य ! न तावत् व्यापाद्यते । स खलु साम्प्रतं पुनः पुनरमात्य-राक्षसस्य गृहजनं याच्यते । न स मित्रवत्सलतया याच्यमानोऽपि तं समर्पयति, तदेतेन कारणेन भवत्यस्य मरणस्य कालहरणम् ।)

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वयस्य चन्दनदास ! साधु साधु !—

शिवेरिव समुद्भूतं शरणागतरक्षया ।

विचीयते त्वया साधो ! यशोऽपि सुहृदा विना ॥ १८ ॥

(प्रकाशम्) भद्र ! भद्र !! गच्छ शीघ्रमिदानीं जिष्णुदासं ज्वलनप्रवेशान्निवारय । अहमपि चन्दनदासं मरणान्मोचयामि ।

शिवेरिति—चन्दनदासं प्रियमित्रं चिन्तयन् स्मरंश्च तस्य लोकोत्तराणां गुणानां वक्ति राक्षसः—अयि साधो ! मत्परमोपकारिन् ! शरणागतरक्षया शरणमागतस्य मद्गृहजनस्य परित्राणेन शिवः महाराजस्य, शरणागतस्य कपोतरूपधारिणो बद्धे-शशयेनरूपधारिण इन्द्रात् त्राणे संजातं यश इव किमपि यशः मित्रेण मया तवोप-काराणां साक्षिणा विनाऽपि विचीयते सुतरामर्ज्यत इति भावः ॥ १८ ॥

राक्षस—क्या चन्दनदासं मार तो नहीं डाले गए ।

पुरुष—आर्य ! अभी तक तो नहीं मारे गये । अभी तो, बारंबार, उनसे अमात्य-राक्षस का कुटुम्ब मांगा जा रहा है । किन्तु, मांगने पर भी, मित्रवत्सल होने के कारण, वे, उसे सौंप नहीं रहे हैं । वस, इसीलिये, उनकी मृत्यु में कुछ विलम्ब हो रहा है ।

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ-स्वगत) धन्य हो चन्दनदास ! तुम धन्य हो ।

‘अपने शरणागत को बचाने के कारण, तुम तो महाशरण्य महाराज शिव के यश के समान महान् यश पा चुके और मैं तुम्हारा शरणागत तुम्हें देखने से भी वंचित रह गया !’ ॥ १८ ॥

(प्रकट रूप में) अरे माई ! जाओ, अब, शीघ्र जिष्णुदास को आग में जल मरने से-
मन-करी मैं भी चन्दनदास को मार दूँ ।

पुरुषः—अथ केण उण उवाएण अज्जो चन्दणदासं मरणादो मोचेदि ?
(अथ केन पुनरुपायेनार्यश्चन्दनदासं मरणान्मोचयामि ?)

राक्षसः—(खड्गमाकृष्य) नन्वनेन व्यवसायमहासुहृदा निस्त्रिंशेन ।

ननु पश्य—

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति-

युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण ।

सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मै

मित्रस्नेहाद् विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥ १९ ॥

पुरुषः—अज्ज ! एवं सेट्ठिचन्दणदासजीविदं होदि त्ति सुणिदं,
विसमदसाविभाअपरिणामपडिदो ण सक्कणोमि णिच्चिदपदं पडिवत्तुं ।

निस्त्रिंश इति । चन्दनदासमोक्षाय त्वरमाणमना वीरमदोन्मत्तः राक्षसस्त्वहस्त-
घृतं निस्त्रिंशमुपतिष्ठते—विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्तिर्विगतजलदेन निर्मेधेण व्योम्ना-
ऽकाशेन सङ्काशा सदृशी मूर्तिस्त्वरूपशोभा यस्यैवंभूतो योऽयमसौ मे निस्त्रिंशः
खड्गः यो हि करेण मद्धस्तेन युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यां युद्धविपयिणी या
श्रद्धा निष्ठा तथा सज्जातपुलक इव सन् प्राप्तसख्यस्संजातानुरागः परैश्शत्रुभिस्समर-
निकषे सङ्ग्रामरूपे कषपापाणे सत्त्वोत्कर्षात् सत्त्वगुणस्य वीर्यस्योत्कर्षाद् बाहुल्याद्
दृष्टसारस्समर्थितशक्तिः परीक्षितबलो वाऽधुना, यदा नास्ति कोऽपि निस्तारमार्ग-
स्तदा, मित्रस्नेहात् सुहृदि चन्दनदासे यो ममानुरागस्तत्कारणाद्विवशं व्याकुलं मां
साहसे साहसिकव्यापारे नियुक्ते प्रेरयन्निव दृश्यत इति भावः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—किमपि पुरानुभूतं निस्त्रिंशविषयकं विचारयतोऽथ च करिष्यमाणं
किमपि साहसकार्यं निस्त्रिंश्वानस्य राक्षसस्य मनोदशां मन्दाक्रान्तावृत्तेन वर्णयन्
कविरयं किमपि वृत्तौचित्यमत्र प्रकाशयति ।

पुरुष—किस उपाय से आप चन्दनदास को मौत से छुटकारा दिलायेंगे ?

राक्षस—खींचकर अपने पुरुषार्थ के परम मित्र इस निस्त्रिंश से देख लो—

मेघनिर्मुक्त आकाश के समान निर्मल, मानो युद्ध करने की श्रद्धा से रोमाञ्चित
होकर मेरे हाथ में आया हुआ और युद्ध की कसौटी पर शत्रुगण द्वारा परीक्षित शक्ति
सामर्थ्य वाला मेरा यह खड्ग, मित्र, स्नेह के विवश मुझे, साहसिक कार्य में नियुक्त
कर रहा है ॥ १९ ॥

पुरुष—आर्य ! इस प्रकार सेठ चन्दनदास का प्राणरक्षण समझें—यह तो

(विलोक्य पादयोर्निपत्य) अध सुगृहीतनामधेया अमच्चरक्खसपादा तुहो
त्ति, ता करेहि मे प्पसादं सन्देहणिण्णएण ! (आर्य ! एवं श्रेष्ठिचन्दनदास
जीवितं भवतीति श्रुतं विषमदशाविभागपरिणामपतितो न शक्नोमि
निश्चितपदं प्रतिपत्तुम् । अथ सुगृहीतनामधेया अमात्यराक्षसपादा
यूयमिति, तत् कुरु मे प्रसादं सन्देहनिर्णयेन ।)

राक्षसः—भद्र ! सोऽहमनुभूतमर्तृवंशविनाशः सुहृद्विनाशहेतुरनार्यो
दुर्गृहीतनामा यथार्थो राक्षसः ।

पुरुषः—(सहर्षं पुनः पादयोर्निपत्य) प्पसीदध, प्पसीदध । हीमा-
णहे ! दिट्ठिआ कदत्थोद्धि । (प्रसीदत, प्रसीदत । आश्चर्यम् ! दिष्ट्या
कृतार्थोऽस्मि ।)

राक्षसः—भद्र ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, कृतमिदानीं कालहरणेन, निवेद्यतां
जिष्णुदसाय—‘यथैष राक्षसः चन्दनदासं मरणान्मोचयति’ । (इति
‘निस्त्रिशोऽयम्’ इत्यादि पठन् आकृष्टखड्गः परिक्रामति ।)

पुरुषः—(पादयोर्निपत्य) प्पसीदन्तु प्पसीदन्तु अमच्चरक्खसपादाः ।

सुना है । किन्तु दुर्दशा की विचित्र पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँच जाने से, आपको
ठीक-ठीक नहीं पहचान पा रहा हूँ । (ध्यान से देख कर, पैरों पर गिरते हुये) तो,
आप तो, प्रातः स्मरणीय पूज्य महामात्य राक्षस हैं । मेरे सन्देह का निर्णय करके
मुझपर कृपा करें ।

राक्षस—हां भाई ! मैं वही राक्षस हूँ—अपने स्वामी के वंश के विनाश का अनुभव
कर चुकने वाला, अपने प्रियमित्र के विनाश का एक मात्र कारण, अनार्य, प्रातः-
स्मरण में अमङ्गल करने वाला और नाम के अनुसार काम वाला ! अपने आपको चरितार्थ
करने वाला वह महानीच राक्षस समझो—अपने राजवंश के विनाश को खड़े-खड़े देखने
वाला और अपने प्रियमित्र के सर्वनाश का एकमात्र कारण !

पुरुष—(प्रसन्नता-पूर्वक पैरों पर गिर कर) कृपा हो, कृपा हो, आश्चर्य ! सौभाग्य की
वात है कि मैं कृतार्थ हो गया !

राक्षस—उठो भाई ! उठो । अब, विलकुल विलम्ब न करो । जिष्णुदास से निवेदन
करो कि ‘राक्षस स्वयं चन्दनदास को मौत से छुड़ा रहा है’ । (‘निस्त्रिशोऽयम्’ इत्यादि
पढ़ते हुए, खड्ग खींचे इधर-उधर घूमता है)

पुरुष—(पैरों पर गिर कर) पूज्य महामात्य राक्षस ! आपसे मैं स्वामी की कृपा

अथि दाब एत्थ णअरे प्पढमं चन्दउत्तहदएण अज्जसअडदासस्स वधो
 आणत्तो ! सो अ केणावि बज्झट्ठाणादो अबहरिअ देसान्तरं अबवा-
 हिदो । ततो चन्दउत्तहदएण कीस प्पमादो किदो त्ति अज्जसअडदासव-
 धवज्जणाए समुज्जलिदो रोसगो घादअजणवधजलेण णिच्चाविदो ।
 तदो पट्टुदि घादआ जं कं पि गहीदसत्थं अपुब्बं पुरुसं अग्गी पच्चादो
 वा पेक्खन्ति, तदो अद्धपथे ज्जेव अत्तणो जीविदं परिरक्खन्तो अप्पमत्ता
 पदे अप्पाप्पवज्झट्ठाणं वज्झं बाबादेन्ति । ता एव्वं गहीदसत्थेहिं अमच्च-
 पादेहिं तहिं गच्छन्तेहिं सेट्ठिचन्दनदासस्स वधो तुवाराइदो होहि ।
 (प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वमात्यराक्षसपादाः । अस्ति तावदत्र नगरे प्रथमं
 चन्द्रगुप्तहत्केनऽऽर्यशकटदासस्य वध आह्वयः । स च केनापि वध्य-
 स्थानादपहृत्य देशान्तरमपवाहितः । अतश्चन्द्रगुप्तहत्केन 'कस्मात् प्रमादः
 कृतः ।' इति आर्यशकटदासवधवञ्चनया समुज्ज्वलितो रोषाग्निर्घातक-
 जनवधजलेन निर्वापितः । ततः प्रभृति घातका यं कमपि गृहीतशस्त्रम्
 अपूर्वं पुरुषमप्रतः पश्चाद्वा प्रेक्षन्ते, तदाऽर्द्धपथे एवात्मनो जीवितं परि-
 रक्षन्तोऽप्रमत्ता एतेऽप्राप्तवध्यस्थानं वध्यं व्यापादयन्ति । तस्मादेवं गृहीत-
 शस्त्रैरमात्यपादैस्तत्र गच्छद्भिः श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधस्त्वरायितो भवति ।)

(इति निष्क्रान्तः)

राक्षसः—(स्वगतम्) अहो ! दुर्बोधश्चाणक्यवतोर्नोतिमार्गः । कुतः ?

दिन पहले, इस नगर में, दुष्ट चन्द्रगुप्त ने आर्य शकटदास के वध की आज्ञा दी । पता
 नहीं किसने उसे (शकटदास को) वध्यभूमि से हटा कर कहीं अन्यत्र पहुँचा दिया ।
 इसलिये हत्यारे चन्द्रगुप्त ने 'क्यों असावधानी की' ऐसा सोच कर, आर्य शकटदास के
 वध में वंचित हो जाने के कारण धधक उठी अपनी क्रोधाग्नि को, वधिकों के ही वध-
 जल से शान्त किया । तब से ही, वधिक लोग, जिस किसी भी शस्त्रधारी, अजनबी
 पुरुष को आगे या पीछे देख लेते हैं, उसे, आधे रास्ते पर ही, अपने प्राणों की रक्षा
 करने के लिये, सावधानी बरतते हुये, वध्यभूमि पर पहुँचाये बिना ही, मार डालते हैं ।
 इसलिये, इस प्रकार शस्त्र लिये महामात्य के वहां (वध्यभूमि पर) चल पड़ने पर, सेठ
 चन्दनदास के वध में शीघ्रता हो जायगी ।

राक्षस—(स्वगत) आश्चर्य है ! धूर्त चाणक्य की राजनीति को चारों समक्ष में
 नहीं आती ! वधिक—

यदि स शकटो नीतः शत्रोर्मतेन समान्तिकं
किमिति निहतस्तेन क्रोधाद् वधाधिकृतो जनः ? ।

अथ न कृतकं तादृक्कथं कथं नु विभावये-

दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम् ॥ २० ॥

(विचिन्त्य) तस्मात्—

नायं निखिंशकालः प्रथममिह कृते घातकानां विघातेः

नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तथा कार्यमत्र ?

यदीति—चाणक्यस्य कूटनयं ध्यायं ध्यायमप्यनिश्चिन्वानस्य राज्ञस्य चिन्तन-
मिदम्—यदि शत्रोश्चाणक्यस्य मतेनाऽनुज्ञानेन शकटशकटदासः समान्तिकं मम
समीपं नीतः प्रापितस्तदा तेन शत्रुणा चाणक्येन वधाधिकृतः वधाय नियुक्तो जनः
वधिकसार्थः किमिति क्रोधान्निहतः कस्माद्धेतोस्सकोपं व्यापादितः ? अथैतत्सर्वं न
कृतकं न कपटकार्यमपि तु यथार्थमेव पर्यवसन्नं तदात्वे तादृक् कथं तथाविधं स्वामि-
द्रोहरूपं पापकर्म कथं नु शकटदासो विभावयेत् कथं स्वकर्तव्येन निश्चिनुयात् ?
हन्त ! मम मतिः मद्बुद्धिरिति तथं तर्कारूढा संशयदोलायां दोलायमाना सन्देह-
चक्रचङ्क्रमे वा भृशं पतिता निश्चयं निर्णयं न पश्यति नाभिजानातीति भावः ॥ २० ॥

नायमिति । स्वात्मसमर्पणमेव चन्दनदासमोक्षोपायं मन्वानस्य राज्ञस्योक्ति-
रियम्—हन्त ! चन्दनदासमोचनरूप आरम्भः प्रथममेव मत्तः क्रियमाणस्य करिष्य-
माणस्य वा शत्रुबलसंक्षयस्य प्रागेव घातकानां वधिकजनैरिति भावः, चन्दनदासस्य
विघाते मारणे कृते सम्पन्ने सति नैष्कल्यान्नायं निखिंशकालः खड्गधारणावसरो-

‘यदि यह शत्रु की चाल रही कि शकटदास मेरे पास पहुँचाया गया तो चन्द्रगुप्त ने
वधिक लोगों को क्रोधवश, क्यों कर मरवा डाला ! यदि शकटदास-सम्बन्धी यह बात
बनावटी नहीं तब, भला, क्यों कर शकटदास ऐसी नीचता और नृशंसता पर उतारू
हो गया ! यह सब सोचते सन्देह के झूले पर झूलती मेरी बुद्धि कुछ भी ठीक-ठीक
निश्चय नहीं कर पाती ॥ २० ॥

(कुछ सोच समझ कर)

इसलिये, यह निखिंश (खड्ग)-प्रयोग का समय नहीं—क्योंकि घातक लोग
चन्दनदास को पहले ही मार डालेंगे । यह नीति-प्रयोग का भी समय नहीं क्योंकि
उसका फल कालान्तर में ही मिल सकेगा । अतः, ये कारण (चन्द्रगुप्त) के

औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां
व्यापत्तिं, ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि ॥२१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥



सम । नीतिश्च कालान्तरेण बहुकालानन्तरं फलं प्रकटयति साधयतीति हेतोरत्राऽ-
स्मिन् सपदि कर्तुं योग्ये कार्ये तथा नीत्या किं कार्यं न किमपि प्रयोजनं सिध्यतीति
भावः । किन्तु मत्कृते मदर्थं प्रियसुहृदि प्रियवयस्ये चन्दनदासेऽतिघोरां महादारुणां
व्यापत्तिं विपदं गते प्राप्तवत्यौदासीन्यं नैरपेक्ष्यं चापि न युक्तं नैवोचितम् । आः
ज्ञातम् ! बुध्यते करणीयं, यदि केवलमेवं रूपं यदहमिमां स्वतनुं स्वशरीरं यद्वारणा
दिभारभूतं तत्स्वशरीरमस्य चन्दनदासस्य निष्क्रयं मोचनशुल्कं कल्पयामि सम्पा-
दयिष्यामीति भावः । भविष्यत्सामीप्ये लट्प्रयोगः ।

टिप्पणी—(१) पञ्चमाङ्के 'किं' गच्छामि तपोवनमि'त्यादि चिन्तयतो राक्षसस्य
हृदयान्निर्वेदकण उच्छलितोऽत्र तु वीर्यातिरेकिणस्तस्यान्तरात्मनो मतिरूपो भाव
उल्लसति । वीरो रसोऽत्र व्यङ्ग्य एव स्थितः ।

(२) निर्वहणस्योपक्रमस्सुनिपुणं वर्णितो नाटककविनाऽत्र । यस्योपसंहाराया-
प्रिमोऽङ्कोऽपेक्षित एवेति ।

इति राक्षसनिर्वेदो नाम षष्ठोऽङ्कः ।



इस प्रकार अत्यन्त भयङ्कर संकट में पड़ जाने पर मेरे लिये उदासीनता भी ठीक नहीं ।
अब, समझा—चन्दनदास के छुटकारे के लिये अपना यह शरीर, बदले में, समर्पित
कर दूँ ॥ २१ ॥

(सभी पात्र रंगमंच से चले जाते हैं ।)

राक्षस-निर्वेद नामक

षष्ठ अङ्क—समाप्त ।

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चण्डालः)

चण्डालः—

ओसलध अज्जा ! ओसलध, अवेध माणहे ! अवेध—

जइ लक्खिहुं मणद्धं प्पाणे, बिहवे, कुले, कलत्ते अ ।

पल्लिहलध ता विसं बिअ ल्हाअपत्थं प्पअत्तेण ॥ १ ॥

(अपसरत आर्याः ! अपसरत, अपेत मान्याः ! अपेत—

यदि रक्षितुं मन्यध्वं प्राणं विभवं, कुलं, कलत्रं च ।

परिहरत तस्माद् विपमिव राजापथ्यं प्रयत्नेन ॥ १ ॥)

धृतचण्डालभूमिकस्त्रिद्वार्थकस्तदन्यो वा वधिकवेषधारी चन्दनदासं वध्यभूमिं नयन् जनसम्मर्दं तद्दर्शनागतं समुत्सारयन्नाह—अपसरतेति ।

यदिति—अपसरत आर्याः ! अपसरत ! यदि प्राणं प्रियाप्रियतरमात्मानं, विभवं काम्यमानं धनादि, कुलं सौभाग्यभूतमभिजनमथ च कलत्रं स्वस्य दारान् रक्षितुं परित्रातुं मन्यध्वम् यूयमिच्छति तस्मात् ततो हेतोः प्रयत्नेन सर्वदा सर्वथा च प्रयासपूर्वकमपि विपमिव राजापथ्यं हलाहलमिव राजानिष्ठचिन्तनं राजविद्रोहं वा परिहरत दूरे त्यजत ॥ १ ॥

टिप्पणी—(१) पठेऽङ्के प्रस्तावितस्यार्थस्यैवावतरणं कविना क्रियतेऽत्र सप्तमेऽङ्के । यद्यपि राक्षसवशीकारस्सम्पन्नकल्पस्तथाऽपि राक्षसस्य सौर्यामात्यपदस्वीकरणरूपं यत्परमं प्रयोजनं तन्निर्वहणरूपोऽयमन्तिमोऽङ्कोऽपेक्षित एव नानपेक्षित इति ।

(२) 'विपमिव राजापथ्यं परिहरते'त्यत्र योऽयं धर्मलुसोपमालङ्कारः स तु कामपिच्छायां विभर्ति । साधारणधर्मस्य प्राणहरणत्वादेरत्र लोपः ! किं कृत इति चेत् ? सर्वविदितोऽयं विपस्य प्राणहरणरूपस्वभावो धर्मो वा । विप इति बुध्यमान एवोपमानभूतेऽर्थे तद्धर्माणां प्राणहरत्वादीनां स्वत एव हृदयङ्गमत्वात् । यथाऽत्रोपमाने तथैवोपमेयेऽपि राजापथ्ये प्राणहरणरूपधर्मस्य सर्वप्रतीतिसिद्धत्वात्तल्लोप एव

(चण्डाल—वधिक—वेषधारी एक पुरुष का प्रवेश)

चण्डाल—इटो, इटो लोगो ! इटो,

यदि अपने प्राण, अपनी धन-सम्पत्ति, अपने कुल-कुटुम्ब की रक्षा करना चाहते हो, तो निम्न के समान एक प्रयत्न करो ।

अपि च—

होदि पुलिसस्स ब्वाही मलणं वा सेविदे अपत्थेवि ।
लाआपत्थे उण सेविदे सअलं वि कुलं मलदि ॥ २ ॥

(अपि च—

भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपत्थेऽपि ।
राजापत्थे पुनः सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ॥ २ ॥)

ता जइ ण प्पत्तिआअघ, तदा पेक्खिध एणं लाआपत्थकालिणं
सेट्ठिचन्दणदासं बज्झठ्ठाणं आणीअमाणं सपुत्तकलत्तं । अज्ज ! किं
भणध ? अत्थि किं चन्दणदासस्स मोक्खोबाओत्ति ? कुदो से अधणस्स
मोक्खोबाओ ? एद उण अत्थि—सो जइ अमच्चरक्खसस्स धरअणं सम-

वाच्यविच्छिन्नकर इति नोपात्तः । उपमैव चाऽत्र कवेरभिप्रेततरा तथैव हि सधर्म-
णोर्द्वयोर्विपराजद्रोहयोः प्रातिस्विकं स्वरूपं प्रतीतिपथं प्रापद्य परिस्फुटं पारस्प-
रिकं साधर्म्यं प्रकाशीक्रियते । सेयमुपमाऽत्र व्यतिरेकालङ्कारमभिव्यनक्ति । कवेर्वि-
वक्षितोऽयं व्यतिरेकध्वनिः । प्राणनाशनं विषं राजापथ्यं तु सर्वनाशनमिति प्रतीते-
रेवाऽत्र सुतरामभिप्रेततमत्वादिति ।

पुनरपि भङ्गयन्तरेण पूर्वोक्तमेव प्रस्तौति—भवतीति । अपत्थे अहितकरे कस्मि-
श्चिद्विषादौ सेविते सति पुरुषस्य जनस्य व्याधिशरीरपीडा मरणं प्राणपीडा वा
भवति । राजापत्थे राजानिष्टकरे राजविद्रोहरूपे वस्तुनि पुनस्सेविते हि सकलमपि
कुलं म्रियते नैकस्य विनाशोऽपि तु सपुत्रकलत्रस्य कुटुम्बस्यैव विनाशो निश्चित
इति परिहरत राजद्रोहमिति शेषः ॥ २ ॥

और भी अन्य प्रकार के अपत्थ के सेवन से, या तो पुरुष व्याधिग्रस्त होता है या
मृत्यु प्राप्त करता है । किन्तु, राजविषयक अपत्थ (राजविद्रोह) के सेवन करने पर तो
उसका समस्त कुल-कुटुम्ब ही नाश में मिल जाता है ॥ २ ॥

यदि इस बात पर विश्वास नहीं करते तो राजविषयक अपत्थ का सेवन करने वाले
सेठ चन्दनदास को देख लो, जो बीबी बच्चे के साथ, वध्यभूमि पर ले जाया जा रहा
है । आकाश की ओर देखते) लोगो ! क्या कहते हो कि क्या चन्दनदास के छुटकारे का
कोई उपाय है ? इस अमागे के छुटकारे का क्या उपाय ! किन्तु यह अवश्य है कि यदि वह
अमात्य राक्षस का परिवार सौंप दे (तो छुटकारे का उपाय है) । (पुनः, आकाश की

प्रेदि किं भणथ ? एसो सलणागदबच्छलो अत्तणो जीविदस्स कालणेण ईरिसं अकज्जं ण कलिस्सदिति ? अज्जा ! जइ एव्वं तेण हि अवधानेध से सुभगदिं । किं दाणीं तुह्माणे प्पडीआलविआरेण । (तद्यदि न प्रत्ययध्वं, तदा प्रेक्षध्वमेनं राजापध्यकारिणं श्रेष्ठिचन्दनदासं वध्यस्थानमानीयमानं सपुत्रकलत्रम् । (आकाशे) आर्याः ! किं भणथ ? 'अस्ति किं चन्दन-दासस्य मोक्षोपायः' इति ? कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षोपायः ? एतत् पुनरस्ति—स यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति । (पुनराकाशे) किं भणथ ? 'एष शरणागतवत्सल आत्मनो जीवितस्य कारणेनेदृशमकार्यं न करिष्यतीति । आर्याः ! यद्येवं, तेन ह्यवधत्तास्य शुभगतिम् । किमिदानीं युष्माकं प्रतीकारविचारेण ?)

(ततः प्रविशति द्वितीयचण्डालानुगतो वध्यवेषधारी शूलं स्कन्धे-
नादाय कुटुम्बिन्या पुत्रेण चानुगम्यमानश्चन्दनदासः)

चन्दनदासः—हृद्धी ! हृद्धी !! अह्मारिसाणं वि कथं णित्तचारित्तभङ्ग-भीरुणं चोरजणोचिदं मलणं पत्तं त्ति णमो किदन्तस्स । अह्वा ण णिसंसाणं उदासीणेसु वा बिसेसो अत्थि ? तथा हि—(हा धिक्, हा धिक् ! अस्मादृशानामपि नित्यचारित्रभङ्गभीरुणां चौरजनोचितं मरणं प्राप्तमिति नमः कृतान्तस्य । अथवा न नृशंसानामुदासीनेष्वितरेषु वा विशेषोऽस्ति । तथा हि—)

ओर देखते) क्या कहते हो कि 'शरणागतवत्सल यह चन्दनदास अपनी जीवन-रक्षा के लिये ऐसा अनुचित कार्य नहीं करेगा' । लोगो ! यदि ऐसी बात है तो इसकी शुभगति (मौत) निश्चित समझो । फिर, इसके प्रतीकार की चिन्ता से तुम्हारा क्या !

(दूसरे चण्डाल के साथ, बाल बच्चों समेत, वध्यवेषधारी, कंधे पर शूल उठाये चन्दनदास का प्रवेश)

चन्दनदास—हाय ! धिक्कार है, हम सरीखे चरित्र-दोष से सदा डरते रहने वाले भी चोर की भाँति यदि मृत्यु के भागी बने तो कृतान्त को ही नमस्कार है (क्योंकि वही सर्वोपरि है) । अथवा क्रूर हृदय पुरुषों के लिये, निरपराध अथवा अपराधी में कोई भेद नहीं होता—जैसे कि—

मौढूण आमिसाईं मल्लणभएण तिणेहि जीवन्तम् !
 बाहाणं मुद्धरिणं हन्तुं को णाम णिब्बन्धो ? ॥ ३ ॥
 (मुक्त्वा आमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम् ।
 व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्वन्धः ? ॥)

(समन्तादवलोक्य) भो प्पिअबअस्स जिण्णुदास ! कथं
 प्पडिबअणं वि मे ण प्पडिबज्जसि त्ति । अधवा दुल्लहा ख्वु
 पुस्सि, जे इमस्सि काले दिट्ठिपथे वि चिट्ठन्ति । एदे अह्मप्पि-
 अबअस्सा अस्सुवादेप्पेतकेण किदप्पदीआरा कहं विणिवत्तमाणा परि-
 वद्धमाणसोअदोणबदणा वाष्फगरुआए दिट्ठीए मं अणुगच्छन्दि । (भो
 प्रियवयस्य जिण्णुदास ! कथं प्रतिवचनमपि मे न प्रतिपद्यसे इति ।
 अथवा, दुर्लभाः खल्वेते पुरुषाः, येऽस्मिन् काले दृष्टिपथेऽपि तिष्ठन्ति ।
 (सबाष्पम्) एतेऽस्मत्प्रियवयस्या अश्रुपातमात्रेण कृतप्रतीकारा निवर्त-
 मानाः परिवर्द्धमानशोकदीनवदना बाष्पगुर्व्या दृष्ट्या मामनुगच्छन्ति ।)
 (इति परिक्रमति)

चन्दनदासस्स्वात्मानं निरपराधमपि प्राणदण्डेन दण्ड्यमानमनुशोचति—मुक्त्वे-
 ति । मरणभयेन कश्चित् प्राणी त्रियेतेति भीत्या आमिषाणि मांसादीनि मुक्त्वा
 त्यक्त्वा तृणैर्घासादिभिर्जीवन्तं वृत्तिं कल्पयन्तं मुग्धहरिणं सरलस्वभावं सृगादिकं
 हन्तुं व्याधानां सृगयाजीवानां को नाम निर्वन्धः कीदृशो दुराग्रह इति नावधार-
 यितुं शक्यते । क्रौर्यमेव केवलमत्र कारणमिति भावः ॥ ३ ॥

जीवहिंसा के भय से मांसभक्षण छोड़कर प्राणरक्षा के लिये घास-फूस पर जीवन-
 निर्वाह करने वाले भोले-भाले हरिणों को मारने में व्याधों का क्या आग्रह हो सकता है !
 कोई आग्रह नहीं केवल नृशंसता के कारण मारते हैं ॥ ३ ॥

(चारों ओर देखते हुये)

प्रियमित्र जिण्णुदास ! क्यों, क्या तुम उत्तर भी नहीं देते ! अथवा, ऐसे समय पर
 विरले लोग ही आंखों के सामने पड़ते हैं (आंखों में आंसू भर कर) ये रहे हमारे
 प्रियमित्रगण जो केवल आंसू गिराकर, मानो, (हमारे संकट का) प्रतीकार करते,
 त्रापस लौटते, बढ़ते शोक के कारण म्लान मुख दिखायी पड़ते, आंसू भरी आंखों से
 मुझे देखते आ रहे हैं ।

चण्डालौ—(परिक्रम्यावलोक्य च) अज्ज चन्दनदास ! आगदोसि बज्झट्ठाणं ता विसज्जेहि पणिअणं । (आर्यं चन्दनदास ! आगतोऽसि वध्यस्थानं तद् विसर्जय परिजनम् ।)

चन्दनदासः—अज्जे ! कुटुम्बिणि ! णिवत्तस्स तुमं सपुत्ता । बज्झट्ठाणं क्खु एदं, अदो अवरं अभूमि क्खु अणुगच्छिदुम् । (आर्ये ! कुटुम्बिनि ! निवर्त्तस्व त्वं सपुत्रा । वध्यस्थानं खल्वेतत्, अतोऽपरमभूमिः खल्वनुगन्तुम् ।)

कुटुम्बिनी—(सवाष्पम्) परलोअं प्पत्थिदो अज्जो, ण उण देसन्तरं ता अज्जोगो दाणीं कुलजणस्स णिवत्तिदुं । (परलोकं प्रस्थित आर्यो न पुनर्देशान्तरं तदयोग्यमिदानीं कुलजनस्य निवर्त्तितुम् ।)

चन्दनदासः—अज्जे ! सच्चं, मित्तकज्जेण मम विणासो ण पुरिस-दोसेण । ता किं हरिसट्ठाणे वि रोइसि त्ति ? ('आर्ये ! सत्यं, मित्र-कार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण; तत् किं हर्षस्थानेऽपि रोदिवि' ? इति ।)

कुटुम्बिनी—अज्ज ! जइ एब्बं, ता अणुचिदं दाणीं कुलजणेण णिवत्तिदं । (आर्य ! यद्येवं, तदनुचितमिदानीं कुलजनेन निवर्त्तितुम् ।)

टिप्पणी—अत्राऽप्रस्तुतस्य व्याधादेः मृगमारणाध्यवसायस्योक्त्या प्रस्तुतस्य चाणक्यकर्तृकचन्दनदासवधनिर्वन्धस्याऽवगमादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ।

दोनो चण्डाल—(चलते हुए, देखकर) आर्य चन्दनदास ! अब वध्य-स्थान पर पहुँच गये । अपने परिजनों को विदा करो ।

चन्दनदास—आर्ये ! गृहस्वामिनि ! बन्धे के साथ लौट जाओ । यह वध्यस्थान है, इसलिये इसके आगे अनुगमन उचित नहीं ।

कुटुम्बिनी—(आँखों में आँसू भरे) ओह ! आर्य परलोक के लिये प्रस्थान कर रहे हैं, परदेश के लिये नहीं । इसलिये कुलवधू का लौटना ठीक नहीं ।

चन्दनदास—आर्ये ! मेरा यह विनाश मित्र के कार्यवश हो रहा है अपने अपराध-वश नहीं । तो हर्ष के मौके पर रो क्यों रही हो ?

कुटुम्बिनी—आर्य ! यदि ऐसी बात है तो कुलजन का लौट जाना उचित नहीं ।

चन्दनदासः—अध किं व्यवसिदं अज्जाए । (अथ किं व्यवसितमार्थया ?)

कुटुम्बिनी—(सवाष्पम्) भत्तुणो चलणमणुगच्छन्तीए अप्पाण्-गहो होदि त्ति । (भर्तृश्ररणमनुगच्छन्त्या—आत्माऽनुग्रहो भवति इति ।)

चन्दनदासः—अज्जे ! दुव्ववसिदं एदं दे, ता दाणीं अज्जाए अअं असुणिदलोअव्ववहारो कुमारो अणुगेह्मिदव्वो त्ति । (आर्ये ! दुर्व्यवसित-मिदन्ते, तदिदानीमार्थयाऽयमश्रुतलोकव्यवहारः कुमारोऽनुग्रहीतव्य इति ।)

कुटुम्बिनी—अणुगेह्मन्तु णं प्पसण्णओ कुलदेवदाओ । जाद ! पुत्तअ ! प्पणम अपच्चिमस्स पिदुणो पाएसुं । (अनुगृह्णन्त्वेनं प्रसन्नाः कुलदेवताः । जात ! पुत्रक ! प्रणम अपश्चिमस्य पितुः पादयोः ।)

पुत्रः—(पादयोर्निपत्य) ताद ! मए तादविरहिदेण किं अणुचिट्ठी-दव्वं ? (तात ! मया तातविरहितेन किमनुष्ठातव्यम् ?)

चन्दनदासः—पुत्त ! चाणक्कविरहिदे देसे वसिदव्वं । (पुत्र ! चाणक्य-विरहिते देशे वस्तव्यम् ।)

चण्डालौ—अज्ज ! चन्दनदास ! निखादे शूले, ता दाणीं सज्जो होहि । (आर्य चन्दनदास ! निखातः शूलः, तदिदानीं सज्जो भव ।)

कुटुम्बिनी—अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध । (आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।)

चन्दनदास—अच्छा, तुमने क्या करना सोचा है ?

कुटुम्बिनी—(डब डवाई आँखों से) पतिदेव के चरणों का अनुसरण करते अपने आप को कृतार्थ करना ।

चन्दनदास—आर्ये ! तुम्हारा यह निश्चय बड़ा अनुचित है । इस समय तो तुम्हें, लोकव्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ इस वक्त्रे पर दया करनी चाहिये ।

कुटुम्बिनी—इस पर कुलदेवता प्रसन्न होकर दया करें । मेरे बेटे ! सदा के लिए विदा लेने वाले अपने पिता के चरणों को प्रणाम करो ।

पुत्र—(पिता के चरणों पर गिरते हुए) पिता जी ! पिता से विरहित मुझे क्या करना चाहिये ।

चन्दनदास—मेरे बेटे ! चाणक्य से विरहित देश में रहना चाहिये ।

दोनों चण्डाल—आर्य चन्दनदास ! सुली गड़ चुकी, अब तैयार हो जाओ ।

कुटुम्बिनी—बचाओ, लीगा ! बचाओ ।

चन्दनदासः—भद्रमुह ! मुहुत्तअं चिट्ठ । अइ जीविदबच्छले ! किं एत्थ आक्कंदसि ? सगं गदा क्खु ते देवा णन्दा, जे दुक्खिदं इत्थीजणं प्पइदिणं अणु कम्पन्ति । (भद्रमुख ! मुहूर्त्तं तिष्ठ । अयि जीवितवत्सले ! किमत्राक्रन्दसि ? स्वर्गं गताः खलु ते देवाः नन्दाः, ये दुःखितं स्त्रीजनं प्रतिदिनमनुकम्पन्ते ।)

प्रथमश्चण्डालः—अले वेणुवेत्तका ! गेह्ण इमं चन्दनदासं । घलजणो रसअं ज्जेब गमिस्सदि ! (अरे वेणुवेत्तक ! गृहाणेमं चन्दनदासम् । गृहजनः स्वयमेव गमिष्यति ।)

द्वितीयश्चण्डालः—अले वज्जलोमआ ! एसे गेह्णामि । (अरे वज्जलोमक ! एष गृह्णामि ।)

चन्दनदासः—भद्रमुह ! चिट्ठ मुहुत्तअं, जाव पुत्तअं परिस्सआमि (इति पुत्रं परिष्वज्य मूर्ध्नि समाघ्राय) जाद ! पुत्तअ ! अबस्सं भविद-
व्वेवि विणासे मित्रकज्जं समुव्वहमाणो विणासमणुभवामि । (भद्रमुख !
तिष्ठ मुहूर्त्तम्, यावत् पुत्रकं परिष्वजामि । जात ! पुत्रक ! अवश्यम्भवि-
त्येऽपि विनाशो मित्रकार्यं समुद्रहमानो विनाशमनुभवामि ।)

पुत्रः—ताद ! एदं क्लु भणिदव्वं, किं कुलक्कमो क्खु एसो अह्माणं ?
(इति पादयोः पतति ।) (तात ! इदं खलु भणितव्यं किं कुलक्रमः
खल्वेषोऽस्माकम् ?)

चन्दनदास—भाई, थोड़ी देर रुक जाओ । अरो प्राणप्यारी ! रो क्यों रही हो ?
वे महाराज नन्द तो मर गये जो दुःखित स्त्रीजन पर प्रतिदिन दया दरसाते रहे ।

पहला चण्डाल—अरे वेणुवेत्तक ! पकड़ ले चन्दनदास को । इसके घर के लोग
अपने आप चले जायेंगे ।

दूसरा चण्डाल—अरे वज्जलोमक ! देख, पकड़ता हूँ !

चन्दनदास—भाई थोड़ी देर ठहर जाओ । जब तक बेटे से गले लग लूँ ! (बच्चे से
गले लग उसका सिर संधते हुये) मेरे ! लाल ! एक दिन तो मरना ही है, किन्तु मैं,
अपने मित्र के लिये मर रहा हूँ ।

पुत्र—पिता जी ! यह बताये जाइये कि क्या यह हमारी कुलमर्यादा है ? (पैरों पर
गिर पड़ति है) Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीयश्चण्डालः—अले गेह्व वज्रलोमआ (अरे गृहाण वज्रलोमक !)

(चण्डालौ गृहीतश्चन्दनदासमारोपयितुं शूले)

कुटुम्बिनी—(सोरस्ताडम्) अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध ।
(आर्याः ! परित्रायध्वम् परित्रायध्वम् ।)

राक्षसः—(पटाक्षेपेण प्रविश्य) भवति ! न भेतव्यं न भेतव्यम् ।
भो भो शूलायतनाः ! न खलु व्यापादनीयश्चन्दनदासः । कुतः ?—

येन स्वामिकुलं रिपोरिव कुलं दृष्टं विनश्यत् पुरा
मित्राणां व्यसने महोत्सव इव स्वस्थेन येन स्थितम् ।

आत्मा यस्य वधाय वः परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि प्रिय-
स्तस्यायं मम मृत्युलोकपदवी वध्यस्त्रगावध्यताम् ॥ ४ ॥

राक्षसश्शूलमारोढुमुद्यतं चन्दनदासं ध्यायं ध्यायं विस्मृतस्वप्राणरक्षणचिन्तश्शू-
लाधिकारिणो वक्ति—येन स्वामिकुलमित्यादि । अये शूलायतनाः ! न खलु न खलु
व्यापादनीयोऽयं महात्मा चन्दनदासः ! अये ! इयं भवद्भस्तपरिवर्तमाना मृत्युलोक-
पदवी मृत्योर्यमस्य लोक आवासस्तस्य पदवी वर्तनीव विभाव्यमाना वध्यस्त्रक्
'अयमसौ वधार्ह' इति सूचयन्ती करवीरकुरण्टकादिमाला, तस्य महाधमस्य मम
राक्षसहतकस्य वधाय राक्षसं हन्तुमित्यर्थं आवध्यताम् पिनह्यतां गल इति शेषः,
येन पुरा पूर्वमेव स्वामिकुलं स्वस्वामिभूतो नन्दः रिपोः कुलमिव शत्रुवंश इव
विनश्यन्नष्टभ्रष्टो दृष्टः साक्षात्कृतस्सुस्थेनान्तरात्मनेति शेषः, येन च स्वस्थेन सुत-
रामचतशरीरेण सता मित्राणां प्रियसुहृदां व्यसने समापन्ने संकटकाले महोत्सव
इव स्थितं महोत्सवारम्भ इवाचरितं विशोकोल्लसितचेतस्त्वादिति शेषः, अथ च वो

दूसराचण्डाल—अरे वज्रलोमक ! पकड़ लो इसे ।

(दोनों चण्डाल चन्दनदास को सूली पर चढ़ाने के लिये पकड़ लेते हैं)

कुटुम्बिनी—(छाती पीटती हुई) बचाओ अरे लोगो बचाओ !

राक्षस—(पर्दा हटाकर प्रवेश करते हुये) डरो नहीं, देवि ! डरो नहीं । अरे सूली
चढ़ाने वाले ! न मारो चन्दनदास को । क्योंकि,

जिसने पहले अपने स्वामी के कुल को शत्रु के कुल की भाँति, नाश में मिलते देखा है,
जो अपने मित्रों के महासंकट में, मानो महोत्सव की भाँति स्वस्थचित्त रहता आया है और
वध किये जाने के कारण तिरस्कार का पात्र बन चुकने पर भी जिसे, अपने प्राणों का
मोह है उसको अर्थात् मेरे गले में मृत्युलोक की पगडण्डी बंध फाँसी की माल पहना दो ॥

चन्दनदासः—(विलोक्य सबाष्पम्) अमच्च ! किं एदं दे व्ववसिदं ?
(अमात्य ! किमिदं ते व्यवसितम् ?)

राक्षसः—त्वदीयसुचरितैकदेशस्यानुकरणं किल ।

चन्दनदासः—अमच्च ! सव्वं वि मे णिप्फलं एदं प्पआसं करन्तेण
ण मे प्पिअं अणुचिट्ठिदं अमच्चेण । (अमात्य ! सर्वमपि मे निष्फलमिमं
प्रयासं कुर्वता न प्रियमनुष्ठितममात्येन ।)

राक्षसः—सखे चन्दनदास ! कृतमुपालम्भेन, स्वार्थप्रधानो हि जीव-
लोकः । भद्रमुख ! अयमर्थो निवेद्यतां तावद् दुरात्मने चाणक्याय ।

चण्डालो—अध किं त्ति ? (अथ किमिति ?)

राक्षसः—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनाऽतिलघुतामौशीनरोयं यशः ।

युष्माकं विजयोत्सेकिनां मौर्याधिकारिणां परिभवच्चेत्रीकृतोऽपि तिरस्क्रियापात्रीकृ-
तोऽपि यस्याहंतापरीतस्याधमशिरोमणेर्ममात्मा शरीरमिदं प्रियोऽस्त्यर्थं सर्वभावेन
संरक्ष्यं संवृत्तमित्यभिप्राय इति ॥ ४ ॥

टिप्पणी—महावीरस्यामात्यराक्षसस्य निर्वेदोऽयं निपुणं निरूपितस्त्वदत्ते
सहृदयहृदयाय ।

राक्षसो निश्चितस्वात्मसमर्पणो घातकानामन्यतमं—चाणक्यनिवेदनाय संशास्ति-
दुष्कालेपीडित । अये वधाधिकृत ! निवेद्यतां दुरात्मने चाणक्याय—पुणोऽस्मि सः, अय-

चन्दनदास—(देखकर—डबडबायी आँखों से) अमात्य ! आप, यह क्या कर रहे हैं ?

राक्षस—भाई ! तुम्हारे मद्दनीय चरित के एक अंश का अनुकरण-अनुकरणमात्र ।

चन्दनदास—अमात्य ! मेरे इस सभी प्रयास को निष्फल बनाते हुये अमात्य ने
अच्छा नहीं किया ।

राक्षस—मित्र चन्दनदास ! उलाहना न दो । संसार में स्वार्थ ही सब कुछ है ।
भाई ! दुष्ट चाणक्य से यह सब निवेदन कर दो ।

दोनों चण्डाल—क्या (निवेदन करें) ।

राक्षस—यही कि—

दुष्टों को प्रिय लगने वाले इस पापमय कलिकाल में भी, अपने प्राणों के द्वारा दूसरे

बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लृप्तं विशुद्धात्मना

पूजाहोऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेवोऽस्मि सः ॥५॥

प्रथमः—अले वेणुवेत्ता । तुमं दाव सेट्ठिचन्दनदासं गेल्लिअ इमस्स मसाणपादवस्स छाआए सुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अहं अज्जचाणक्कस णिवेदेमि जधा—‘गृहीदो अमच्चलक्खसो त्ति । (अरे वेणुवेत्तक ! त्वं तावच्छेष्टिचन्दनदासं गृहीत्वाऽस्य श्मशानपादपस्य च्छायायां सुहूर्त्तन्तिष्ठ, यावदार्यचाणक्यस्य निवेदयामि, यथा ‘गृहीतोऽमात्यराक्षस’ इति ।)

द्वितीयः—अले वज्जलोमआ ! एव्वं होदु (अरे वज्रजोमक ! एवं भवतु ।)

महमुपागत एव राक्षसाधमस्स्वात्मसमर्पणाय यत्कृते यत्सौहार्दनिर्वहणकारणात् चन्दनदासः, येन यशस्विना महाकीर्तिमता दुष्काले महापापेऽसज्जनरुचौ दुष्टजन-प्रीतिकरे कलौ कलियुगेऽपि परं कञ्चन सुहृदं दुर्हृदं वा वस्तुतः मादृशं प्राणैः प्रियतमैरपि स्वीयैरसुभिः रक्षता परित्रातुकामेन परित्रातवता औशीनरीयम् औशीनरस्य महाराजस्य शिवेरिदमित्यौशीनरीयं शिविसम्बन्धियशश्शरणागत रक्षगार्जन-जन्मापदानमतिलघुतां नीतं नितरामेव कदर्थितम्, येन च विशुद्धात्मना निरस्ता-हङ्कारममकारेण महात्मना सुचरितैर्यथा मत्कुटुम्बप्राणरक्षणपरिपालनप्रभृतिभिः सुकृत्यैस्स्वकृतैर्बुद्धानां जगदभयदानदीक्षितानां महतां बोधिसत्त्वानामपि चेष्टितं चरितं क्लृप्तं तृणाय मतम्, तव महाहृतकस्य चाणक्यवदोर्वध्यत्वं गतस्त्वया हन्तव्यत्वेन शूलारोहणाय समाज्ञप्त इत्यर्थ इति ॥ ५ ॥

की रक्षा करते हुये, जिस महायशस्वी ने, शरणागत रक्षक महाराज शिवि के यश को भी नीचा दिखाया है और अपने पवित्र आचरण के द्वारा, जिस विशुद्धात्मा ने, बोधिसत्त्वों के भी चरित्र को तुच्छ दिखाया है, वह पूजनीय महापुरुष जिस (राक्षस) के लिये सूली पर चढ़ाया जा रहा है वह राक्षस मैं हूँ ॥ ५ ॥

पहला चण्डाल—अरे वेणुवेत्तक ! तू इस सेठ चन्दनदास को पकड़े इस श्मशान-वृक्ष की छांह में क्षणभर, ठहर जा, जब तक मैं आर्य चाणक्य से निवेदन करूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये ।

दूसरा चण्डाल—वज्रजोमक ! ऐसा ही हो ।

(इति सपुत्रदारेण चन्दनदासेन सह निष्क्रान्तः)

प्रथमः—(राक्षसेन सह परिक्रम्य) के के एत्थ दुआलिआणं ?
णिवेदेध दाव णन्दकुलसेणसञ्चअचुण्णणकुलिसस्स मौलिकुलपदि-
ट्ठाविदधम्मसञ्चअस्स अज्जचाणकस्स । (कः कोऽत्र दीवारिकाणाम् ?
निवेदयत तावत् नन्दकुलसैन्यसञ्चयचूर्णनकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापित-
धर्मसञ्चयस्यार्यचाणक्यस्य ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) एतदपि नाम राक्षसेन श्रोतव्यम् ?

चण्डालः—('एसो क्खु अज्जाणीदिसंजमिदबुद्धिपलिसले गहीदे
अमच्चलक्खसे'ति । ('एष खल्वार्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरो गृहीतोऽमात्य-
राक्षसः' इति ।)

(ततः प्रविशति जवनिकावृतशरीरो मुखमात्रदृश्यः सहर्षश्चाणक्यः)

चाणक्यः—भद्र ! कथय कथय—

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?

पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ? ।

चाणक्यश्चावितराक्षसग्रहणः परां मनःप्रसन्तिं प्राप्तश्चाण्डालं निवेदितैतद्-
वृत्तान्तं गर्भितस्वात्मश्लाघं वक्ति—केनोत्तुङ्गेश्यादि । अये ! केन गृहीतोऽमात्यरा-
क्षसः, केन लोकोत्तरबुद्धिचैभवोपेतेन महानिपुणेनेति शेषः, उत्तुङ्गशिखाकलापकपिल-

(बाल-वच्चे समेत चन्दनदास के साथ बाहर चला जाता है)

पहला चण्डाल—(राक्षस के साथ घूमते-फिरते) अरे ! कौन है द्वारपालों में से !
नन्दकुल के सैन्य-संचय के संहारक महावज्र और मौर्य-वंश के रूप में धर्म-सञ्चय के
महाप्रतिष्ठापक आर्य चाणक्य से निवेदन करो ।

राक्षस—(स्वगत) राक्षस को यह सब भी सुनना है !

चण्डाल—आर्य की नीति से जकड़ कर बाँधी गई नीति वाले ये अमात्य राक्षस हैं ।

(पर्दे की ओट में, केवल मुँह बाहर किये, प्रसन्नवदन चाणक्य का रंगमंच पर प्रवेश)

चाणक्य—भद्र ! बताओ, बताओ,

कौन है वह जिसने कपड़े की छोर में, ऊँची धधकती लपटों से लाल-लाल आग
बाँध ली है ! धूम है वही, जिसने/स्त्री के आल से/लट्टों/आँध को/ आँध से/आन्त कर

केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?

भीमः केन चलैकनक्रमकरो दोभ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ? ॥ ६ ॥

चण्डालः—णं पीनिणिउणबुडिडणा अज्जेण ज्जेव । (ननु नीति-
निपुणबुद्धिनाऽऽर्येणैव ।)

उत्पुङ्गुरूर्ध्वज्वलनैरूर्ध्वगामिभिर्वा शिखाकलापैर्ज्वालाभारैः कपिलः पिङ्गाभ ऊर्ध्वग-
ज्वालाजटालशिखी महावह्निः पटान्ते स्वधृतवस्त्राञ्चले वद्धस्संयम्य शान्तीकृतः ?
राक्षसग्रहणं खलु महाज्वालज्वलनसंयमनमिव किमपि दुष्करं निपुणकृत्यं येन
महानीतिज्ञेन कृतं सोऽस्मि महामतिरिति गूढोऽभिप्राय इति । केन विपुलनीति-
बलेनेति शेषः । सद्यः अकस्मादेव पाशैस्संयमनरज्जुभिस्सदागतेर्महाबलस्य मात-
रिश्चनो वायोर्वाऽगतिता गत्यभावस्थितिर्वैगशिथिलता वा समासादिता विहिता ?
राक्षसग्रहणं किल वेगेन वहतो वायोः पाशबन्धनमिव जनैरसंभाव्यं किमपि महा-
कर्म येन कृतं सोऽहमस्मीति भाव इति । केनालौकिकमतिमतेति शेषः, अनेकपदान-
वासितसटोऽनेकपानां द्विपानां महागजानां दानैर्मदजलैर्वसिता परिमलनमवाप्ता
सुरमितीकृता वा सटा केसरकलापो यस्यैवंभूतो मारितः राजस्सिंहः, पञ्जरेऽर्पितः
पञ्जरे बद्ध्वा निश्चेष्टीकृतः ? राक्षसग्रहणं हि दुर्दान्तस्य वनराजस्य सिंहस्य पिञ्जर-
ग्रहणमिव महासाहसकर्म येन कृतं स एवाहमिति निपुणोऽर्थ इति । केन महाबलि-
ष्ठेनेति शेषः, दोभ्यां हस्ताभ्यामेव भीमो भयावहश्चलैकनक्रमकरः चलास्सर्वत्र
भ्रममाणा एके महान्तो नक्राः मकराश्च यत्रैवंभूतो चञ्चलनक्रमकरबहुलोऽर्णवो महा-
सागरस्तीर्णः पारं प्राप्तः ? राक्षसग्रहणं तु भीषणपारावारतरणमिव येन नीतिहस्तेन
सम्पादितं सोऽहमस्मीति निगूढं रहस्यमिति ॥ ६ ॥

दिप्पणी—अत्र समीच्य विनियोजितो योऽयमप्रस्तुतवह्निग्रहणादिना प्रस्तुत-
राक्षसग्रहणाद्यवगमरूपोऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारस्तेन हि नीतिवीरस्य चाणक्यनायकस्य
गर्वभावः 'आत्मन्याधिक्यधीर्गर्वो विद्यादेरन्यरीढये'ति रूपरूपितो धर्षणाद्यनुभावान्
विभावांश्च स्वबलविनिश्चयादीन् समाक्षिपन् सहृदयहृदये वीररसात्मनोजिहान-
स्समाक्रान्तान्यभावस्सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् स्फुरति ।

दिया है, कौन है वह जिसने गजराजों के मद-जल से भीनी सटाओं वाले सिंह को
पिंजड़े में बन्द कर दिया है ? और कौन है वह जो नक्र- मकरों से विक्षुब्ध महासागर को
दार्थों से तैर कर पार कर लिया है ? ॥ ६ ॥

चण्डालः—राजनीति में निपुण बुद्धि भावों ने ही (यह सब किया है) ।

चाणक्यः—भद्र ! मा मैवम् । नन्दकुलद्वेषिणा दैवेनेति ब्रूहि ।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! अयं स दुरात्मा, अथवा अयं स महात्मा कौटिल्यः । यतः—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः ।

गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥ ७ ॥

चाणक्यः—(विलोक्य सहर्षम्) अये ! अयममात्यराक्षसः, येन-महात्मना—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः ।

राक्षसश्चाणक्यं पुरोवर्तिनं पश्यन् प्रीतमानसो महात्मदर्शनेन स्वगतं वक्ति—
आकर इत्यादि । अये ! नायं दुरात्माऽपि तु महात्मा खलु कौटिल्यो यो हि रत्नानां
महाघाणां मणीनामाकर उत्पत्तिभूमिस्सागरस्समुद्र इव सर्वशास्त्राणां सर्वशास्त्र-
संग्रहैकरूपाणां राजनयानामाकरः कोप्युत्पादचेत्रमिव मत्पुरतस्तिष्ठति । अद्याव-
धि मत्सरिणो वयं यस्य बुद्धिविभवमनतिशयनीयं मन्वानाः मत्सराक्रान्तमानसा
अस्मादृशा हन्त ! यस्य महात्मनो गुणैर्न परितुष्यामो गुणवर्णनाभिः परितोषं न
प्राप्नुम इत्यभिप्राय इति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र योऽयं कौटिल्यार्थशास्त्रगः—

‘प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायस्सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयस्सर्वधर्माणां शश्वदान्वीचिकी मता ॥’ इति ।

श्लोकस्तमेव कदाचित् स्मारं स्मारं समुपनिवध्नाति नाटककविरयमाकरः सर्व-
शास्त्राणामित्यादिश्लोकमिति । सर्वथा चाणक्य एव राजनयं सर्वथाऽन्वीक्षमाणो-
ऽवतीर्ण एवान्वीचिकीजानिरिति ।

चाणक्योऽमात्यराक्षसं पुरः पश्यन् संग्रहदृष्टेतास्तमेव श्लाघमानो वक्ति—
गुरुभिरित्यादि । अये ! अयममात्यराक्षसो येन महात्मना वृषलस्य सन्नाजो

चाणक्य—अरे भाई ! ऐसा नहीं । यह कहो कि नन्दकुल के द्वेषी दैव ने (यह सब किया है) ।

राक्षस—(देखते हुये स्वगत) अरे ! यही वह दुरात्मा-नहीं नहीं महारामा चाणक्य है ! क्योंकि रत्नों के आकर समुद्र के समान यह समस्त शास्त्रों का आकर है । वस्तुतः, इसके गुणों के ईर्ष्याळु हम इसका गुणगान करते संतुष्ट नहीं हो पाते ॥ ७ ॥

चाणक्य—(देखकर, प्रसन्नतापूर्वक) ओह ! यह रहा महामात्य राक्षस ! जिस महापुरुष ने (मेरे स्तर जगते रहने वाले (राक्षसीतिहा) कल्पना सागरनी क्लेशों से,

चिरमायासिता सेना वृषलस्य, मतिश्च मे ॥ ८ ॥

(जवनिकामपनीयोपसृत्य च) भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते ।

राक्षसः—(स्वगतम्) 'अमात्य' इति लज्जाकरमिदानीं विशेषणपदम् । (प्रकाशम्) भो भो विष्णुगुप्त ! न सां श्वपाकस्पर्शदूषितं स्पृष्टुमर्हसि ।

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! नायं श्वपाकः । अयं खलु दृष्टपूर्वं एव भवता सिद्धार्थकनामा राजपुरुषः, योऽयमसौ द्वितीयः, सोऽपि सुसिद्धार्थकनामा राजपुरुष एव । ताभ्यामेव सह सौहार्दमुत्पाद्य शकटदासोऽपि तपस्वी तं तादृशमजानन्नेव कपटलेखं मयैव लेखितः ।

महाबलस्य मौर्यस्य सेना चतुरङ्गवाहिनी मे मम राजनयमहाशक्तेश्चाणक्यस्य मतिर्बुद्धिश्च चिरं बहुकालमभिव्याप्य दीर्घजागरहेतुभिर्दीर्घः बहुकालात्प्रवर्त्तमानो यो जागरो निद्राभावस्तस्य हेतुभिः कारणतयाऽवस्थितैर्गुरुभिरिति प्रवृद्धैः कल्पना-क्लेशैर्वृषलसेनापक्षे पत्नीनामश्वचलानां हस्तिसेनानां वा याः कल्पनास्तत्तत्सन्नाह-विशेषा एव क्लेशा महायासास्तैश्चाणक्यमतिपक्षे चोपायचतुष्टयस्य सन्धिविग्रहा-दिषाङ्गुण्यस्य वा याः कल्पना बहुविधाः प्रयोगप्रकारा एव क्लेशा महायासा-स्तैश्चायासिता शृशं कदर्थीकृतेति भाव इति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यनायकगत उत्साहभावो धृत्याख्येन राक्षसग्रहणरूपेष्ट-लाभादिजन्मना व्यभिचारिभावेन समुपचितो गतानुशोचनादिभिरनुभावैरनुभाव्यमानस्सामाजिकहृदयवर्तिनोत्साहेनैकरूपो रसीभवतीति वेदितव्यं सुधीभिरिति ।

वृषल की सेना और मेरी बुद्धि दोनों को बहुत दिनों तक, परेशानी में डाल रखा है ॥८॥

(पर्दा हटाते हुय-पास पहुँच कर) महामात्य राक्षस ! विष्णुगुप्त का प्रणाम स्वीकार करो ।

राक्षस—(स्वगत) इस समय 'अमात्य' यह विशेषण, तो, मेरे लिये, लज्जाजनक है ।

(प्रकट रूप में) विष्णुगुप्त ! चण्डाल के स्पर्श से दूषित मुझे मत छूओ ।

चाणक्य—महामात्य राक्षस ! यह चण्डाल नहीं । यह आपका पूर्वपरिचित सिद्धार्थक नाम का राजपुरुष है और यह जो दूसरा है वह भी सुसिद्धार्थक नाम का राजपुरुष ही है । इन्हीं दोनों के साथ सौहार्द उत्पन्न करा कर, मैंने ही बेचारे शकटदास से, उस प्रकार का बड़ा क्लेश उत्पन्न किया है ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः ।

चाणक्यः—किं बहुना, सङ्क्षेपतः कथयामि—

भृत्या भद्रभटादयः, स च तथा लेखः, स सिद्धार्थकः,

तच्चालङ्करणत्रयं, स भवतो मित्रं भदन्तः किल ।

जीर्णोद्यानगतः स चार्त्तपुरुषः, क्लेशः स च श्रेष्ठिनः,

सर्वं मे—(इत्यर्द्धोक्ते लज्जां नाटयति)

वृषलस्य वीर ! भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥ ९ ॥

चाणक्योऽमात्यराक्षसं प्रति स्वीकृतं सर्वं स्पष्टयन्नाह—भृत्या इत्यादि । अये वीर ! महाशूर ! महामात्यराक्षस ! सर्वं समस्तमेवेदं, तथाहि—भद्रभटादयो मौर्यराज-पुरुषा भृत्याः भवतां गजास्वाभ्यक्ष्याद्यधिकारेषु प्राप्तप्रतिष्ठाः यदिति शेषः, स च तथा लेखो मन्त्रोक्तिप्रयोगभूतो भवदभिन्नेन शकटदासेन मया लेखितो भवन्मुद्रा-लान्छितः कपटलेखो यत्, स मद्गूढप्रणिधिर्भवत्सनेहपात्रं सिद्धार्थकश्चरितार्थीकृता-भिधान एतन्नामा भवद्वशीकारमहानिदानभूतः मौर्यराजपुरुषो यत्, पर्वतेश्वर-घृतपूर्वं भवता वणिग्भ्यो विक्रयेणाधिगतं भवत्लेखभूतस्य मत्कपटलेखस्याशून्यी-करणप्रयोजनकमलङ्करणत्रयं यत्, स किलाऽस्मत्सुहृज्जीवसिद्धिनाम्ना क्षपणकी-भूतो गूढप्रणिधिर्भदन्तः भवतो मित्रं भवद्विरवासपात्रं यत्, स च मच्चरो जीर्णो-द्यानगत आर्त्तपुरुषो भवता स्वव्यसनसम्ब्रह्मचारीति विभाव्यमानो यत्, तथा चान्ते-स च श्रेष्ठिनः मणिकारश्रेष्ठिनश्चन्दनदासस्य क्लेशः कारानिक्षेपशूलव्यापादनादि-रूपो यत्, केवलं भवता प्रज्ञा-विक्रमभक्तिमता महामात्येन परीक्षिततत्तत्सर्वगुण-प्रकरविभवेन वृषलस्य सम्राजश्चन्द्रगुप्तमौर्यस्य संयोगमिच्छोस्सम्बन्धमभिलष्यतः मौर्यप्रभुशक्त्येर्भवन्मन्त्रशक्त्या प्रागुष्टं विधातुकामस्य मे मम चाणक्यस्य विष्णु-शर्मणो नयः नीतिप्रकार एवेति भाव इति ॥ ९ ॥

राक्षस—(आत्मगत) सौभाग्य की बात है कि शकटदास के प्रति संदेह दूर हो गया !

चाणक्य—अधिक कहने की क्या आवश्यकता, संक्षेप में कहता हूँ—‘भद्रभटप्रभृति भृत्यगण उस प्रकार का वह कूटपत्र, वह सिद्धार्थक, वे तीनों आभूषण, आपका मित्र वह भदन्त (जीवसिद्धि), जीर्णोद्यान में गया वह आर्त्तपुरुष, सेठ चन्दनदास का वह क्लेश—यह सब मेरा (इतना कहते ही, लज्जित होने का अभिनय करते हुये) नहीं, नहीं, वृषल का तुमसे संबन्ध स्थापित करने के लिये, हे महावीर ! मेरा ही राजनीतिक कूटनय है ॥ ९ ॥

तदेष वृषलस्त्वां द्रष्टुमागच्छति । पश्यैनम् ।

टिप्पणी—(१) अत्र राजनीतिविदा नाट्यनयनिपुणेन च नाटककविनाऽमुना निर्वहणसन्धेरूपक्रम उपनिबध्यते । निर्वहणसन्धावमुष्मिन् चाणक्यनायकस्य फलागमरूपाऽवस्था कायवाङ्मनोव्यापृतिः प्रकाशीभवतीति नातितिरोहितं सामाजिकानाम् । फलागमलक्षणं तु यथा नाट्यदर्पणे—

‘साक्षादिष्टार्थसंभूतिर्नायकस्य फलागम’ इति ।

फलागम इति तु फलस्याऽभिप्रेतस्य प्रयोजनस्य यथाऽत्र राक्षसकृतचन्द्रगुप्तसाध्विव्यस्वयंग्रहणस्यागम आगमनारम्भो न पुनरागतत्वमिति । फलागमावस्थेयं फलस्योत्पादावेशरूपा पञ्चम्यवस्था सेयमवस्था चाणक्यनयोत्साहबीजस्य प्रथमाङ्कसमुत्पत्त्याऽस्यां रसाप्यायितायां नाटकभुवि कियदुच्छ्रिततासम्यगङ्कुरोद्भेदस्तम्बभवनपुष्पोद्गमक्रमविभाव्यमाना फलोत्पादनरूपेति विचारणीयैतन्नाटकानुरागिभिरिति । अस्या अवस्थायाः कार्येणार्थप्रकृतीनामर्थोपायानां वाऽन्यतमेन कार्यनामकेन चाणक्यनायकप्रयुक्तभेदोपायादिपरिवृंहणरूपेण नाटकवर्णनाविषयीभूतेन यस्संयोगस्तद्द्वारा निपुणं निर्व्यूढमिदं नाटकस्य निर्वहणमिति । निर्वहणसन्धिस्तु—

‘सवीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः ।

फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं भ्रुवमि’ति ॥

लक्षितरूपः । लक्षणतात्पर्यन्विदम्—यथा खलु कस्यापि कार्यस्य प्रारम्भो निर्वाहाविनाभावी तथा सर्वरूपकेषु मुखसन्धिरिव निर्वहणसन्धिरपि भ्रुवं निबन्धमर्हतीति । अस्मिन् हि सन्धावस्य नाटकस्य नाटकार्थराशेर्वा यद्वीजविकृतं फलौन्मुख्यरूपं या चावस्था फलावाप्तिरूपा चाणक्यनायकचरितस्य तयोस्सुतरां साङ्गत्यमेव दृश्यते । अत्रैव च नानाबीज-विन्दु-कार्याणि भावयन्ति फलं साधयन्ति निष्पादयन्तीति भावा उपायास्समुपसंहता विभाव्यन्ते । अत्र खलु नानाभावाः—स्तथा हि चाणक्यनायकस्योत्साहरूपः स्थायी, घृति-गर्वादिरूपा व्यभिचारिणश्च तैस्तैर्विभावानुभावैस्सुखमभिव्यक्तिविषयीभवन्तः पर्यन्ते च रसात्मना स्वदते नीत्युत्साह एव सामाजिकेभ्य इति । अत्रैव खलु सर्वेऽपि मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शरूपाश्चत्वारस्सन्धिभागाः बीजोद्भाटादितत्तद्विशेषविशिष्टा आरम्भादिरूपावथाभिव्यक्तकास्तत्तत्स्थायिव्यभिचार्यादिभावसम्पत्परिकर्मितास्सन्तः फलेन परमप्रयोजनेन चाणक्यनायकगतेन सम्यगौचित्येन सम्बध्यमानाः परिच्छिन्नमहाफलाः परिच्छिद्यन्ते साक्षात्क्रियन्ते च विमर्शकैरित्यलं बहुवितर्कणेति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) का गतिः ? (प्रकाशम्) एष पश्यामि ।

(ततः प्रविशति राजा, विभवतश्च परिवारः)

राजा—(स्वगतम्) विनैव युद्धादार्येण पराजितं दुर्जयं रिपुकुलमिति लज्जित इवास्मि । मम हि—

फलयोगमवाप्य सायकानमनियोगेन विलक्षतां गतानाम् ।

न शुचेव भवत्यधोमुखानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै ॥ १० ॥

(२) अत्र निर्वहणसन्धेर्निर्णयाख्यमङ्गं निबद्धम् । निर्णयलक्षणन्तु 'निर्णयोऽनु-
भवस्यातिरि'ति । अत्र चाणक्येन ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपद्यमानं वाऽऽमात्यराक्षसं
प्रति समस्तस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं यत्कथनं तस्यैव स्वरूपं विचारितरमणीयं
विभातीति ।

राजा चन्द्रगुप्तश्चाणक्यनायकं नीतिजितराक्षसप्रतिनायकं विभावयन् वक्ति
स्वगतं—फलयोगमित्यादि । अये ! विनैव युद्धं यत् पराजितमार्यचाणक्येन दुर्जयं
रिपुकुलं तल्लज्जाकरमेव मम संवृत्तम् । तथा हि—मम सायकानां मद्वाणानां मत्स्त्रे-
न्यवलप्राग्भारस्य वा बाणसंहतीनां फलयोगमवाप्य फलैश्शत्रुयैर्योगसम्बन्धस्तं
प्राप्याथवा स्वयमेवोपनयमानं विग्रहरूपं—फलमधिगम्याप्यनियोगेन शत्रुवधाख्ये
कार्ये व्यापाराभावेन विलक्षतां गतानामनवासशरव्यतानामत एव च हेतो-
रधोमुखानां तूणीर एवावस्थितानामतिलज्जालुकानामिव यत् {शुचेव निश्चेष्टावस्थि-
तिरूपसंतापेनेव निजतूणीशयनव्रतं } निजतूणीषु स्वस्वेपुधीषु यच्छयनं मूढावस्थानं
तदेव व्रतं प्रायश्चित्ताचरणादिरूपं तत् प्रतुष्ट्यै प्रीत्यै प्रहर्षाय वा नेति कथमपि न
संभवीत्यभिप्राय इति ॥ १० ॥

राक्षस—(स्वगत) अव क्या हो ! (प्रकट) मैं देख रहा हूँ ।

(राजा का अपने अनुचर-परिचरों के साथ रंगमंच पर प्रवेश)

राजा—(स्वगत) बिना युद्ध के ही, आर्य ने, दुर्जय शत्रुकुल को पराजित कर
दिया—इससे मैं लज्जित सा हो रहा हूँ ।

मेरे तो,

'लोहे के फलक अथवा शस्त्र के साथ संयुक्त होने पर भी, बिना प्रयोग के लक्ष्यशून्य
अथवा लज्जित हुये और इसीलिये नीचे मुँह लटकाये बाणों का मानो विलक्षता के शोक
से, अपने तूणीरों में सदा प्रहारे करने का जो व्रत है उससे मुझे कोई प्रसन्नता नहीं ॥ १० ॥ ;

अथवा—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव ।

स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥११॥

(चाणक्यमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

चाणक्यः—वृषल ! सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः, तदभिवादयस्व तत्र-
भवन्तममात्यराक्षसम् ; पैतृकस्तवायममात्यमुख्यः ।

राक्षसः—(स्वगतम्) योजितोऽनेन सम्बन्धः ।

राजा—(राक्षसमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तोऽहमभिवादये ।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! अयं चन्द्रगुप्तः । य एषः—

चन्द्रगुप्तो भृशं लज्जित्वाऽपि स्वगतं सर्वं समादधानो वदति—विगुणीकृतेत्यादि ।
मम इव मौर्यस्येव स्वपतो राज्यसुखनिद्रानिमग्नस्यापि यस्य प्रभोस्तन्त्रे राज्य-
तन्त्र इति भावः, स्वविषयपरविषयादिसमस्तयोगक्षेमसम्पादनात्मके कर्मणि कार्ये
जागरूकाः कर्तव्यपरायणाः प्रतिविहिततत्त्वसमस्तव्यापाराः गुरवः आर्यचाणक्य-
सदृशा महान्त आचार्या जाग्रति सततमुद्युज्यमाना एव वर्तन्ते असौ विगुणीकृत-
कार्मुकोऽपि विगुणीकृतं कार्मुकं येन यस्य वा तथाभूतोऽपि राजा भुवि विश्वस्मिन्न-
स्मिन् जगति जेतव्यं यावद्विजयाकाङ्क्षितं सर्वमपि बाह्याभ्यन्तरवर्तिशत्रुजातं जेतुं
पराभवितुं समर्थः शक्त एवेति भावः ॥ ११ ॥

अथवा—

‘मेरे समान सुख की नींद सोने वाले भी जिस राजा के राज्यतन्त्र संचालन में
(आचार्य चाणक्य सरीखे) गुरुजन राजकार्य में सतत जागरूक हों वह राजा, धनुष पर
प्रत्यक्षा चढ़ाये बिना भी, संसार में कुछ भी ऐसा जीतने योग्य विषय नहीं जिसे न
जीत सके ॥ ११ ॥

(चाणक्य के पास पहुँच कर) आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है ।

चाणक्य—वृषल ! तुम्हारे लिये हमारे सभी आशीर्वाद सफल हो गये । पूज्य अमात्य
राक्षस को प्रणाम करो । ये तुम्हारे पितृपराम्परा प्रधानामात्य हैं ।

राक्षस—(स्वगत) उसने सम्बन्ध भी जोड़ दिया !

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य ! मैं चन्द्रगुप्त प्रणाम कर रहा हूँ ।

राक्षस—(देखते हुये स्वगत) अरे ! वह चन्द्रगुप्त है जो कि—

बाल एव हि लोकेऽस्मिन् सम्भावितमहोदयः ।

क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ॥ १२ ॥
(प्रकाशम्) राजन् ! विजयस्व ।

राजा—आर्य !—

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।

गुरो षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ॥ १३ ॥

अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तं विभावयन्स्वागतं वक्ति—बाल एवेत्यादि । अये ! अयं स चन्द्रगुप्तो यो हि बाल एवाप्ररूढयौवन एव सन् लोकेऽस्मिन् सर्वस्मिन् संभावितमहोदयस्सर्वैरेव संभाव्यमानविपुलाभ्युदयो द्विपो गजो यूथैश्वर्यमिव गजयूथाधिपत्यमिव क्रमेण क्रमशः राज्यं मगधसाम्राज्यमारूढवान् समारूढो विराजत इति शेष इति ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अत्रामात्यराक्षसस्य विस्मृतशत्रुभावस्य प्रतिनायकीभूतस्यापि किमपि महोदार्यमभिव्यनक्ति, वाचोयुक्तिरियम् ।

राजा चन्द्रगुप्तोऽमात्यराक्षसं वितीर्णविजयाशीर्वादं संवर्धयन् वक्ति—जगत इत्यदि । आर्य ! महामात्य राक्षस ! षाड्गुण्यचिन्तायां षाड्गुण्यस्य मत्स्रा-म्राज्यस्य सन्धि-विग्रह-याना-सन-संश्रय-द्वैधीभावरूपकार्यजातस्य चिन्तायां पर्येषणाप्रयोगादिरूपायामार्ये गुरावाचार्ये चाणक्ये महात्मनि, आर्ये च भवति प्रज्ञा-विक्रम-भक्तिमये महामात्ये जाग्रति सततं जागरूके सति मया संप्राप्तसमस्त-

‘इस संसार में, अपने बाल-काल से ही, अपने महान् अभ्युदय की सब को आशा बंधवाता रहा ! अरे ? इसने तो क्रमशः वैसे ही साम्राज्य का सिंहासन पा लिया जैसे छोटपन से ही होनहार कोई गजशावक अपने गज-यूथ का अधिपत्य पा ले ।’ ॥ १२ ॥

(सुनाकर) विजयी रहो, राजा चन्द्रगुप्त ! विजयी रहो ।

राजा—पूज्यचरण !

‘मला आप ही सोचें—जब कि हमारे लिये, हमारे राज्य के सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय और द्वैधीभाव के समस्त कार्यकलाप में आप सरीखे और हमारे आचार्य चाणक्य सरीखे महापुरुष सतत प्रयत्नशील रहें तो संसार की वह कौन-सी विजय है जो मेरी न हो जाय ?’ ॥ १३ ॥

राक्षसः--(स्वगतम्) स्पृशति मां कौटिल्यशिष्यो भृत्यभावेन, अथवा विनय एवैषः । चन्द्रगुप्तस्य मत्सरस्तु मे विपरीतं कलयति । सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः । कुतः ?

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा ।

अद्रव्यमेत्य तु विविक्तनयोऽपि मन्त्री

शीर्णाशयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥ १४ ॥

राज्यसुखभोगेन जगतः किं न विजितं सकलमेव जगत् स्ववशीकृतमेवेति प्रवि-
चिन्त्यताम् बुध्यतामिति भाव इति ॥ १३ ॥

अमात्यराक्षसश्चाणक्यं यशस्विनं निर्बणंयन् वदति स्वगतं—द्रव्यमित्यादि ।
चाणक्यो यशस्वोति सर्वथा युक्तमेव । तथाहि यदि जडात्मनोऽपि मन्दबुद्धिविभव-
स्यापि नेतुर्नायकस्य मन्त्राधिकाराधिष्ठितस्य कस्यचनामात्यादेर्जिगीषुं विजिगी-
षासम्पदुपेत द्रव्यं योग्यं कृतकस्वामाविकविनयविनीत राजानमधिगम्य संप्राप्य
यशस्विनि पदे महायशोमये स्थाने प्रतिष्ठामहनीयस्थिरस्थितिनियताऽवश्यंभाविनी
तर्हि महाबुद्धेर्महानीतिज्ञस्य चाणक्याचार्यस्य तु सुतरामेव सा सिद्धेति शेषः । तु
किन्तु 'विविक्तनयोऽपि विशुद्धतत्तद्राजनयमार्गोऽपि विशोधिताखिलतन्त्रावापोऽपि
मन्त्री मन्त्राधिकारे नियुक्तः कश्चनास्मादृशो यदि शीर्णाशयो जर्जरिताधारस्सम्
कूलजवृक्षवृत्त्या नदीतटवर्त्तितरुदिशा पतति पर्यन्ते नश्यति तद्द्रव्यमेत्यायोग्यं
दुर्विनीतं मलयकेतुमिव राजानं प्राप्यैवेति नात्र मनो नितरां खेदयितव्यं स्वीकार्यं-
मेव यदभूतं तत्प्रहृष्टेनाऽनवसादितेन हृदयेनेति शेष इति भाव इति ॥ १४ ॥

राक्षस--(स्वागत) अरे ? यह चाणक्य का चेला तो जैसे सचमुच मुझे अपना सेवक समझ बैठा ? अथवा यह तो वस्तुतः स्वभाव से ही ऐसी विनीत ठहरा ? केवल 'यह चन्द्रगुप्त है' यह द्वेष ही हमें इसे इसके उलटे दिखाता रहा है ? इसीलिये तो चाणक्य की इतनी कीर्ति ? इतनी प्रतिष्ठा ? क्योंकि--

'मूढबुद्धि भी मन्त्री के लिये, यदि राजा उसे वस्तुतः विनीत और विजि-
गीषा-सम्पन्न मिल जाय मन्त्राधिकार का सुशय तो कहीं गया नहीं । और नहीं तो महानीतिज्ञ मन्त्री भी तो अयोग्य राजा के चढ़ते किारे के कटते किनारे खड़े पेड़ की भाँति, अन्त में गिर ही पड़ते हैं ?' ॥ १४ ॥

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः ?

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! अगृहीतशस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः । यद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते, ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! मा मैवम् । अयोग्या वयमेतस्य ग्रहणे, विशेष-तस्त्वया गृहीतस्य शस्त्रस्य ।

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! योग्योऽहमयोग्यो भवाम् इति कथमेतत् ? पश्य,—

अश्वैः सार्द्धं मजस्रदत्तकविकाक्षामेरशून्यासनेः

स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छामुखैर्वर्जितान् ।

चाणक्योऽमात्यराक्षसं मौर्यसाम्राज्यसञ्चालनधुरीणं मन्वानो भृशं समुपलोकयति—अश्वैरित्यादि । अये ? महाशूर ! महाबल ! महामात्य ! दूसारिदर्पच्छिदो दूसानां चतुरंगबलसन्धेन प्रगल्भमानानामस्मादृष्टानामरीणामद्य यावद् भवच्छत्रुभूतानामथ चाद्यप्रभृतिमित्रोक्तानामिति शेषः, यो दर्पो बलमिमानस्तं सर्वं छिनत्ति विनाशयताति तथाभूतस्यातिपीरुषस्य महापुरुषकारोपेतस्यालौकिकपराक्रमशा-

चाणक्यः—महामात्य राक्षस ! क्यों, चन्दनदास की प्राण-रक्षा तो करनी है न ?

राक्षसः—अरे माई विष्णुगुप्त ! इसमें क्या सन्देह ?

चाणक्यः—अमात्य ! सन्देह इसलिये कि मौर्य पर तो कृपा आपने कर दी किन्तु इसके साचिब्य—चिह्न इस शस्त्र को अपने हाथ में लेने की कृपा तो नहीं की ? यदि सचमुच चन्दनदास को बचाना है तो लीजिये हाथ में यह शस्त्र अपना यहासचिव का चिह्न ?

राक्षसः—ऐसा न कहिये विष्णुगुप्त ! मला आपके द्वारा हाथ में धारण किये गये इस साचिब्य-चिह्न के धारण करने की हमारी कहाँ योग्यता ?

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! आपने भी अच्छा कहा—मुझे योग्य और अपने को अयोग्य, आप से बढ़ कर मला कौन योग्य होगा ? यह देखिये,

'अपने दुर्दान्त शत्रुओं के भी गर्व को चूर करने वाले, महापराक्रमी आप सरोखे महापुरुष का ही तो यह काम रहा कि हमारी अश्वसेनाओं के इन सन्नद्ध, इन निरन्तर लगी-पड़ी लगामों के कारण सुख कर कांटे बने घोड़ों के साथ, हमारी हस्ति-सेनाओं के ये सदा होदा कसे, फूली हड्डी की पीठ लिये, बड़-बड़

माहात्म्यादतिपौषस्य भवतो दृष्टारिदर्पच्छिदः

पश्येतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् गजान् ॥ १५ ॥

अथवा किमनेन ? न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति ।

राक्षसः—(स्वगतम्)—

लिनी भवतो महापुरुषस्यैव माहात्म्यान्महाप्रभावादेतान् सर्वदा सन्नद्धतया समवस्थितान् समवस्थापितान् बाऽजस्रदत्तकविकाक्षामैरजस्रं निरन्तरं निर्व्यवधानं वा दत्ताः कविकाः खलीनादयो येषामत एव क्षामाः क्षीणक्षीणास्तैस्तथासंजातैरथ चाशून्यासनैः कदापि स्वारोहिसैन्यैश्शून्यानि रिक्तीकृतान्यासनानि पर्याणानि येषां नेति तथाभूता ये तैरश्वैरस्मदश्वबलैस्साहं सहैवेतान् पुरो दृश्यमानानवतीर्णरणक्षेत्रान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् परिकल्पनानां रणसज्जानां यां व्यतिकरो विशेषायोगसंयोगादिरूपस्ततः प्रोच्छूनारक्षोथमवाप्ताः वंशाः मेरुदण्डभागाः पृष्ठास्थिभागा वा येषां तथाभूतास्तथा च स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वीजितान् स्नानं जलाशयः आहारः भोजनद्रव्याणि, विहारो जलक्रीडादिः, पानं यथेष्टजलादिपानम्, शयनं निद्रालाभश्च तेषां यत्स्वेच्छासुखं स्वमनोरथीकृतं समुपभोगं जातं तैः सर्वैरेव वज्रितान् विरहितान् गजानस्मद्राज्यसंरक्षणधुरीणान् सैन्यगजान् पश्य निमालय त्वमिति शेषः । सर्वं खलु चतुरङ्गबलमस्माकं भवत्पौषस्य प्रतिबलीकृततयैवाद्यावधि सज्जसज्जमिति भवानेवातिशेते सर्वानस्मानिति माव हति ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अत्र नाटककवेविशाखदत्तस्य यन्मौर्यस्य गजसैन्यवर्णनं तद्वि किमप्येतिहासिकं सर्वसम्मतमौचित्यमेवाभिव्यनक्ति । मगधसाम्राज्यं हि चन्द्रगुप्तोपज्ञं गजबलमहाबलमश्वबलसाहायकं सुस्थिरमभूदित्यस्ति वाद ऐतिह्यविदामिति । अश्वकर्मभ्यो वीवधासारधातरक्षण-बलसारवृद्धि-बाहूत्सार-पूर्वप्रहारदिभ्यस्स-

गजराज इस प्रकार नहाने-घोने, खाने-पीने, बैठने-सोने के सभी सुखों से वंचित सदा सन्नद्ध खड़े रहे ?' ॥ १५ ॥

अधिक तो मुझे कुछ नहीं कहना है, किन्तु इतना निश्चित समझिये कि यदि आप इस शस्त्र-जिह्व को अपने हाथ नहीं लगाते, तो चन्दनदास भी नहीं बच सकता । Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राक्षस—(स्वगत)

नन्दस्नेहकणाः स्पृशन्ति हृदयं, भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव पाणिपयसा च्छेद्यास्त एव द्रुमाः ? ।

शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया
कार्याणां गतयो विधेरपि न यात्यालोचनागोचरम् ॥ १६ ॥

(प्रकाशम्) भो विष्णुगुप्त ! उपानय थङ्गम् । नमः सर्वकार्यप्रति पत्ति-
हेतवे सुहृस्नेहाय । का गतिः ? एष सज्जोऽस्मि ।

मुप-वृंहितं गजबलं हि मौर्यमहाराजाधिराजस्य पुरोयान-तोयसंतरण-विषम-
संबन्ध-मिहसंधानामिहमेदनविभीषिकाप्राप्तन-सालाट्टालकद्वारादिमञ्जनप्रमुखानि
रणकर्माणि कुर्वन्तिमप्यप्रधृष्यं परेषामिति विचाररमणीयेय वचः पद्धतिः
कवेरत्रेति ।

अमात्यराक्षसः सर्वमचिन्तितमेवोपनतं ध्यायं व्यायं स्वगतं वक्ति-नन्दस्नेहकणा
इत्यादि । अये ! विधेर्भाग्यस्य कार्याणां व्यापाराणां विलसितानां वा गतयः प्रकारा
अस्मत्कृतचन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वयंग्रहणादयो यथा आलोचनागोचरमपि न यांति
कथमपीदमित्यमिति विवेक्तुमपि न पायन्ते तथाहि-हृदयं ममान्तरमेकतो नन्द-
स्नेहकणाः नन्दानुरागावशेषास्स्पृशन्ति, किन्त्वपरतस्तद्विद्विषां तच्छत्रुभूतानां
चन्द्रगुप्तादीनां भृत्योऽस्मि साचिव्यरूपदासभावमपि स्वीकरोमि ? यदिदं ममेदृशं
कर्म तदध्यवर्णमप्येव यत् ये द्रुमाः वृक्षास्स्वयमेव पाणिपयसा करधृतसलिलसेकेन
सिक्तास्सिक्तपूर्वास्त एवाधुना निजविषमदशाविवर्तकाले छेद्याः कुठारादिभिर्नि-
पात्या इति । अये ! किमधिकमतोऽचितनीयोपनतं यन्मया शस्त्रं चन्द्रगुप्तसा-
चिव्यस्वोकारचिह्नभूतं मौर्यशस्त्रं व्यापारणीयं ग्राह्यम् । भवतु नाम भवतु
सर्वमिदं मित्रशरीररक्षणकृते मित्रस्य स्वप्राणप्रियसुहृदश्चन्दनदासस्य शरीररक्षणं
प्राणरक्षणं तत्कृते तत्करणाय भवतु न शोच्योऽस्मोत्पथिप्राय इति ॥ १६ ॥

‘यह सोचना भी असम्भव है कि कब भाग्य क्या कर देगा ? आह ? इधर
तो मेरे हृदय में अभी भी नन्दवश के लिये यह प्रेम बचा पड़ा है और उधर मैं
होने चला इसीके शत्रुओं का सेवक ! अरे क्या जिन पौधों को हाथ से सींच-सींच
इतना बढ़ा किया, अब उन्हीं को काट दूँ ? इस साचिव्य-चिह्न को मुझे ही लेना
पड़ा । अब जो भी हो, मित्र की प्राण-रक्षा तो करनी ही पड़ेगी !’ ॥ १६ ॥

(सुनाकर) लाइये, विष्णुगुप्त ! लाइये अपना खड्ग ! मित्रता का निमाना
जो कुछ भी न करवा दे । मैं मित्रता के आगे नतमस्तक हूँ ! मैं खड्ग लेने को
तैयार हूँ ।

चाणक्यः—(सहर्षं शस्त्रमर्पयित्वा) वृषल ! वृषल !! अमात्यराक्षसे-
दानीं गृहीतशस्त्रेणानुगृहीतः ददृष्ट्वा बद्धंते भवान् ।

राजा—आर्यप्रसाद एष चन्द्रगुसेनाऽनुभूयते । (प्रविश्य पुरुषः) जयतु
जसत्वार्यः । आर्य ! एष खलु भद्रभटभागुरायणप्रमुखैः समितकरचरणो
मलयकेतुः प्रतीहारभूमिवुस्थापितः तदिदं श्रुत्वाऽआर्यः प्रमाणमिति (जेदु
जेदु अज्जो । अज्ज ! एसो खलु भद्रभटमाउराअणप्पमुहेहि संजमिअकलचलणो
मलअकेदू प्पडिहारभूमिए अवत्थापिदो, ता एव्व सुणिअ एत्थ अज्जो
प्पमाणं ति)

चाणक्यः—आं श्रुतम् ! भद्र ! निवेद्यताममात्यराक्षसाय, क्षयमिदानीं
राजकार्यं करिष्यति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं दासीकृत्येदानीं विज्ञापनाय मां मुखरीक-
रोति कीदृश्यः ! का गतिः ? (प्रकाशम्) राजन् चन्द्रगुप्त ! विदितमेव
यथा वयं मलयकेतौ किञ्चित् कालान्तरमुषिताः, तत् परिरक्ष्यन्तामस्य प्राणाः ।

चाणक्य—(प्रसन्नतापूर्वकं, शस्त्र सौंप कर) मौर्य ! चन्द्रगुप्त ! बढती होती
रहे, तुम्हारी दिन दूनी रात चौगुनी बढती होती रहे ! अरे ? अब क्या है जब तो
महासाचिव्य का शस्त्र-चिह्न धारण किये महामात्य राक्षस की तुम पर कृपा है !

राजा—आर्य ! यह सब तो आप ही की दया रही ! (एक पुरुष आते हुए)
जय हो, आर्य की जय हो । आर्य ! निवेदन है कि भद्रभट, भागुरायण इत्यादि
के द्वारा हाथ-पैर बंधा मलयकेतु प्रतीहार-भूमि पर उपस्थित किया गया है,
अब आगे, आर्य की जो आज्ञा हो ।

चाणक्य—हां सुन चुका । किन्तु देखो, मुझ से नहीं अपने, महामात्य
राक्षस से निवेदन करो, जिनके हाथ में अब सारा राज्य-संचालन आ चुका है ।

राक्षस—(स्वगत) अरे अभी तो मुझे मृत्यु बनने को विवश किया और
जब इसलिये विवश करने की इच्छा है कि अपनी विवशता मैं प्रत्येक से सुनाता
रहूँ । क्या करूँ ? (सुनाकर) महाराज खन्द्रगुप्त ! यह तो आपको विदित ही
होगा कि हम मलयकेतु के साथ कुछ समय रह चुके हैं ! इसलिये इसके प्राण
न लिये जायें ।

राजा—(चाणक्यमुखमवलोक्य)

चाणक्यः—वृषल ! प्रतिमानयितव्योऽयममात्यराक्षसस्य प्रथमः प्रणयः । (पुरुषमवलोक्य) भद्र ! अस्मद्वचनादुच्यन्तां भद्रमटप्रभृतयः अमात्यराक्षसविज्ञापितो देवश्चन्द्रगुप्तः प्रयच्छति मलयकेतवे पित्र्यमेव विषयम्; अतो गच्छन्तु भवन्तः सहानेन, प्रतिष्ठिते चास्मिन् पुनरागन्तव्यम् ।

पुरुषः—यदार्यं आज्ञापयतीति (जं अज्जो आणवेदिस्ति) ।

चाणक्यः—सिष्ठ तावत्, भद्र ! भद्र !! एवमपरमुच्यतां विजयपालो दुर्गपालश्च—अमात्यराक्षसस्य गृहीतशस्त्रस्य प्रीत्या देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति 'एष तावच्छ्रेष्ठी चन्दनदासः पृथिव्यां सर्वेषु नगरेषु श्रेष्ठिपदमारोप्यतामि'ति ।

पुरुषः—यदार्यं आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि) ।

(इति निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—भो राजन् चन्द्रगुप्त ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राजा—किमतः परं प्रियमस्ति ?—

राजा—(चाणक्य का मुँह देखता है)

चाणक्य—वृषल ! अब यह तो अमात्य राक्षस की पहली माँग हुई, इसे तो मानना ही पड़ेगा । (पुरुष को देख कर) अरे सुन ! जा और मेरी ओर से भद्र-भट इत्यादि को जाकर कह दे कि अमात्य राक्षस की विज्ञप्ति पर, सम्राट् चन्द्रगुप्त की यह आज्ञा है कि मलयकेतु का पंतुक राज्य उसे वापस कर दें और मलयकेतु के साथ, उसके राज्य में जाकर उसे सिंहासनावृत्त कर वापस लौट आवें ।

पुरुष—जो आज्ञा आर्य !

चाणक्य—रुक जा थोड़ी देर । जा विजयपाल और दुर्गपाल से जाकर कह कि अमात्य राक्षस के शस्त्र-धारण करने के महान् उपलक्ष्य में महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि सेठ चन्दनदास को खंसार के जितने भी नगर हैं उन सब का नगर-सेठ बना दिया जाय ।

पुरुष—आर्य को जैसी आज्ञा ।

(बाहर चला जाता है)

चाणक्य—महाराज चन्द्रगुप्त, अब और तुम्हारे लिये क्या किया जाय ?

राजा—अब कुछ नहीं, आर्य ।

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम् ।

नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतः परम् ? ॥१७॥

चाणक्यः—विजये ! उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च, अमात्यराक्षसपरि-
ग्रहेण प्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति—विना हस्त्यश्वं क्रियतां सर्वबन्धमोक्ष
इति अथवा, अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्त्यश्वेन प्रयोजनम् ? तदिदानीम्—

सह बाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।

राजा—चन्द्रगुप्तस्संप्राप्तचाणक्यचिन्तितोपस्थापिततत्तदर्थजातः प्रहृष्टान्तरात्मा
वदति—राक्षसेनेत्यादि । आर्य ! राक्षसेन प्रज्ञा—पुरुषकार—भक्तिमयेन महामन्त्रिणा
समं मैत्री मित्रता संपादिता भवतेति शेषः, वयश्च भवता पूर्वमेवेति शेषः, राज्य
आरोपिताः नन्दसाम्राज्ये प्रतिष्ठां प्रापिता अथ च सर्वे नन्दाः नन्दवर्गीयम्मन्याः
ये केऽपि वोन्मूलिताः विनष्टा एवेत्यतोऽस्मादपि सर्वस्मात् किं परमधिकं कर्तव्यं
करणीयं फलं वा सम्पादनीयं न किमपीति भाव इति ॥ १७ ॥

चाणक्यस्सम्प्राप्तसमस्ताभिलाषोऽमात्यराक्षसं संबद्धं यन्नाह—सह बाहनेत्यादि ।
राजन् चन्द्रगुप्त ! समाज्ञापय बाहनहस्तिभ्यामश्वैर्गजैश्च सह साकै सर्वबन्धनं सर्व-
षामेव बन्धनदण्डेन दण्डितपूर्वाणां प्रजाजनानां बन्धनं संयमनादि मुच्यताम् सत्त्व-

‘अब जब हमें राज्य में आप प्रतिष्ठित कर चुके, राक्षस जैसे महापुरुष से
आपने मित्रता करवा दो और साथ ही साथ बच्चे-खुचे नन्द लोग भी मर ही
मिटे, तो और क्या चाहिये ।’ ॥ १७ ॥

चाणक्यः—विजये ! दुर्गपाल और विजयपाल से आकर कह दे कि अमात्य
राक्षस के मिल जाने की उन्हें बड़ी प्रसन्नता है और इसलिये उनकी आज्ञा है कि
हाथियों और घोड़ों को छोड़ कर सब के बन्धन खोल दिये जाय । किन्तु अब
अमात्य राक्षस के हाथ में राजकाज है तब हाथी-घोड़े का भी क्या काम !
इसलिये अब

मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—यदायं आज्ञापयति (जं अञ्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्ता) ।

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राक्षसः—किमतः परमपि प्रियमस्ति ? यदि न परितोषस्तदिदमस्तु—

(भरतवाक्यम् ।

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुवलाभास्थितस्यानुरूपां

यस्य प्राग्दन्तकोटि प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतघात्री ।

रमेवोत शेषः केवल पूर्णप्रतिज्ञेन सम्पूर्णराक्षसवशीकारकृत्येन साधिततद्विषयक-
सर्वसन्धेन कौटिल्येनैव मया शिखा बध्यते नन्दकुलकालमुज्जो कोपानलवहलघू-
मलतेयं शिखा संयतीक्रियते नानयाऽधुना मुक्तया किमपि कार्यमित्यभिप्राय इति ॥

भरतवाक्यं निबन्धनाह नाटककविः—वाराहीमित्यादि । स पार्थिवो महा-
राजाधिराजश्चोमदबन्धुभृत्यः श्रीमन्तस्संप्राप्तसर्वेषणाः महैश्वर्यवन्तो बन्धव-
स्सगोत्रास्सम्बन्धिनो भृत्यास्सेवकादयश्च यस्यैवंभूतस्साधितसमस्तप्रजाजनयोग-
क्षेमादिकृत्यस्सन् तां महीं महतीं वसुन्धरामिमां चिर बहुकालमवतु परिपालयतु
या हि भूतघात्री भूतानां सर्वेषां चराचराणां जीवानां मातृभूता प्रलयपरिगता
कल्पक्षयविसंशुला सती प्राक् पुरा कदाचित् कालेऽतनुवलां विपुलवतीमनुरूपां
जलाप्लावनतः संरक्षणे सर्वथा समर्था वाराहीं वाराहावताररूपेणावतीर्णां तनुं
दिव्यमङ्गलविग्रहविभूतिमास्थितस्य स्वीकुर्वंत आत्मयोनेस्स्वयमजस्य सर्वस्य च
जन्मादिकारणस्य महाविष्णोयस्याऽचिन्त्यज्ञान-शक्तिकल्याणगुणगणस्य दन्तकोटि

मेरी शिखा का हो बधन हो क्योंकि अपना संकल्प तो अब पूर्ण हो चुका ! शिखा
बाँधता है !' ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—आयें की जो आज्ञा ! (प्रतीहारी का बाहर चला जाना)

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! अब कहो, अब क्या आज्ञा है ?

राक्षस—अब तो सब हो चुका, बस यही एक अभिलाषा है ?

(भरत-वाक्य)

ये, सम्राट् अपने सुखी किंवा समृद्ध बन्धु-बान्धवों और अनुचर-परिचरों
के साथ सदा फूलते-फलते महाराज चन्द्रगुप्त सदा इस पृथिवी पर राज करें जो
चराचर जगत् की सत्ता होने के कारण प्रलय में अपने पुत्रों की प्राण-रक्षा के लिये
या तो पहले महाशक्तिशाली, रक्षासमर्थ, शूकरूप में अवतीर्ण स्वयम् भगवान्

म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमृतः
स श्रीमदबन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥ १९ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति 'मुद्राराक्षसे' सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

वन्ताग्रभागं शिश्रिये समाश्रिता या चाधुना सम्प्रतिम्लेच्छैरुद्वीज्यमाना शक्यव-
नादिभिर्बाह्यशत्रुभिर्धर्मविध्वंसकैर्महालुण्टाकैरुत्पीडयमाना सती राजमूर्तेर्मौर्यचन्द्र-
गुप्तरूपेणावतीर्णस्य यस्यैव महाविष्णाः पीवरं महाशक्तिशालि सर्वलोकसंरक्षण-
समर्थं वा भुजयुगं बाहुयुगलं श्रयते समवलम्बते इति शिश्रिय इत्यस्य लकार-
विपरिणामादिवि भाव इति ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अत्राङ्के निर्वहणसन्धिमुपसंहृतवता नाटककृता यदिदं भरतवाक्यं
विरच्यते तद्धि निर्वहणस्य प्रशस्तिनामकमवश्यनिबन्धनीयमङ्गम् । 'प्रशस्तिः
शुभ्रशंसने'ति लक्ष्यते नाट्यविद्भिर्रङ्गमिदम् । जगतः कल्याणशंसना प्रशस्तिरियम् ।
अन्यानि चाङ्गानि तत्र तत्रोद्धानि यथा—द्युतिः प्रातिकूल्यशमनरूपा 'अमात्यराक्षसः ।
अपीप्यते चन्दनदासस्य जोवितमि'त्यत आरभ्य 'नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृ-
त्स्नेहाये'त्यन्ते संदर्भे, यथा वा काव्यसंहारो वरेच्छारूपो 'राजा किमतः परं प्रिय-
मस्ति ? राक्षसेन समं मैत्री'त्य दिवाचोयुक्तौ यथाऽपि पूर्वभावरूपमङ्गं 'प्राग्भावो
कृत्यदर्शनमि'ति नाट्यविद्भिः परिभाषितं 'चाणक्यः—विजये ! उच्यतां दुर्गपाल'
इत्यादिवाक्ये, यथा खलु प्रथमं कार्यदर्शनस्वरूपं चाणक्यः—वृषल । वृषल !!
अमात्यराक्षसेनेदानीं गृहीतशस्त्रेणानुगृहीत' इत्यादिवाग्विकल्प इति ।

इदं रूपकं रूपितैतिहावृत्तम् इदं रूपकं चित्रितोदारचित्रम् ।

इदं रूपकं सद्रसेदं समृद्धं, सदा भावये मानसोल्लासिरङ्गे ॥

कविः कालिदासः कविः कालिदासः प्रणिन्ये विशाखोऽपि नाट्यं गृहीयः ।

कवि कालिदासं सदा संस्मरामो विशाखं भजामो मुदा नाट्यकारम् ॥

इति राक्षसनिग्रहो नाम सप्तमोऽङ्कः ।

विष्णु की दन्त-कोट का अवलम्ब लेतो रहा या अब विदेशी वनंर आक्रान्ताओं
से उत्पन्न संकट मे भगवान् नारायण के ही राजरूप में अवतार महाराज
चन्द्रगुप्त के प्रबल मुजदण्ड का आश्रय लिये खड़ा है' ॥ १९ ॥

(सभी पात्र रङ्गमंच से चले जाते हैं)

विशेष विवरण

नोट्स (NOTES)

(१) नान्दी—

देव-भूप-सभा-भर्तृमुख्यानां मङ्गलाभिधा ।

नित्या रूपमुखे नान्दी पदैः षड्भिरथाष्टभिः ॥ (नाट्यदर्पण)

नान्दी-संगीत संस्कृत नाटकों का एक आवश्यक अंग है । महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवध में इसीलिये ऐसा उल्लेख किया है—‘पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः’ । (२।८) नाट्यशाला को ‘रंग’ कहते हैं क्योंकि सामाजिकों की रंजना अथवा मनोरंजन का यह सर्वसुलभ साधन है । किसी नाटक के अभिनय के पूर्व जो संगीत का आयोजन अपेक्षित है वह ‘पूर्वरंग’ कहा जाता है । इस पूर्वरंग के प्रत्याहार आदि अङ्गोपाङ्ग भारतीय अभिनय के प्राचीन युग में व्यवहार में आते रहे हैं किन्तु क्रमशः इनका लोप होता गया और इनके प्रतिनिधिरूप में नान्दी-पाठ ही बच रहा है । उपलब्ध संस्कृत के नाटकों में दो प्रकार का नान्दी-पाठ दिखाई देता है—पहला जो नाटककार का ही रचित हो और दूसरा जो नाटक के अभिनय करने वालों द्वारा निर्धारित हो ।

मुद्राराक्षस नाटक की नान्दी-रचना इसके नाटककार की है और इसीलिये इसका उद्देश्य केवल सामाजिकों का मनोरंजन नहीं अपितु नाटक के वृत्त-चरित-भावादि की सूक्ष्म सूचना भी है ।

(२) सूत्रधार—

‘सूत्रं नाट्यसूत्रं धारयतीति सूत्रधारः ।

नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ॥

छन्दाविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः ।

तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ॥

अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः ।

एव गणगणपेतस्मृत्रधारोऽभिधीयते ॥’

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मातृगुप्ताचार्य (बोखम्बा से प्रकाशित अभिज्ञान शाकुन्तल-टीका से उद्धृत)

(३) नटी-

सूत्रधार की पत्नी भी हो सकती है अथवा नाट्यमण्डली से सम्बद्ध कोई स्त्री-पात्र ।

(४) परिषत्—

‘अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्’ (अभिज्ञानशाकुन्तल)—संस्कृतनाटकों के अभिनयदर्शन के लिये उपस्थित दर्शक-मण्डली को ‘परिषद्’ ‘सभ्य’ इत्यादि शब्दों से सूचित किया गया है । ‘परिषद्’ ‘परिषद्य’ ‘सभ्य’ इत्यादि शब्द का अभिप्राय नाटक के दर्शक-सामाजिक का है । कहा भी है—‘सभ्यास्तु विबुधैर्ज्ञेया ये दिदृक्षान्विता जनाः ।’

(५) नाटक—

‘नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नतयतीति नाटकम् ।’
 ‘यद्यपि कथादयोऽपि श्रोतृहृदयं नाटयन्ति तथाप्यङ्गोपायादीनां वैचित्र्यहेतु-
 नामाभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम् ।’ (नाट्यदर्पण)
 संस्कृत में ‘रूपक’ और ‘नाटक’ दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ है ।
 ‘रूपक’ तो व्यापक अर्थ रखता है—‘रूप्यन्तेऽभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि’
 और इसके नाटक, प्रकरण, भाग, व्यायोग, डिम, ईहामृग, अंक, बोधी तथा प्रहसन ये प्रमुख १० प्रकार हैं । किन्तु ‘नाटक’ इन्हीं दस प्रकार के रूपकों में सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट प्रकार है ।

नाटक की परिभाषा

प्रख्यातवस्तुविषयं धीरोदात्तादिनायकम् ।

राजर्षिवंशचरितं तथा दिव्याश्रयान्वितम् ॥

शृङ्गारवीरान्यतरप्रधानरससंश्रयम् ।

प्रकृत्यवस्थासंध्यङ्गसन्ध्यन्तरविभूषितम् ॥

सुखदुःखोत्पत्तिकृतं चरितं यच्च भूभृताम् ।

इतिवृत्तं कथोद्भूतं किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च ॥

नाटकं नाम तज्ज्ञेयं रूपकं नाट्यवेदिभिः । (मातृगुप्ताचार्य)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
 अर्थात् नाटक में जिन विशेषताओं का होना आवश्यक है वे ये हैं —

१-वस्तु-रचना—‘वस्तु’ ‘वृत्त’ ‘कथा’ ‘कथानक’ इत्यादि शब्द संस्कृत नाटकों में ‘प्लाट’ का अभिप्राय रखते हैं। जिस किसी भी कथा अथवा कथानक को संस्कृत का नाटककार नाटक के रूप में रंगमंच पर अभिनय के लिये प्रस्तुत करे उसमें एक घटनाभाग को वह ऐसा संभारता है जो नाटक के प्रमुख चरित के चित्रण के लिये आवश्यक माध्यम का कार्य कर सके। इस प्रकार के घटना-भाग को ‘आधिकारिक वृत्त’ कहते हैं। मूल-घटना अपने आप में जिस प्रकार घटी हो; नाटककार इस घटना को जब ‘इतिवृत्त’ के रूप में नाटक में उतारता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि उसके नाटक में यह घटना नाटक के प्रमुख चरित के व्यक्तित्व को झलकाती रहे और ऐसी प्रतीत हो जैसे उसी के व्यक्तित्व की शक्ति से यह प्रेरित हुई है। आवश्यकतानुसार अन्य अवान्तर घटनायें भी यदि किसी नाटक में आवें तो उनका भी उद्देश्य ‘आधिकारिक वृत्त’ को ही पुष्ट करता हुआ रहता है। ऐसी घटनाओं को ‘प्रासङ्गिक वृत्त’ कहा गया है। प्रासङ्गिक वृत्त भी अधिक और कम व्यापक होने के कारण ‘पताका’ और ‘प्रकरी’ भेद से दो प्रकार का हुआ करता है।

संस्कृत का नाटककार अपने नाटक की वस्तु-रचना अपने मुख्य रस-भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से किया करता है और इसी दृष्टि से उसे यह भी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि किसी मूल-घटना में वह अपनी कल्पना-शक्ति से परिवर्तन भी थोड़ा बहुत कर सके।

२. चरित चित्रण—संस्कृत की नाट्य-कला केवल कला के लिये नहीं अपितु मानव-जीवन और उसके आदर्शों को प्रस्तुत करने के लिये है। इसलिये संस्कृत नाटकों में चरित-चित्रण इस दृष्टि से किया जाता है जो ‘रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्’ को अन्तःप्रेरणा लिये हो। अर्थात् नाटक का पुरुषार्थ-पर्यवसायी होना आवश्यक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का व्यवस्तरूप से अथवा समस्तरूप से, नाटक के चरित द्वारा अभिव्यञ्जन होना ही चाहिए। जब कि चरित-चित्रण का यह दृष्टिकोण है तब पाश्चात्य नाटकों की भाँति संस्कृत के नाटकों में ‘मैकवेथ’ अथवा ‘हैमलेट’ के समान चरित-चित्रण अनावश्यक तथा साथ ही साथ निषिद्ध भी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप प्रयोजन के उद्देश्य से ऐसा भ्रम न हो जाना चाहिये कि संस्कृत के

नाटक 'आगम' हो गये। आगमों, अथवा धर्मादि प्रतिपादक शास्त्रों में तो पुरुषार्थों का मावी फल के रूप में प्रवचन किया रहता है किन्तु नाटकों में व्यक्ति-विशेष द्वारा प्राप्त पुरुषार्थों का अभिव्यञ्जन होता है और इसीलिये इनका साक्षात् नहीं अपितु नाटक के चरितों के द्वारा चित्रण किया जाता है।

संस्कृत के नाटकों में इसीलिये वैयक्तिक चरित-चित्रण की अपेक्षा—वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व के प्रदर्शन के बदले—ऐसा चरित-चित्रण हुआ करता है जिसे 'सामान्य' कह सकते हैं। इसलिये चार प्रकार के ही नायकों में से संस्कृत के नाटककार, चरित-चित्रण के लिये, किसी एक प्रकार का नायक चुना करते हैं। नायक के चार प्रकार ये हैं :—१-धीरोदात्त, २-धीरोद्धत, ३-धीरललित और ४-धीरप्रशान्त। इन चारों प्रकार के नायकों में एक विशेषता तो ऐसी है जो सब में अन्तर्व्याप्त है। अर्थात् 'धीर' होना अथवा संकट में भी कातर न होना, धैर्य न छोड़ना सभी नायकों के लिये नितान्त आवश्यक है। मनुष्य मात्र को उदात्त, उद्धत, ललित और शान्त इन चार कोटियों में विभाजित किया जा सकता है किन्तु जो नाटक का नायक हो उसके लिये, चाहे वह इन कोटियों में किसी भी कोटि में क्यों न आ सके, 'धीर' होना अपेक्षित ही है। यद्यपि एक व्यक्ति में ही देश-काल-अवस्थामेद से ये चारों स्वभाव संभव हैं किन्तु नाटक में चरित-चित्रण के लिये संकुलस्वभाव की अपेक्षा किसी एक प्रकार के स्वभाव का विशद वर्णन किया जाता है।

नाटक के नायक में ये स्वाभाविक गुण आवश्यक हैं :—

‘तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता ।

औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सरवजाः ॥’

३. रसभावाभिव्यक्ति—श्रव्य काव्य के समान दृश्य-काव्य में भी रसभावाभिव्यक्ति को ही अन्तिम कलात्मक सृष्टि माना गया है। वस्तुतः रस-स्वरूप का प्रथम निरूपण तो नाट्यानुभव के विश्लेषण में ही हुआ था। दालंकारिकों में रस-ध्वनिवाद के प्रवर्तक नाट्यमर्मज्ञ लोग 'नाट्य' और 'रस' को एकरूप-एकरस ही मानते हैं—नाट्यं रसः (श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य)। पाश्चात्य नाटकों में नाट्य-सृष्टि चरित-चित्रण के समतुल्य में देखा जाती है, किन्तु

संस्कृत नाटक अपनी कला की इतिश्री 'रसनिष्पत्ति' में करते हैं। दशरूपककार का कथन है :—

आनन्दनिस्पन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।

योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय ॥

संस्कृत नाटकों में इस रसभावामिव्यक्ति की जो प्रक्रिया है वह यह है :—

‘स्वरूपपद्यं लघुगद्यं शिल्पवागन्तरवस्तुकम् ।

सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितम् ॥

एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।

अलङ्घितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम् ॥’ (नाट्यदर्पण)

तात्पर्य यह है कि नायक के चरित के अनुरूप ही रस-भाव की अमिव्यक्ति किसी नाटक में उपेक्षित है। नायक का व्यक्तित्व बहुमुखी होता है इसलिये एक रस को प्रधान बनाकर अन्य रसों को अंगरूप से योजना नाटक की सुन्दरता बढ़ाने के लिये उपेक्षित है रसों में भी शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त इन चारों में से किसी एक को प्रधानरस मान कर संस्कृत की नाट्यकला अधिकाधिक सफलता से रसामिव्यक्ति कर चुकी है।

रस तिरोहित न हो (छिप न जाय) इसके लिये नाटककार को सचेष्ट होना आवश्यक है। वस्तुओं का काव्यमय वर्णनाधिक्य भी नाटक में रसामिव्यक्ति का बाधक है। इसलिये संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार यथाशक्ति ‘काव्यकण्ठविनोद’—कविता करने की खुजलाहट से बचने का ही प्रयत्न करते हैं। मुद्राराक्षस का नाटककार इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नाटककार है। क्योंकि यदि कोई नाटककार रसभाव में बह जाय तो उसका नाटक बाहर से नाटक दिखाई देने पर भी एक प्रकार का अव्य-काव्य ही रह जायगा। नाटक में तो रसामिव्यक्ति चरित-चित्रण के माध्यम से और चरित-चित्रण इतिवृत्त के प्रेरक के रूप में ही होने से सुन्दर प्रतीत होते हैं।

(६) नेपथ्य —

‘नेपथ्य’ शब्द संस्कृत नाटकों में यथास्थान तीन अर्थों का वाचक है—नट की वेषभूषा (रामादिव्यञ्जकी तेषो नटे नेपथ्यमुच्यते :) दूसरा जवनिकापदा (नेपथ्यं स्याज्जवनिका) और तीसरा रंगभूमि ।

(७) प्रस्तावना--

प्रत्येक संस्कृत नाटक में 'प्रस्तावना' अथवा 'आमुख' आवश्यक रूप से अवस्थित है । 'प्रस्तावना को, अथवा 'आमुख' के द्वारा नाटक का रंगावतरण किया करता है । प्रस्तावना' नाट्याचार्यों ने, नाटकों में जो भारती, सात्वती कैशिकी और आरभटी नामक चार वृत्तियाँ होती हैं उनमें भारती वृत्ति का अंग माना है । भारतीय वृत्ति का लक्षण यह है :-

सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।

प्रायः संस्कृतनिःशेषरसाढ्या वाचि भारती ॥

भारती वृत्ति का अभिप्राय है वाग्व्यापार का । वस्तुतः बात तो यह है कि मनुष्य का कोई भी व्यापार ऐसा नहीं होता जो एकान्ततः कायिक ही हो अथवा वाचिक ही हो अथवा मानसिक ही हो । और नाटक में तो नाटकार जिस प्रकार के व्यापार का निबन्ध करता है वह रस-भावाभिनयसंमिन्न ही हुआ करता है । हमारे कायिक व्यापार मानसिक अथवा वाचिक व्यापारों से संमिन्न हुआ करते हैं, मानसिक व्यापार वाचिक और कायिक व्यापारों से और इसी प्रकार वाचिक व्यापार मानसिक और शारीरिक व्यापारों से । इस प्रकार यद्यपि मानव-व्यापार अन्ततोगत्वा शरीर, वाणी तथा मन के व्यापारों से सर्वथा संमिन्न रहा करते हैं किन्तु नाटकार अभिनय की दृष्टि से एक को प्रधान तथा दूसरे को गौण बना कर चार प्रकार के व्यापारों का वर्णन किया करता है । अस्तु भारती वृत्ति वाणी के व्यापार को कहते हैं । 'प्रस्तावना' अथवा आमुख में जो अभिनय सम्भव है वह वस्तुतः मुख्यरूप से वाचिकाभिनय के ही रूप में । इसलिये प्रस्तावना को भारती वृत्ति का अंग कहा गया है । प्रस्तावना अथवा आमुख की परिभाषा यह है :-

'त्रिदूषक-नटी-मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।

सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टीकृत्यैतदामुखम् ॥

अर्थात् नाटक की सूत्रन सूचना देने के लिये सूत्रधार का नटी अथवा मार्ष अर्थात् पारिपाश्विक के साथ यथावसर जो आलाप-संलाप है उसे 'आमुख'- 'प्रस्तावना' कहा जाता है । दो प्रकार से नाटक की प्रस्तावना की जाती है -- स्पष्ट रूप से अथवा किसी विचित्रता के साथ । नाटकान्तर्गत पात्र के प्रवेश से

पहले का जो नाटक भाग है वह तो 'प्रस्तावना' अथवा 'आमुख' है और बाद का 'नाट्य' अथवा 'नाटक' ।

'प्रस्तावना' में ही 'प्ररोचना' भी अन्तर्भूत है । प्ररोचना की परिभाषा है—
'पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या सम्बन्धमुख्यं प्ररोचना ।' अर्थात् रंगमंच पर अवतरित किये जाने वाले नाटक की प्रशंसा-पटों की अभिनय-कला की प्रशंसा, या नाटक के रचयिता की प्रशंसा या नाटक के सामाजिकों की प्रशंसा या इन सब की प्रशंसा—को 'प्ररोचना' कहा जाता है । 'प्रकृतोऽर्थः (नाट्यरूपः) रोच्यते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना' ।

(८) 'आत्मगत' अथवा 'स्वगत'

संस्कृत के नाटकों में 'आत्मगतम्' अथवा 'स्वगतम्' यह संकेत प्रायः दिया गया होता है । इस स्वगत भाषण के अनेकों प्रयोजन हैं । जो बात नाटक के चरितों के हृदय की बात है उसे नाटककार 'आत्मगत' अथवा 'स्वगत' संकेत के साथ प्रकट किया करता है । इसीलिये कहा गया है—'स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।'

(९) प्रकाशम्—

नाटकीय चरितों में किसी चरित की कोई बात उसके अतिरिक्त यदि और लोगों के सुनने के लिये भी हो तो उसे 'प्रकाशम्' इस संकेत के द्वारा संकेतित कर दिया जाता है । 'प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषाम् ।'

(१०) अङ्क

संस्कृत के नाटकों का वस्तु-चरित-रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से, जो आन्तरिक विभाजन अपेक्षित है उसे 'अङ्क' कहते हैं । दशरूपककार ने 'अङ्क' की यह परिभाषा दी है :—

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तति ।

आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाच्चेपसंश्रयः ॥

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्यासिपुरस्कृतः ।

अङ्को नानाप्रकारार्थं संविधानरसाश्रयः ॥

अर्थात् यदि नाटककार इस प्रकार अपना नाटक प्रारम्भ करे जिसमें वस्तु-रचना और चरित-चित्रण सरस हो तो प्रस्तावना के बाद ही सीधे 'अङ्क' का

प्रारम्भ हो जाता है। 'अङ्क' इसलिये संस्कृत नाटकों के अन्तर्विभाग को कहा जाता है क्योंकि इसका उद्देश्य नाटकों के इतिवृत्त तथा चरित चित्रण को, सामाजिकों के हृदय-क्षेत्र पर रसभाव के बीज के रूप में जमाया हुआ रहता है। इसीलिये ऐसा कहा गया है—अङ्क इति रुढिज्ञब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थम् ।

संस्कृत के नाटकों का अन्तर्विभाग 'दृश्य' में न होकर 'अङ्कों' में ही हुमा करता है। पाश्चात्य नाटकों में 'दृश्य' के रूप में विभाग स्वभावतः सिद्ध है क्योंकि उनका उद्देश्य नाटकीय चरितों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रदर्शन है। किन्तु संस्कृत नाटकों का उद्देश्य नाटकीय चरितों का प्रदर्शन नहीं अपितु उनके हृदय के भावों की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य मात्र के भाव कहे जाते हैं और मानव जीवन के आदर्शों के अनुकूल पड़ा करते हैं। संस्कृत का नाटककार तो अपने सामाजिकों के हृदय-फलक पर भावों का अङ्कन किया करता है। इसलिये संस्कृत का नाटक 'अङ्क' में विभक्त रहा करता है।

संस्कृत का नाटककार इतिवृत्त को चरित चित्रण का माध्यम माना करता है इसलिए उसे नाटक के प्रमुख चरित को मनोदशा को अभिव्यंजना जितनी अपेक्षित है उतनी घटना-चक्र की चर्चा नहीं। मानवमात्र का कर्तव्य पुरुषार्थचतुष्टय को प्राप्ति है। जो नाटक का नायक होता है उसमें यह कर्तव्य-भावना असाधारणरूप में प्रबल और सक्रिय रहा करती है। इस दृष्टि से नाटक के नायक के शक्तिमान् और सक्रिय व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुये संस्कृत का नाटककार उसकी पंचविध अवस्थाओं, जो कि स्वभावतः मनुष्यमात्र के सक्रिय व्यक्तित्व की अवस्थायें हैं, का निरूपण और चित्रण किया करता है—ये पंचविध अवस्थायें ये हैं:—

पहली आरम्भ, दूसरी यत्न, तीसरी प्राप्त्याशा, चौथी नियताप्ति और पाँचवीं फलागम। अङ्क का आरम्भ और अवसान इन अवस्थाओं के चित्रण के आरम्भ और अवसान पर निर्भर है। यदि एक २ अवस्था के लिये एक २ अङ्क मान लिये जायें तो एक नाटक में कम से कम पाँच अङ्क होने चाहिये। किन्तु किसी अवस्था में उपक्रम और उपसंहार का भेद कर लेते पर अङ्क संख्या ६, ७, ८, ९ और अधिक से अधिक दस तक संभव है।

अङ्क की एक और विशेषता है और वह है उसकी ऐसी समाप्ति जो आगे जाने वाले अङ्क की रूप-रेखा की सूक्ष्म सूचना दे जाय। किसी अङ्क में अग्रिम अङ्क की सूचना को यह विशेषता नाट्यशास्त्रकारों की परिभाषा में 'बिन्दु' नाम से कही जाती है।

(११) आकाशे—

संस्कृत नाटकों में 'आकाशोक्ति' भी नाटकीय वृत्त का एक प्रकार है। इसका लक्षण नाट्यशास्त्रकारों ने यह किया है :—

‘आकाशोक्तिः स्वयं प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम् ।

अर्थात् रंगमंच पर अकेला कोई पात्र, अपने आप, बिना किसी दूसरे पात्र के कुछ पूछे-छाछे, प्रश्न और उत्तर की प्रक्रिया से किसी बात को प्रकट करे, तो उसका ऐसा करना 'आकाशे' इस संकेत के द्वारा सूचित किया जाता है और उसकी बात 'आकाशोक्ति' 'आकाशमाषित' इत्यादि कही जाती है।

(१२) जनान्तिकम्—

इसकी परिभाषा है :—

‘त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।

‘त्रिपताक’ कहते हैं हाथ की एक मुद्रा को—

‘ऊर्ध्वसर्वांगुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः’—

अर्थात् अनामिका अंगुली को कुछ टेढ़ा रखते हुये एक हाथ की और अंगुलियों को ऊपर उठाये रखना। इस मुद्रा का अभिप्राय है रंगमंच पर उपस्थित पात्रों में से किसी एक पात्र का किसी दूसरे पात्र को अपनी कोई बात न सुनाने का अभिनय करते हुये अन्य पात्रों को सुनाना। 'जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम्।' यह भी नाटकीय वृत्त के प्रपञ्च का एक प्रकार है।

(१३) कार्यावस्था—

संस्कृत नाटकों में नायक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील तथा सफल चित्रित

किया जाया करता है। नायक के इस रूप के चित्रण में, नाटककार उसकी मनोदशा का पाँच क्रमिक अवस्थाओं में विश्लेषण किया करता है। ये अवस्थाएँ कार्य की अथवा उद्देश्य-प्राप्ति की अवस्थाएँ होती हैं जैसे कि पहली आरम्भा-वस्था, दूसरी प्रयत्नावस्था, तीसरी प्राप्त्याशावस्था, चौथी नियताप्ति की अवस्था और पाँचवीं फलागम की अवस्था। इन्हीं को 'अवस्थापञ्चक' कहा करते हैं। 'मुद्राराक्षस' के नाटककार को नाटक में चरितचित्रण की इस अवस्था का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का परिचय और अनुभव है। 'कार्योपक्षेपमादौ' (मुद्राराक्षस चतुर्थ अङ्क, तृतीय श्लोक में इसका सूक्ष्म संकेत नाटककार ने स्वयं किया है।

पहली अवस्था, जो 'आरम्भ' कही जाती है नाट्यशास्त्रकारों की परिभाषा में इस प्रकार की है—'फलायीत्सुक्यमारम्भः'। अर्थात् नायक के हृदय में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये उपाय के प्रति उत्सुकता और इस उत्सुकता के अनुकूल कार्यशीलता का होना 'आरम्भ' है। उदाहरण के लिये 'मुद्राराक्षस' में इसके नायक चाणक्य के हृदय में, अपने उद्देश्य अर्थात् मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की स्थिरमूलता तथा सुखसमृद्धि की स्थापना के लिये राजनीति की पेचीदगी में आत्मोत्सर्ग करने की उत्कण्ठा और इस उत्कण्ठा के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कूटचालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की नियुक्ति का जो वर्णन प्रारम्भ में ही हुआ है उसे 'आरम्भावस्था' का अभिव्यञ्जन कहेंगे।

दूसरी अवस्था 'यत्न' अथवा 'प्रयत्न' की अवस्था है। इसकी परिभाषा है—'प्रयत्नो व्यापृती श्वरा' अर्थात् 'आरम्भ' में जो उत्सुकता है उसका उत्कट हो उठना 'प्रयत्न' की अवस्था है। 'आरम्भ' अवस्था में तो नायक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेकों उपायों का संकल्प-विकल्प किया करता है किन्तु 'प्रयत्न' की अवस्था तब प्रारम्भ होती है जब किसी निश्चित उपाय को कार्य बनाने का दृढ़ संकल्प कर लेता है। उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस का नायक चाणक्य पहले तो नाना प्रकार की उपाय-चिन्ता में व्यस्त दिखाया गया है किन्तु बाद में एकमात्र अपने प्रतिस्पर्धी राक्षस को वश में करने के ही उपाय अर्थात्—कूट लेख के प्रयोग का निश्चय कर लेता है। यह उसकी प्रयत्नावस्था का चित्रण है जो कि नाटककार ने 'दुरात्मन राक्षस ! ज्वेदाज्ञो यास्यसि ?' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर दिखाया है।

तीसरी अवस्था 'प्राप्त्याशा' की अवस्था है। इसका लक्षण यह है :—

‘फलसंभावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ?’

इसका अभिप्राय यह है कि नाटक के कार्यसिद्धि के प्रति उत्सुक किंवा प्रयत्नशील-हृदय में, जीवन की विषमपरिस्थितियों की मुठभेड़ में, जो उथल-पुथल मचा करती है और स्वभावतः मचनी भी चाहिये, उसे दमन करने की प्रवृत्ति और शक्ति का होना और इस आशा को कभी भी न छोड़ना कि विजय उसी की होगी। प्राप्ति अथवा प्रधान फल की आशा को इस प्रकार 'प्राप्त्याशा' कहेंगे।

यदि हम संस्कृत के नाटकों में चरित-चित्रण की 'प्राप्त्याशा' की अवस्था का मर्म समझ लें तो संस्कृत के नाटक क्यों 'सुखान्त' होते हैं और प्राश्नात्य नाटक क्यों 'दुःखान्त' अथवा ट्रेजेडी के रूप में रचे गये हैं, इसका रहस्य स्पष्ट समझ जायेंगे। संस्कृत के नाटककार नायक की 'प्राप्त्याशा' को इस रूप में चित्रित करते हैं कि वह विषम परिस्थितियों की मुठभेड़ में भी विजयी होता दिखाई देता है इसका कारण जो कुछ भी हो, चाहे भाग्य की अनुकूलता में विश्वास हो, चाहे भाग्य को भी पौरुष से दबाते रहने का सामर्थ्य का उद्देश्य हो, चाहे ईश्वर को भी कर्मठ व्यक्तित्व के सहायक होने का सिद्धान्त हो, चाहे ऐसा प्रदर्शित करने में मानव आदर्श का प्रदर्शन हो या और जो कुछ हो, संस्कृत का नाटककार अपने नायक के चरित चित्रण को इसी प्रकार निभाया करता है। जब संस्कृत के नाटककारों को राम अथवा कृष्ण सरीखे महनीय व्यक्तियों का चरित-चित्रण अभिप्रेत है तब तो संस्कृत नाटकों का मङ्गलान्त अथवा मङ्गलमय होना स्वाभाविक ही है।

प्राश्नात्य नाटककारों की यथार्थदृष्टि नाटक के नायक को सर्वथा विजयी नहीं देख सकती। प्राश्नात्य नाटक नाटक के लिये रचे गये हैं, अभिनय कला के लिये निर्मित हुये हैं, इसलिये इनमें पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रदर्शन आवश्यक नहीं। इनमें तो नाटक के नायक की महत्वाकांक्षा, चाहे वह संहारात्मक हो, क्षतात्तिवक हो, अहितकर हो, अपुरुषार्थ-प्रचुर हो, का ही प्रदर्शन अपेक्षित है। संस्कृत के नाटकों में 'प्राप्त्याशा' की अवस्था प्राश्नात्य नाटकों में प्रदर्शित Conflict (द्वन्द्व-बाह्यद्वन्द्व तथा अन्तर्द्वन्द्व) के समानान्तर चला करती है।

संस्कृत के नाटकों में द्वन्द्व का महत्त्व नहीं, द्वन्द्व की शान्ति का महत्त्व है; कुरुक्षेत्र का दृश्य उतना दर्शनीय नहीं जितना धर्म-विजय का। पाश्चात्य आलोचकों को यह बात खटका करती है। एक पाश्चात्य नाट्या-लोचक का कहना है—
'And the orientals have no vital drama because they are fatalists, because, they do not believe in that free will without the drama can not exist.' अर्थात् पौरस्त्य-भारतीय लोगों के पास कोई शक्तिशाली नाटक नहीं क्योंकि वे दैववादी हैं, और उनका मनुष्य की उस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति—उस पौरुष-पर विश्वास नहीं जिसके बिना नाटक का कोई अस्तित्व हो नहीं।' किन्तु वस्तुतः बात यह है कि संस्कृत के नाटककार, अपने समाज के आदर्शों के अनुसार, बाह्य किंवा अन्तर्विद्रोह में पड़े मानव को उतना महत्त्व नहीं दिया करते जितना उस मानव को, जो बाह्य किंवा अन्तःकोप पर चाहे माग्यवश हो अथवा पौरुष के द्वारा ही हो, विजयी हुआ करता है।

'मुद्राराक्षस' में 'प्राप्याशा' की यह अवस्था द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ—इन तीनों अङ्कों में बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुई है। नाटक के नायक चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी राक्षस अपनी अमोघ राजनीतिक चालों को चल चुका है और पग पग पर चाणक्य के पराजित होने का भय है। चाणक्य की कूटनीति अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रत्येक चाल का मुंहतोड़ जवाब देती चल रही है। राक्षस चुप नहीं किन्तु उत्तरोत्तर हारते हुये भी अपनी हार स्वीकार नहीं करता और चाणक्य—चन्द्रगुप्त में फूट उत्पन्न करने की चाल चल डालता है जिसकी संभावना को पहले ही ताड़ कर चाणक्य उसका प्रतीकारोपाय भी सोच लेता है और अपनी चाल—बनावटी फूट—में बदल देता है जिसका सफल परिणाम निश्चित होकर देखना ही उसका काम रह जाता है। इस प्रकार चाणक्य की 'प्राप्याशा' का चित्रण नाटककार ने बड़ी सतर्कता से किया है और स्वयं भी अपनी इस कला पर स्पष्ट संकेत किया है—

'बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयश्च ।'

(मुद्राराक्षस ४-३)

चौथी अवस्था 'नियतासि' कहा जाता है। नाट्यशास्त्रकारों ने इसकी यह परिभाषा की है—'नियतासिरूपायानां साफल्यात् कार्यनिर्णयः।' अर्थात् अपने

पौरुष अथवा भाग्य की साहाय्य-सम्पत्ति के द्वारा नायक के हृदय में अपनी सफलता की अवश्यंभाविता का जो निर्णय है उसे 'नियतासि' कहते हैं। संस्कृत के नाटकों में 'प्रत्याशा' की अवस्था का 'नियतासि' में परिणत होना आवश्यक है और इसलिये आवश्यक है कि अन्त में सत्य की विजय आवश्यक है और धर्म की ही विजय अवश्यंभावी है।

पाँचवीं अवस्था का नाम 'फलागम' है। इसका लक्षण है—

'साक्षादिष्टार्थसंभूतिर्नायकस्य फलागमः।' फलागम का अभिप्राय है फल का आगम अथवा फल का पहुँचने लगना, उद्देश्य का पूर्ण होते अनुभव होना न कि फल का पहुँच जाना अथवा उद्देश्य का पूर्ण हो चुकना। ऐसा इसलिये क्योंकि नायक का फल भोग अथवा धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति का आनन्द तो नाटक-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है जिसकी दृष्टि से नायक की आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियतासि-फलागम की पञ्चावस्था का नाटककार चित्रण किया करता है।

(१४) अर्थ प्रकृति

संस्कृत के नाटकों का वृत्त अथवा कथावस्तु के प्रपञ्च की दृष्टि से एक और प्रकार का विश्लेषण किया जाता है जिसे 'अर्थ प्रकृति' का विश्लेषण कहते हैं। अर्थ प्रकृति का अभिप्राय, ऐसा प्रतीत होता है, लोग ठीक-ठीक नहीं समझते-समझाते। नाट्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य भी इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट नहीं है। जैसे कि यदि दशरूपककार का अर्थ प्रकृति के सम्बन्ध में यह विचार है—

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह —

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानुबन्धि च ।

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्विध्यनुबन्धं वा ।

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥

(सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रकरी च प्रदेशमाक्)

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।

अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥'

तो नाट्यदर्पणकार का यह—

'बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथास्त्विति ।

फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥'

'उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां स्वरूपपरिज्ञानासंभव इति उपायस्वरूपं व्युत्पाद्यते । यथास्त्विति नैषामौद्देशिको निबन्धक्रमः सर्वेषामवश्य-
म्भावित्वं वा । फलस्य मुख्यसाध्यस्य हेतव उपायाः । इह हेतुद्विधा-अचेतनश्चेत-
नश्च । अचेतनोऽपि मुख्यामुख्यभेदाद्-द्विधा । मुख्यो बीजं तन्मूलत्वादितरेषाम् ।
अमुख्यस्तु कार्यम् । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च । मुख्यो बिन्दुः कार्या-
नुसन्धानरूपत्वात् । उपकरणभूतो द्विधा स्वार्थसिद्धियुतः परार्थसिद्धिपरश्च ।
परार्थसिद्धिपरश्च पूर्वः पताका, अन्यः प्रकरीति । अत्र चाऽचेतनचेतनानां मध्ये
बीज-बिन्दोर्मुख्यत्वं सर्वव्यापित्वादिति ।'

दोनों उपयुक्त विचार-बिन्दुओं में बड़ा अन्तर है । दृश्यरूपककार तो 'अर्थ-
प्रकृति'-पञ्चक और अवस्था-पञ्चक' का परस्पर समन्वय मानने वाले हैं
क्योंकि इनके अनुसार इस समन्वय में 'सन्धि-पञ्चक' रहा करता है जैसे कि
उनका कथन है—

'अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः ।

यथागृह्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ॥'

किन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'अवस्था-पञ्चक' के साथ 'अर्थ' प्रकृति-
पञ्चक' का क्रमिक निबन्ध आवश्यक नहीं और न इस पर 'सन्धि पञ्चक' ही
आधारित है । दृश्यरूपककार ने अर्थ प्रकृति के प्रकार 'कार्य' को धर्म-अर्थ और
मोक्ष इस त्रिवर्ग के रूप में समझा है किन्तु नाट्यदर्पणकार के धर्मप्राय से
'कार्य' नाट्यकार के मुख्य उद्देश्य अथवा नायक के प्रमुख प्रयोजन (क्योंकि
यह एकान्तता नाट्यदर्पण में भी स्पष्ट नहीं किया गया) का एक उपाय मात्र
है और ऐसा उपाय है जो 'अचेतन-रूप' है । दृश्यरूपककार नाटक में पाँचों अर्थ
प्रकृतियों का सद्भाव अवश्यभावी मानते हैं किन्तु नाट्यदर्पणकार दो ही अर्थ

प्रकृतियों अर्थात् बीज और बिन्दु का क्योंकि दोनों का होना किसी नाटकविशेष के लिये संभव है। नाटक-मात्र के लिये नहीं।

मुद्राराक्षस का नाटककार नाट्यशास्त्र की इस अवस्था तक अर्थ प्रकृति-विश्लेषण से परिचित है क्योंकि उसका यह कथन—

‘कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्यविस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुदमेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसूतमपि पुनः संहरन् कार्यं जातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥’
(मुद्राराक्ष ४-३)

स्पष्ट रूप से इसका प्रमाण है वस्तुतः अवस्था—पञ्चक तथा अर्थ प्रकृति पञ्चक के सम्बन्ध में जो अत्यन्त स्पष्ट तथा पर्यासरूपेण महत्त्वपूर्ण बात मुद्राराक्षस के उपर्युक्त कथन से प्रतीत होती है वह अन्य किसी भी नाट्यशास्त्रसम्बन्धी साहित्य के निर्देश से नहीं। ‘मुद्राराक्षस’ के अनुसार यह पता चलता है कि नाटककार का सम्बन्ध अवस्था पञ्चक तथा अर्थ प्रकृति-पञ्चक से है न कि नाटक के नायक का। नाटककार का उद्देश्य रहा करता है न कि नायक का। नाटक-कार ही नायक का चरित उससे सम्बद्ध इतिवृत्त के निर्माण द्वारा प्रदर्शित करता है और वही अवस्था-पञ्चक तथा अर्थ-प्रकृति-पञ्चक का भी सूक्ष्म विश्लेषण करते चलता है और इस विश्लेषण प्रदर्शन और अभिव्यञ्जन में ही नाटक की सफलता रहा करती है।

पाँच अर्थ प्रकृतियों में पहली अर्थ प्रकृति है ‘बीज’ की परिभाषा यह है—

‘स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुबीजं प्ररोहणात् ।

अभिप्राय यह है कि नाटककार का नाटक-निर्माण एक सरल-वृक्ष के आरोपण के समान है। जिस प्रकार किसी माली को भूमि तैयार करके बीज बोना, पानी-पटना, पौधे के सीधे पनपने के लिए किसी बौंस अथवा लकड़ी की सहायता का उपाय करना, साधारण रक्षण के लिए घेरा करना और अन्यान्य उपायों का उपयोग करना आवश्यक है उसी प्रकार नाटककार के लिये भी नाटक-वृक्ष का बीज बोना, बीज के पनपाने का प्रयत्न करना, अंकुर अथवा स्तंभ रूप में आने पर उसे बढ़त रहने के लिये कोई सहायक ढूंढ़ना, उसके लिये छोटी

मोटी अन्य सहायताओं का पहुंचाना तथा पोषणोपयोगी अन्यान्य उपायों का प्रयोग करना अपेक्षित है। बीज तो सदा छोटा ही होता है किन्तु फल बहुत बड़ा। बिना बीज बोये तो फल निकल नहीं सकता। संस्कृत के नाटककार नायक-प्रतिनायक और उनके अन्यान्य सहायकों के शारीरिक अथवा मानसिक अथवा वाचिक कार्य-व्यापार के प्रदर्शन के रूप में विचित्र प्रकार का बीज-न्यास किया करते हैं। उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस के नाटककार ने, अपने नाटक-रूप वृक्ष का बीज, प्रतिनायक राक्षस द्वारा स्थापित राज-संकटों और राज्य-संवदों का सामना करने में सतत उत्साह-शील और प्रयत्न-शील नाटक के नायक चाणक्य के 'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात् । नन्दकुल-वालभुजगीं कोपानलवहललोलधूमलताम् । अद्यापि वध्यमानां यध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥ इत्यादि उक्तियों' में अभिव्यक्त व्यक्तित्व के प्रदर्शन के रूप में बोया है, बीज तो नाटकादि के इतिवृत्त का जो मुख्य-प्रयोजन है अर्थात् चरित-चित्रण जिसका प्रमुख उद्देश्य रसभावाभिव्यक्ति है, उसके प्रदर्शन का उपाय है। बीज नाना प्रकार का हो सकता है। कहीं तो नायक अथवा उसके सहायकों के व्यापार के रूप में, कहीं नायक पर आने वाले संकट के रूप में, कहीं नायक के अभ्युदय के उपक्षेप रूप में, कहीं, जैसे कि मुद्राराक्षस में ही, नायक के द्वारा अपने पर आने वाले संकट के निवारण के रूप में अथवा अन्य अनेक विचित्र रूप में संस्कृत नाटकों के इतिवृत्त के परम प्रयोजन का उपाय-यह बीज बोया जाया करता है। आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद ही नाटक-वृक्ष का यह बीज, जिसका अन्तिम फल नाटक-रस है। बोया हुआ रहता है।

'बीज' के बाद नाटक के इतिवृत्त के मुख्योद्देश्य के लिए 'बिन्दु' का निक्षेप परमावश्यक है। 'बिन्दु' का लक्षण यह है—

हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं बहुतां बिन्दुराफलात् ।

यह लक्षण नाट्यदर्पणकार का है। किन्तु नाट्यदर्पणकार की इस लक्षण-वाक्य की यह व्याख्या—

'उपायानुष्ठानस्यावश्यकत्वादिना व्यदधाने सति नायक-प्रतिनायकाभात्या-दीनां यदनुसन्धानं जानमसौ जानविचारणफलरामोपायत्वादबिन्दुः । सर्वव्या-पित्वाद्वा जसि सैलबिन्दुरिव बिन्दुः याकलादिति दीजित् समस्तैतिवृत्तस्थाप-

कत्वमाह । केवलं बीजं मुखसन्धेरेव प्रभृति निबध्यते, बिन्दुस्तु तदनन्तरमिति । इह तावन्नायक-सहायोभयेभ्यस्त्रिधाफलसिद्धिः । तत्र सर्वेषामपि स्व-स्वव्यापारविच्छिन्नावनुसन्धानात्मा बिन्दुनिबध्यते । यथा च नायकेन प्रतिपक्षेतिवृत्त-मनुसन्धीयते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्येतिवृत्तमनुसन्धीयते । अत एव बहूनामित्युपात्तम् ।

इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाती, क्योंकि प्राचीन परम्परा से ही इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता, कि 'बिन्दु' का निक्षेप नाटककार की नाट्य-कला से किस प्रकार सम्बद्ध है । बीज, बिन्दु इत्यादि पारिभाषिक शब्द भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के संभवतः पहले के ही शब्द हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि उद्यान-कला के ही आधार पर नाट्य-कला की कल्पना की गयी होगी और बीज, बिन्दु इत्यादि शब्द नाट्य-कला के पारिभाषिक शब्द निश्चित कर लिये होंगे । बीज का अभिप्राय, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, नायक की अपने उद्देश्य को सिद्धि में कार्याारम्भ की उत्सुकता और सत्सम्बन्धी व्यापार है जिसे नाटककार अपने नाटक के इतिवृत्त के रूप में भिन्न-भिन्न ढंग से बोधा करता है और इस दृष्टि से 'बिन्दु' का अभिप्राय होगा नाटककार का अपने नाटक के विविध वृत्त को इस रूप से प्रस्तुत करना जिसमें 'बीज' के रूप में पूर्व-निक्षिप्त इतिवृत्त सामाजिक के मानस-पटल पर केवल सुरक्षित ही न रहे अपितु उत्तरोत्तर अन्य वृत्तों से परिपुष्ट होते हुये नायक के फलागम के वृत्त के रूप में प्रकट हो जाय । 'बीज' को मुख्य-अचेतन हेतु और 'बिन्दु' को चेतन तथा मुख्य हेतु मान लेने से, जैसा कि नाट्यदर्पणकार और उनकी प्राचीन-परम्परा के विश्लेषण में प्रतीत होता है, यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि नाटककार की इतिवृत्त-रचना तथा चरित-चित्रण की कला के विश्लेषण के ये तत्त्व हैं या नाटक के नायक की कार्यसिद्धि के उपाय । यहाँ बात यही समझ में आती है कि जिस प्रकार किसी वृक्ष के बीज बोने के बाद पानी पटना अत्यन्त आवश्यक है जिससे उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि का अनुसंधान होता रहे उसी प्रकार नाटक में इतिवृत्त-रचना के विचित्र आरम्भ को आगे आने वाले घटना-चक्र को इस प्रकार की रचना से सम्बद्ध करना जिससे उसका विच्छेद न हो सके और साथ ही साथ उत्तरोत्तर उसकी प्राप्ति भी होती रहे । पुराण-परम्परा में 'विषय-वृत्त' की

घटना योजना नाटककार की बिन्दु-निक्षेप कला का एक सुन्दर उदाहरण है । इस घटना की योजना से चाणक्य नायक की आगाही संकटों के निवारण से सम्बन्ध रखने वाली बाज-भूत घटना सर्वथा परिपुष्ट हो गयी है ।

तीसरी अर्थप्रकृति का नाम 'कार्य' है । दशरूपककार ने तो 'कार्यं ध्वनिर्ग' की अपनी परिभाषा से कुछ ऐसा कर दिया है कि इसे 'अर्थ प्रकृति' कहना भी असंगत ही लगता है । 'कार्य' को यदि हम अर्थ प्रकृति-पञ्चक का एक प्रकार मानें क्योंकि और कुछ तो यह है नहीं, तब, इसका अभिप्राय नाट्यदर्पणकार की परिभाषा में ही ठीक ठीक समझ में आसकता है । नाट्यदर्पणकार की परिभाषा यह है—

‘साध्ये बीजसहकारी कार्यम् ।’

जिसका अभिप्राय इन शब्दों में नाट्यदर्पणकार ने स्वयं प्रकट किया है—

‘प्रधान-नामक-पताकानायक-प्रकरीनायकं । साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनः । कार्यं ते फलमिति कार्यम् । अयमनोपायानां निबन्धसंक्षेपः-सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः, सहायाः, सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यामन्यतरया या सह पञ्च चत्वारो वेति ।’

यद्यपि इस अभिप्राय-प्रकाशन में भी यह संदेह बना हुआ है कि नायक के द्वारा प्रयुक्त सैन्यादि विविध उपायों को 'कार्य' कहते हैं अथवा नाटककार के द्वारा इनसे सम्बद्ध घटना की रचना को । वस्तुतः 'कार्य' भी नाटककार की नाटकनिर्माण-कला से ही सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है और इसकी योजना में नाटककार का जो अभिप्राय होता है वह है नाटक के चरितों का नाटक के घटना-चक्र को प्रभावित करते प्रतीत होना । मुद्राराक्षस की प्रमुख बीजभूत घटना इस प्रकार की अनेकों घटनाओं को प्रभावित करती है तथा इनके द्वारा भी प्रभावित होती चलती है जिन्हे 'कार्य' कह सकते हैं । उदाहरण के लिये जयराज राक्षस द्वारा अश्वमेध को उत्तेजित करने की घटना प्रतिनायक का 'कार्य' हुआ और चाणक्य द्वारा इस घटना की संभावना देख 'बनावटी झगड़ा' खड़ा करने की घटना नायक का कार्य हुआ । किन्तु वस्तुतः इन घटनाओं को

नाटक के मुख्य इतिवृत्त से सम्बद्ध कर देना नाटककार की नाट्य-रचना का ही 'कार्य' कहना चाहिये। जिस प्रकार केवल बीज बो देने और पानी पटाते रहने से ही फल की आशा नहीं हो सकती उसी प्रकार केवल बीजभूत वृत्त और विदुभूत वृत्तों की संघटना से ही नाटक की वस्तु-रचना का उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सकता। नाटक की वस्तु-रचना, जिसमें नायक का चरित उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होता रहे और इसके साथ सामाजिकों के हृदय संवाद से रसास्वाद भी उत्तरोत्तर सुलभ होता रहा, तब तक सुसंश्लिष्ट नहीं हो सकती जब तक नाटककार बाह्य किंवा आन्तरिक अन्याय परिस्थितियों के प्रभाव और तत्सम्बन्धी घटना का भी गुम्फन न किया करे। इतिवृत्त के प्रपञ्च अथवा विस्तार का इस प्रकार 'कार्य' भी एक अत्यन्त आवश्यक उपाय है।

अब इन तीनों अर्थप्रकृतियों के बाद दो अर्थ प्रकृतियाँ बच रही हैं जिन्हें क्रमशः 'पताका' और 'प्रकरी' कहा गया है। 'पताका' की परिभाषा दशरूपककार ने ऐसी की है :—'सानुबन्धं पताकाख्यम्'

अर्थात् पताका नाटकों में इस प्रकार का प्रासंगिक वृत्त है जो मुख्य अथवा आधिकारिक वृत्त से दूर तक सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। 'दशरूपककार ने इसीलिए कहा है—'दूरं यद्भुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादि-वृत्तान्तवत् पताके वाऽसाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्।' किन्तु इसके सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का ऐसा कथन है—'आनिमर्शं पताका चेच्चेतनः स परार्थकृत्।' जिसका व्याख्यान उन्होंने ऐसा किया है :—

'स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतनः परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धिप्राप्त्यहेतुत्वात् पताकेव पताका'। सुग्रीवविभीषणादिहि रामादिनोप-क्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन् रामादेः प्रसिद्धि प्राप्त्यं च सम्पादयति। चेदिति यदि फलसाधने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निबध्यते तदा पताका भवति; न तु स्वपराक्रमबहुमानिनामिति। एवं प्रकर्यपि।'

अब यहाँ दो प्रकार के विचार स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। दशरूपककार ने तो 'पताका' तथा 'प्रकरी' को प्रासङ्गिक वृत्त का ही दो प्रकार माना है किन्तु नाट्यदर्पणकार ने नायक के सहायक (यदि सहायक आवश्यक हो) को तथा

उससे सम्बद्ध वृत्त को पताका कहा है क्योंकि बिना ऐसा कहे पताका को 'अर्थप्रकृति' का प्रकार नहीं माना जा सकता। नाट्यदर्पणकार तथा अभिनव-गुप्तपादाचार्य की विचार-धारा के अनुसार प्रत्येक नाटक में 'पताका' और 'प्रकरी' का होना आवश्यक नहीं, किन्तु दशरूपककार ने प्रत्येक नाटक में इनकी स्थिति मान रखी है। इन दोनों विचार-धाराओं में अभिनवगुप्तपादाचार्य तथा इस सम्बन्ध में उनके अनुयायी नाट्यदर्पणकार की विचार-धारा अधिक युक्तियुक्त तथा औचित्यपूर्ण लगती है।

मुद्राराक्षस का नायक एक ऐसा अलौकिक व्यक्ति है जो अपनी राजनी-तिक प्रतिभा को 'सेनाशतेभ्योऽधिका' मानकर कुछ करता है। भला ऐसे नायक के ऊपर निर्मित नाटक में 'पताका' का कहां स्थान? और 'प्रकरी' का कहां अवसर? किन्तु मुद्राराक्षस के प्राचीन टीकाकार श्रीदुण्डिराज ने तथा उनके अनुसरण किंवा अनुकरण के आधार पर लिखी गयी मुद्राराक्षस की संस्कृत-व्याख्याओं तथा अंग्रेजी-व्याख्याओं के लिखने वालों ने इस नाटक में 'पताका' और 'प्रकरी' की रचना भी देख ली है, वह भ्रम है और दशरूपककार के सिद्धान्त का अनुचित अनुसरण है। दशरूपककार का सिद्धान्त यदि 'रत्नावली' में लागू है तो मुद्राराक्षस में भी लागू हो—युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

प्रकरी भी 'अर्थ प्रकृति पञ्चक' का ही पाँचवाँ अंग है। प्रकरी कहते हैं—'प्रकरी च प्रदेशमाक् (वृत्तम्) दशरूपक' अर्थात् नाटक में आये हुए उस प्रासंगिक वृत्त को जो आधिकारिकवृत्त के साथ थोड़ी दूर तक ही सम्बद्ध हो। दशरूपककार इसीलिए कहते हैं :—'यदल्पं सा प्रकरी सुमणादिवृत्तान्तवत्।'।

अर्थात् रामसम्बन्धी इतिवृत्त वाले नाटक में शबरी का वृत्तान्त 'प्रकरी' हुआ क्योंकि सुग्रीव वृत्तान्त के समान यह लम्बा नहीं है और दूर तक राम-वृत्तान्त से सम्बद्ध भी नहीं। नाट्यदर्पणकार ने 'प्रकरी' की परिभाषा की है :—'प्रकरी चेत् क्वचिद् भावी केतनोऽन्यप्रयोजनः।'। जिनका असि प्राय है—

'क्वचिद्भावी वृत्तैकदेजव्यापी, अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकरणे स्वार्यान्पेक्षया करोतीति प्रकरी।'। औणादिके इ प्रत्यये

संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम् । यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः । चेदित्यनेन पताकावद-
वश्यम्भावित्वमाह । क्वचिद्भावितात्स्वार्थनिरतेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति ।

अब नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में 'प्रकरी' का अमिप्राय नाटक के मुख्य-
वृत्त से सम्बद्ध अल्प-वृत्त से नहीं अपि तु निरपेक्ष रूप से नायक के किसी
परमसहायक से है । किन्तु नाट्यदर्पणकार ने यह तो निस्संदिग्ध रूप से स्पष्ट
कर दिया है कि प्रत्येक नाटक में प्रकरी की आवश्यकता नहीं । दशरूपककार
के अनुसार प्रत्येक नाटक में प्रकरी अपेक्षित है । रामकाव्य अथवा राम-नाटक
में शबरी की घटना की योजना तो 'प्रकरी' होगी ही क्योंकि इसके द्वारा राम
के चरित की उदात्तता और भी चमक उठती है किन्तु 'मुद्राराक्षस' में इसके
अद्यावधि समस्त टीकाकारों, व्याख्याकारों, अथवा आलोचनाकारों के द्वारा
राक्षस और करमक के संवादवृत्तान्त को 'प्रकरी' मान लेना आश्चर्यजनक सा
ही प्रतीत होता है । यदि टीकाकार चन्द्रगुप्त को ही मुद्राराक्षस का नायक
मान लें क्योंकि दुण्डिराज से लेकर अब तक के प्रत्येक टीकाकार ऐसा ही
करते चले जा रहे हैं तब भी अमात्यराक्षस और उसके गुप्तचर करमक के
परस्पर संवादरूप छोटे कथानक को 'प्रकरी' कैसे माना जा सकता है क्योंकि
'शबरी' और 'जटायु' भले ही राम के सहायक हों और उनका वृत्त राम
सम्बन्धी नाटकों में 'प्रकरी' रहा करे किन्तु राक्षस और गुप्तचर की संवाद-
कथा किस प्रकार 'प्रकरी' हो सकती है जब कि राक्षस चन्द्रगुप्त का सहायक
नहीं अपि तु विध्वंसक हैं । वस्तुतः बात तो यह है कि इस नाटक में अना-
वश्यक होने से 'प्रकरी' रूप अर्थप्रकृति है ही नहीं ।

(१५) 'सन्धि' तथा सन्धि-पंचक

संस्कृत के नाटकों को 'पञ्च सन्धि ससन्धित' कहा गया है । यहां अग्रन उठता
है कि सन्धि क्या है ? इसका उत्तर दशरूपककार ने जो दिया है वह यह है :-

'अन्तरैकार्थसंबन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।'

इसका अमिप्राय दशरूपक के 'अवलोक' में प्रकट किया गया है—

'एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः' ।

अर्थात् नाटक के इतिवृत्त की विविध कथाओं का गौण किंवा मुख्य प्रयोजन-

सम्बन्ध से परस्पर संबद्ध अथवा संश्लिष्ट होना । इस सम्बन्ध में नाट्यदर्पण-कार की परिभाषा यह है :—

‘सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ।’

जिसका अर्थ उन्होंने यह बताया है :—

‘मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशाः भागाः परस्परं स्वरूपेण चांगैः सन्धीयन्त इति सन्धयः अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्थास-
मोप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः । अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि पञ्चावश्यं
भाविनः । क्रमादिति मुख्याद्युद्देशक्रमेणावस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते । इह तावत्
प्रबन्धनिबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्मार्गैः परिकल्प्यते । एकैकश्च भागो
द्वादशत्रयोदशेत्यादिरूपयाऽङ्गसंख्यया विभज्यते ।

तात्पर्य यह है कि नाटक में पाँच संधियों का होना इसलिए आवश्यक है
क्योंकि पाँच अवस्थाओं का होना आवश्यक है । ‘सन्धि’ का सीधा अर्थ है
नाटक-निबद्ध अर्थराशि का परस्पर किंवा अपने अङ्गों से संबद्ध होना ।

सन्धि के सम्बन्ध में भी एक विचार नाट्यशास्त्रकारों का नहीं है । दश-
रूपककार के अनुसार तो सन्धि योजना की प्रक्रिया यह है :—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ॥

अर्थात् अर्थप्रकृति-पञ्चक और अवस्था-पञ्चक का क्रमशः परस्पर अन्वित
उपनिबन्ध सन्धि-पञ्चक के रूप में प्रकट होता है । किन्तु नाट्यदर्पणकार सन्धि
पञ्चक के लिए पाँचों अवस्थाओं का उपनिबन्ध आवश्यक मानते हैं पाँचों अर्थ-
प्रकृतियों का नहीं जैसे कि हम पहले ही दिखा चुके हैं ।

सब से प्रथम जो सन्धि है उसे ‘मुख-सन्धि’ कहा जाता है । ‘मुख-सन्धि’
का यह लक्षण है :—

‘मुखं प्रधानवृत्तांशो दीजोत्पत्तिरसाश्रयः ॥’

अर्थात् ‘प्रारम्भावस्था भावित्वात् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम् ।
दीजोत्पत्तिरस्योपाधीयते रसानां च मृत्पारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र ।

प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखसन्धिरित्यर्थः ।'

तात्पर्य यह हुआ कि रसभावादि से रमणीय किंवा प्रारम्भावस्थोपयुक्त नाटक की अर्थराशि जो नाटक के मुख के समान पहले फलके 'मुख-सन्धि' है।

दूसरी सन्धि 'प्रतिमुख' सन्धि है । प्रतिमुख की परिभाषा यह है :—

'प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः ।'

अर्थात् प्रतिमुख सन्धि वह सन्धि है जिसमें प्रयत्नावस्था के द्वारा मुख सन्धि में निक्षिप्त बीज का उद्घाटन किया जाया करता है । तीसरी सन्धि का नाम 'गर्भ-सन्धि' है जिसका लक्षण है :—'बीजस्यान्मुह्यवान् गर्भो लाभालाभगवेपणैः ।'

अभिप्राय यह है कि गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा की अवस्था का प्रकाशन किया जाया करता है । इसमें नायक फल की संभावना करते हुए दिखाई देता है न कि फल का निश्चय ।

चौथी सन्धि 'विमर्श' अथवा 'अवमर्श' सन्धि है । 'विमर्श' की परिभाषा यह है :—'उद्धिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः ।'

अर्थात् नियताप्ति की अवस्था से समन्वित नाटक का जो मुख्य वृत्तांश है वह 'विमर्श-सन्धि' कहा जाता है । पांचवीं सन्धि निर्वहण-सन्धि है । इसकी परिभाषा है :—

'सबीजविकृतावस्था नानाभागमुखादयः ।

फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवम् ॥'

अर्थात् जिस सन्धि को निर्वहण सन्धि कहते हैं वह नाटक का ऐसा प्रधान-वृत्तांश है जिसमें फलागम की अवस्था निरूपित हुई हो और जो कि रसभाव-रमणीय हो ।

(१६) सन्ध्यङ्ग—

नाटकों में ६५ सन्ध्यङ्ग माने गये हैं । मुद्राराक्षस के टीकाकार श्री दुण्डि-
रज ने अपनी टीका में इन सबको छूट कर कतिपयों को छुटकारा देकर प्रमास किया

है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि नाटककार तो नाटक की रचना किया करता है न कि ६४ सन्ध्यङ्गों का क्रमशः निरूपण। इन सन्ध्यङ्गों का भी किसी नाटक में क्रमशः प्रयुक्त होना कोई आवश्यक नहीं कि सब के सब प्रयुक्त ही हों। किसी एक ही अंग को नाटककार, अपनी इच्छा से, अपने नाटक की आवश्यकता देखकर, एक से अधिकवार प्रयुक्त कर सकता है। सन्ध्यङ्ग की योजना के सम्बन्ध में सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिये—

‘सर्वसन्धीनां चाङ्गानीतिवृत्ताऽविच्छेदार्थमुपादीयन्ते । इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः, विच्छेदे हि स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् कुतस्त्यो रसस्वादः ? ततो रसविधानैकतानचेतसः कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदङ्गमुज्जृम्भते तदेवोपनिबद्धं सहृदयानां हृदयमानन्दयति । अङ्गानि च स्थायि—विभावानुभाव—व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि । अमीषां च स्वसन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्धः ।’

अर्थात् संस्कृत के नाटककार की तो कला इतिवृत्त-रचना द्वारा चरित्र-चित्रण और चरित्र-चित्रण द्वारा रसभावामिव्यक्ति है और इस दृष्टि से किसी नाटक में सन्धि-सन्ध्यङ्गघटन स्वयं हुआ करता है। यदि नाटककार अपने नाटक पर ध्यान दे तो सन्धि-सन्ध्यङ्ग स्वयं बनते जायेंगे किन्तु यदि वह सन्धि-सन्ध्यङ्ग-योजना पर ध्यान दें जैसा कि कतिपय असमाहित चित्त संस्कृत नाटककारों ने किया है, तो नाटक-निर्माण तो नहीं हो सकता; सन्धि-सन्ध्यङ्ग की उदाहरण-माला भले ही बन जाय।

(१७) प्रवेशक—

प्रवेशक की परिभाषा दशरूपककार ने ऐसी की है—

‘वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यमात्रप्रयोजितः ॥

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ॥’

अभिप्राय यह है कि नाटक में ‘दृश्य’ और ‘सूच्य’ दो प्रकार के वस्तु-विचित्र होते हैं। दृश्य तो वह है जो रसमय सादृश्य होवे और वस्तु-विचित्र

हो और 'सूच्य' वह जो रसभावरहित हो किन्तु आवश्यक हो। अब नाटक में जो वस्तु 'सूच्य' हो उसकी सूचना के लिये जो उपाय हो उसे 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं, यह अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का है—विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक। विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् वृत्त अथवा अतोत और वर्तिष्यमाण अथवा भावी घटनाओं की संक्षिप्त सूचना देना। दोनों में अन्तर यह है कि विष्कम्भक में तो मध्यम श्रेणी के पात्र आते हैं और प्रवेशक में अवर श्रेणी के। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में जीवसिद्धि और क्षपणक का संवाद प्रवेशक है जिसके द्वारा अङ्क का अवतार किया गया है। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क के भी सिद्धार्थक और सुसिद्धार्थक का संवाद प्रवेशक है जिसके द्वारा चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क का संघान और पञ्चम अङ्क का अवतरण हुआ है।

(१८) भरतवाक्य—

संस्कृत नाटकों का आरम्भ नान्दी संगीत से और अन्त भरतवाक्य-संगीत से हुआ करता है। ऐसी प्राचीन परम्परा चली आ रही है। नान्दी को तो मुखसन्धि का अंग नहीं माना जाता किन्तु भरतवाक्य को निर्वहणसन्धि का वह अंग माना जाता है जिसे 'प्रशस्ति' कहते हैं। 'प्रशस्ति' की परिभाषा है:—

'प्रशस्तिः शुभशंसना' अर्थात् जगत् के कल्याण की आशंसा अथवा सद्भावना का प्रकाशन। नाटक का नायक अथवा अन्य कोई पात्र इस 'भरतवाक्य' का संगीत के साथ पाठ करता है।

मुद्राराक्षस में प्रयुक्त प्राकृतिक भाषा के सम्बन्ध में

(१) नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा से यह सिद्ध है कि संस्कृत के नाटकों में प्राकृतभाषा का प्रयोग अपेक्षित है और मुख्यतया दो प्रकार की प्राकृत अर्थात् महाराष्ट्री और शौरसेनी का व्यवहार हुआ करता है। महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग तो पद्मभाग में तथा शौरसेनी का प्रयोग गद्यभाग दिखाई देता।

(२) 'संस्कृत' और 'प्राकृत' शब्द किसी भी भाषा के दो स्वरूपों का परिचय देते हैं। किसी भाषा का संस्कृत स्वरूप तो वह है जो उसके साहित्य-कार प्रयोग में लाया करते हैं और प्राकृत वह है जो सर्वसाधारण के व्यवहार में है। प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में यह धारणा कि संस्कृत भाषा की विकृति ही प्राकृत है ठीक नहीं। वस्तुतः बात इससे उलटो है क्योंकि प्राकृत भाषा के कई रूप हमारी भाषा के इतिहास में दिखाई देते हैं। वेद-कालीन जनसमाज की भाषा, भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर की भाषा तथा समकालीन समाज की भाषा प्राकृत नहीं तो और क्या है। भारतीय भाषा के इतिहास में भारत की प्राकृत भाषा के इस प्रकार प्राचीन, माध्यमिक तथा नवीन ये तीन रूप भेद किये गये हैं जो सर्वथा युक्तिसंगत है।

(३) प्राकृत भाषा के अनुशासन की भी परम्परा प्राचीन है। प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण वररुषि का 'प्राकृत प्रकाश' है जिसका समय तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। 'प्राकृत प्रकाश' पर सर्वप्रथम टाका छठा शताब्दी में लिखी गई जिसके लेखक 'कात्यायन' कहे जाते हैं। इस पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में भी व्याख्या हुई जिसके रचयिता मामह माने जाते हैं।

(४) प्राकृत भाषा के व्याकरण वस्तुतः संस्कृत भाषा के व्याकरण के आधारपर ही लिखे गये हैं। इसलिये संस्कृत व्याकरण की प्रक्रिया ही प्राकृत व्याकरण में लागू की गई है।

(५) संस्कृत भाषा और प्राकृत भाषा के स्वरों में भेद :—प्राकृत भाषा के स्वर वे ही हैं जो संस्कृत भाषा के हैं। केवल ये स्वर प्राकृत भाषा में नहीं हैं—ऋ, ॠ, लृ, लृ, ऐ और औ।

(क) 'ऋ' स्वर 'रि' अ, इ अथवा उ में परिवर्तित हो जाया करता है जैसे कि ऋण-रिण, कीदृश-केरिस, तृण-तण, दृष्टि-दिठ्ठि, पृथिवी-पुहवी।

(ख) 'ऐ' बहुधा ए, अइ, इ अथवा ई के रूप में बदल जाता है जैसे कि, कलास-कलास, दत्त-दत्त, सन्ध-सन्ध, धै-धै।

(ग) 'ओ' के स्थान पर ओ, अउ और उ का व्यवहार दिखाई देता है जैसे कि कौमुदी कोमुई, पौर-पउर, सौन्दर्य-सुन्दर ।

(घ) कहीं-कहीं 'उ' 'ओ' हो जाता है जैसे कि पुस्तक—पोत्यओ और कहीं-कहीं 'ओ' के बदले 'उ' हो जाया करता है । जैसे सोणोत्तरे-सोणुत्तरे ।

(ङ) कहीं-कहीं 'इ' तथा 'ई' 'ए' के रूप में बदल जाते हैं जैसे कि सिन्दूर-सेन्दूर, नीड-णेड और कहीं 'ए' का परिवर्तन 'इ' में हो जाता है जैसे कि—एकैक-इकीक ।

(च) दीर्घस्वर, यदि उसके आगे संयुक्ताक्षर हो तो, ह्रस्व हो जाता है जैसे कि मार्गः-मर्गो ।

(छ) जब संयुक्ताक्षर एक व्यञ्जन के रूप में परिवर्तित होता है तो उसका पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे कि जिह्वा-जीहा ।

(ज) अनुस्वार के लुप्त होने पर पूर्वस्वर दीर्घ कर दिया जाता है जैसे—सिह-सीह ।

(६) प्राकृत के असंयुक्त व्यञ्जन और उनके रूप—

(क) क, ग, च, ज, त, द, प, य और व. इन व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाया करता है जैसे कि—

मुकुल—	मउलो	मद—	मओ
सागर—	साअरो	कपि—	कई
वचन—	वअणं	नयन—	णअणं
रजत—	रअदं		
कृत—	कअं	दिवस—	दिअहो

इसके अपवाद भी हैं जैसे कि 'क' का 'ह' हो जाना—स्फटिक-फलिहो, अथवा 'म' हो जाना—शीकर-सीमरो इत्यादि ।

(ख) ख, घ, ध तथा म के बदले 'ह' का व्यवहार होता है जैसे कि—

मुख—	मुहं	राधा—	राहा
मेघ—	मेहो	समा—	सदा

(ग) सर्वत्र 'न' का 'ण' हो जाया करता है जैसे कि—

नदी—	णई	वचन—	वअण
कनक—	कणक	मानुष—	माणुसो

(घ) सर्वत्र 'श' और 'ष' का 'स' के रूप में प्रयोग होता है जैसे कि—

शब्द—	सहो	कषाय—	कसाअं
षण्ड—	सण्डो		

(७) प्राकृत के संयुक्ताक्षर और उनके रूप—

(क) यदि क. ग. ड. त. द. प. ष अथवा स व्यञ्जन संयुक्ताक्षर रूप में प्रथम स्थान के हों तो उनका लोप हो जाता है जैसे कि—

भक्त—	भत्तं	उत्पल—	उत्पलं
मुग्ध—	मुद्धो	गोष्ठी—	गोठ्ठी

(ख) म. न और य इन व्यञ्जनों का संयुक्ताक्षर रूप में अन्तस्थान पर होने पर. लोप हो जाया करता है जैसे कि—

रश्मि—	रस्सी ।	सौम्य—	सोम्मो ।
--------	---------	--------	----------

(ग) ल. व. और र ये व्यञ्जन संयुक्ताक्षर के रूप चाहे आदि में या अन्त में हों लुप्त हो जाया करते हैं तथा अवशिष्ट व्यञ्जन का द्वित्व हो जाया करता है जैसे कि—

वल्कल—	वक्कलं	लुद्धक—	लुद्धओ
स्वयं—	सयं		

(घ) प्राकृत भाषा के संयुक्त व्यञ्जनों के सम्बन्ध में भाषाशास्त्र-संबन्धी ये नियम लागू होते हैं :—

१—Assimilation अथवा दो व्यञ्जनों का उच्चारण की सुविधा के लिये एकाकार कर दिया जाना जैसे कि 'धर्म' के प्राकृत रूप 'धम्म' में 'र' तथा 'म' को म के रूप में उच्चारण की सुविधा के लिये परिवर्तित कर दिया गया है ।

२—Disassimilation अथवा दो व्यञ्जनों को ध्वनिसमानता हटाने के लिये एक-दूसरे से ध्वनि वैधर्म्य कर देना जैसे कि 'पिपीलिका' शब्द में 'प' व्यञ्जन

के ध्वनिसाम्य को उच्चारण साधारण जन समाज के लिये कष्टसाध्य हुआ और 'पिपोलिका' के बदले 'किपीलिका' प्रचलित हो गया।

३—Analog अथवा सादृश्य के आधार पर शब्दों का निर्माण जैसे कि— 'सुवचः', इस संस्कृत शब्द के सादृश्य से प्राकृत में 'सुव्वचो' शब्द का निर्माण।

४—Compensation पूरण अर्थात् जब किसी शब्द में कोई व्यञ्जन लुप्त हो तब या तो स्वर को दीर्घ कर देना या किसी दूसरे व्यञ्जन का प्रयोग कर देना जैसे कि प्रतिकूल-पटिव्कूल।

५—Metathesis (वर्णपरिवृत्ति) कभी-कभी किसी शब्द के वर्णों के स्थान को बदल दिया जाना जैसे कि मशक-मकश।

६—स्वरभक्ति-कभी-कभी किसी शब्द के दो संयुक्त व्यञ्जनों को बीच में स्वर डालकर पृथक्-पृथक् कर देना जैसा कि भार्या-भरिआ, आर्य-अरिय इत्यादि।

७—प्राकृत भाषा के शब्द रूप की विशेषता :-

(क) प्राकृत में द्विवचन का अभाव है। द्विवचन के बदले बहुवचन का प्रयोग हुआ करता है—द्विवचनस्य बहुवचनम्।

(ख) प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति नहीं प्रयुक्त होती। चतुर्थी का अर्थ षष्ठी विभक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है—चतुर्थ्याः षष्ठी।

८—प्राकृत भाषा के धातुरूप की विशेषता :-

(क) प्राकृत में लट्, विधिलिङ्ग, लोट् और लृट् का ही प्रयोग होता है अन्य लकारों का प्रयोग अपवाद है नियम नहीं।

(ख) प्राकृत में परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद नहीं माना जाता।

(ग) प्राकृत में स्वादिगण की धातु का ही प्रयोग प्रचुर मात्रा में है अन्य गणों की धातुओं का नहीं।

श्लोकानामकराद्यनुक्रमणिका

श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो०
अक्षीणभक्तिः	२ २२	आस्वादित-	१ ८	किं शेषस्य	२ १८
†अतिशयगुरु-	६ ३	इष्टात्मजः	२ ८	किं गच्छामि	५ २४
अथाहिमुहे	४ १६	इह हि रचयन्	३ ६	किमौषध-	६ १६
अत्युच्छिन्ने	४ १३	उच्छिन्नाश्रय-	६ ५	कुले लज्जायां	५ ४
अदिसअगुरु-	६ ३	उत्तुङ्गस्तुङ्ग-	४ १६	कृतागाः कौटिल्यो	३ ११
अन्तःशरीर-	६ १३	उत्सिक्तः	३ १२	केनोत्तुङ्ग-	७ ६
अपामुदवृत्तानां	३ ८	बद्यच्छता	४ ६	कौटिल्यः-	१ ७
अप्राज्ञेन	१ १५	†उपरि घनं	१ २२	कौटिल्यवी-	२ २
अम्भौघीनां	३ २४	उपलशकल-	३ १५	कौमुदी कुमुदा	४ ६
†अर्हतां प्रणमामो	५ २	उलङ्घयन्	१ १०	कौलूतश्चित्र-	१ २०
अलिहन्ताणं	५ २	उवरि, घणं	१ २२	क्रूरग्रहः	१ ६
अश्वैःसाद्धमजस्त-	७ १५	†एकगुणभवति	४ २०	धताज्ञानां	६ १२
†अस्तामिमुखे	४ १६	एकगुणा होई	४ २०	गम्भीरगजित-	४ १७
अस्माभिरमु-	२ २०	एतानि तानि	५ १६	गुणवत्युपाय-	१ ५
आकरः सर्व-	७ ७	ऐश्वर्यादन-	१ १४	गुरुभिः कल्पना	७ ८
आकाशं काश-	३ २०	कन्या तस्य	२ १६	गृध्रैरावद्ध-	३ २८
आनन्दहेतु-	२ ६	कन्यां तीव्रविष-	५ २१	गौडीनां लोघ्र-	५ २३
आरुह्यारूढ-	३ २७	कमलाणं	१ १६	चन्द्रगुप्तस्य	५ १७
आर्याज्ञिर्यव	३ ३३	†कमलानां	१ १६	चाणक्यस्मि	१ २१
आलिङ्गन्तु	३ २	कर्णेनेव	२ १५	चाणक्यतः	३ ३१
साविर्भूतानु-	४ २२	कामं नन्दमिव	२ ९	†चाणक्येऽस्मिन्	१ २१
आशैलेन्द्रा-	३ १६	कार्योपक्षेप-	४ ३	चीयते बालि-	१ ३

श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो.
छगुणसंजोष-	६ ४	निस्त्रिंशोऽयं	६ १६	मर्तुस्तथा	३ ६
जप्रदि जलद-	६ १	नृपोऽपकृष्टः	४ १४	भवति पुरुषस्य	७ २
जइ लक्खिदुं	७ १	नेदं विस्मृत-	२ ५	मूषणाद्युप-	३ २३
जगतः	७ १३	पणमहं जमस्स	१ १७	भृत्यत्वे परि-	५ २०
जयति जलद-	६ १	पति त्यक्त्वा	६ ६	भृत्वा म म०	६
जाणन्ति तन्त-	२ १	परार्थानुष्ठाने	३ ४	भेतव्यं नृपतेः	३ १४
जानन्ति तन्त्र-	२ १	पाउण णिरवसेसं	२ ११	मदभृत्यः किल	३ १३
जोअणसअं	४ १	पादस्यावि-	१ २	मम विमृशतः	४ २
तिप्पन्तीए गुणेसुं	५ ६	पादाग्रे दृश-	५ १३	मित्रं ममायमिति	५ ७
तीक्ष्णादुद्विजते	३ ५	पितृन् पुत्राः	६ १७	मित्राणि शत्रुत्व-	५ ८
तृप्यन्त्यै गुणेपु	५ ६	पीत्वा निरव-	२ ११	मुक्तत्वा आमि-	७ ३
त्यजत्यप्रियवत्	१ २५	पुरिषस्स	१ १८	मुद्रा तस्य	५ १५
त्वय्युत्कृष्ट-	४ १५	पुरुषस्य	१ १८	मुहुर्लक्ष्योद्भेदा	५ ३
दुष्कालेऽपि	७ ५	पृथिव्यां किं	२ ७	मोहूण आमि-	७ ३
तूरे प्रत्यासत्तिः	४ ४	पीरैरङ्गलि-	६ १०	मीयस्तेजसि	२ २३
तूले पच्चासत्ती	४ ४	प्रकुर्वन्	६ १४	मौदोऽसौ	५ १६
दृष्ट्वा मीर्यमिव	२ २१	प्रत्यग्रोऽग्नेष-	३ २१	यत्रैषा मेघनीला	२ १४
धेवस्य येन	४ ११	प्रणमत यमस्य	१ १७	यदि रक्षितुं	७ १
धेवे गते	६ ७	प्रस्थातव्यं पुर-	६ ११	यदि सशकटो	६ २०
द्रव्यं जिगीषु-	७ १४	प्राकारान् परितः	२ १३	येन स्वामिकुलं	७ ४
धन्या केयं	१ १	प्रारभ्यते न	२ १७	ये माताः किमपि	१ २६
धूर्तरन्त्रीयमाना	३ १०	फलयोगमवाप्य	७ १०	योजनशतं	४ १
न तावन्निर्वीर्यैः	२ १०	बाल एव हि	७ १२	यो नन्दमीर्य-	३ १७
नन्दकुलकाल-	१ ६	बुद्धिजलणिज्झरे-	५ १	यो नष्टानपि	६ ८
नन्दस्नेहकणाः	७ १६	बुद्धिजलनिर्झरैः	५ ५	राक्षसेन समं	७ १७
नन्दैर्विमुक्त-	३ १८	मक्त्या नन्दकुला-	५ ५	राज्ञां चडा-	४ १२
नायं निस्त्रिंश-	६ २१	मयं तावत्	५ १२	रूपादीन्	३ १

आगत क्रमांक..... (५०)
दिनांक.....

श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो.	श्लोकाः	अं. श्लो.
लगे होई	४ २१	शासनमेहतां	४ १८	समुत्त्राता नन्दाः	१ १३
नलग्नं भवति	४ २१	धिखां मोक्तुं	३ २६	सह वाहन—	७ १८
लब्धायां पुरि	३ २६	शिवेरिव	६ १८	स हि भृशमभि—	३ २५
वक्षस्ताडन—	४ ५	शोचन्तो	१ १२	साव्ये निश्चित—	५ १०
वहति जलमियं	१ ४	श्यामीकृत्या—	१ ११	सासणमलि—	४ १८
वामां बाहुलतां	२ १२	श्रावितोऽस्मि	६ १५	सुलभेष्वर्य—	१ २४
वाराहीमात्म—	७ १६	श्रुतं सखे	५ ६	सुविश्रब्धैः	३ ३
विक्रान्तैर्नय—	१ २३	संरम्भस्पन्दि—	६	सोत्सेवैः	४ ७
विगुणीकृत—	७ ११	संरम्भस्पन्दि—	३ ३०	स्तुवन्त्यश्रान्ता—	३ १६
विपर्यस्तं सीधं	६ ११	सत्त्वमङ्गभया—	४ ८	स्मृतं स्यात्	५ १४
विरुद्धयो—	२ ३	सत्त्वोत्कर्षस्य	३ २२	स्वच्छन्दमेक	१ २७
विष्णुगुप्तं च	५ २२	स दोषः	३ ३२	स्वयमाहुत्य	१ १६
वृष्णीनामिव	२ ४	सद्यः क्रीडारस—	४ १०	स्वस्मिन् परि—	२ १६
शनैः शान्ताः	३ ७	सन्तापयन्तः	६ २	होदि पुलिसस्स	७ २
शाङ्गज्याकृष्टि—	६ ६	सन्तावेन्ता	६ २		

❀ गुरुभवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
वा. र. ग. सी. ।
आगत क्रमांक..... 1245
दिनांक..... 14/6



2

